भारतीय दर्शन के महामेरु

आचार्य समन्तभद्र

लेखक

डॉ0 नेमिचन्द्र जैन,

सेवानिवृत्त प्राचार्य, खुरई

सम्पादक

डॉ0 नरेन्द्रकुमार जैन

रीडर संस्कृत, गाजियाबाद

प्रकाशक

सर्वोदय फाउण्डेशन, खतौली (उ0प्र0)

एवं

स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, जयपुर (राजस्थान)

भारतीय दर्शन के महामेरु

आचार्य समन्तभद्र

मगध विश्वविद्यालय, बोधगया की पी–एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोधप्रबन्ध.

लेखक

डॉ० नेमिचन्द्र जैन, सेवानिवृत्त प्राचार्य,

गुरुकुल रोड, खुरई (म०प्र०) फोन : 07581–241201

सम्पादक

डॉ० नरेन्द्रकुमार जैन, रीडर संस्कृत

III-B-25, नेहरु नगर, गाजियाबाद (उ०प्र०) फोन : 0120–2797655

प्रथम संस्करण : वीर नि॰ सं॰ 2533, सन् 2007

ISBN : 81-902995-1-4

मूल्य : 200 रुपये

प्रकाशक

1. **सर्वोदय फाउण्डेशन**
   शिक्षक आवास 6, कुन्दकुन्द महाविद्यालय परिसर, खतौली 251201 (उ०प्र०)
2. **स्याद्वाद प्रसारिणी सभा**
   चैतन्य निलय, 3/359, न्यू विद्याधर नगर, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्ति स्थान

भारतीय विद्या प्रकाशन

1. 1 यू बी जवाहर नगर बैंग्लो रोड़, दिल्ली फोन : 23851570, 23850944
2. कचौड़ी गली, वाराणसी (उ०प्र०) फोन : 0542–2392376

मुद्रक

दीप प्रिंटर्स, 70ए. रामा रोड़

इण्डस्ट्रियल एरिया, न्यू दिल्ली - 110015

फोन 25925099

समर्पण

जन्म से दूसरे दिन ही
जिनकी गोद में दे दिया गया उन
ताऊ–ताई स्व0 सेठ भैयालाल जी एवं श्रीमती केशरबाई जी,
जिन्होंने जन्म दिया उन
पिता स्व0 सेठ लालचन्द्र जी, माता स्व0 सुखरानी बहु जी
जिन्होंने चलना, लिखना और पढ़ना सिखाया उन
चाचा स्व0 पं0 रविचन्द्र जी 'शशि' एवं
चाची श्रीमती प्रेमलता 'कौमुदी', दमोह
को
सादर समर्पित

प्रकाशकीय

आचार्य समन्तभद्र भारतीय दर्शन के ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अपनी प्रबल युक्तियों से दार्शनिकों को चमत्कृत किया है। युक्त्यनुशासन उनकी ऐसी ही कृति है। इसके अतिरिक्त 'आप्तमीमांसा' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' उनकी दार्शनिक कृतियां हैं। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' गृहस्थों का आचार विषयक ग्रन्थ है जो आज भी अपने विषय का मेरुदण्ड है।

आचार्य समन्तभद्र पर केन्द्रित "भारतीय दर्शन के महामेरु : आचार्य समन्तभद्र" पुस्तक पाठकों को समर्पित करते हुये हमें असीम आनन्द की अनुभूति हो रही है। सुविख्यात विद्वान् डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन ने वर्षों के गहन शोध और अध्ययन के बाद इसे तैयार किया है। मगध विश्वविद्यालय ने इस पर पी–एच॰ डी॰ की उपाधि प्रदान की है। प्रकाशन से पूर्व इसे संशोधित और संवर्धित किया गया है जिससे इसकी उपयोगिता, महत्ता और गुणवत्ता द्विगुणित हो गई है कलेवर भी अपेक्षाकृत बढ़ गया है।

स्याद्वाद प्रसारिणी सभा ने शोध प्रबन्धों और अन्य उपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना बनायी है तथा तीन शोध प्रबन्ध प्रकाशित भी किये हैं। सर्वोदय फाउण्डेशन का उद्देश्य भी प्रायः यही है। फाउण्डेशन द्वारा हाल ही में "स्वतंत्रता संग्राम में जैन" (प्रथम खण्ड) द्वितीय संस्करण का प्रकाशन किया गया है। दोनों संस्थाओं के उद्देश्य समान होने से प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन संयुक्त रूप से किया जा रहा है आशा है भविष्य में भी इस कार्य को आगे बढ़ाते रहेंगे।

ग्रन्थ प्रकाशन हेतु स्वेच्छा से आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले अधोलिखित पुण्यार्जकों के प्रति हम अत्यधिक आभारी हैं, जिनके अर्थ सहयोग के बिना ग्रन्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं था, आशा है भविष्य में इसी तरह की उदार भावना बनी रहेगी, जिससे जैन साहित्य का प्रकाशन होता रहेगा।

1. रु0 10000 श्री चौधरी कोमल चन्द्र प्रदीपकुमार जी, चरखा बीडी, खुरई
2. रु0 10000 श्री इन्जीनियर कान्तीश कुमार जी जैन, सागर

3. रु0 5000 स्व0 गुलाब चन्द्र जी कटक वाले, खुरई
4. रु0 5000 श्रीमान् सेठ देव चन्द्र जी जैन, विजय इण्डस्ट्रीज खुरई
5. रु0 5000 श्रीमती सरोज जैन धर्मपत्नि डॉ0 नेमिचन्द्र जैन खुरई
6. रु0 2100 श्री डॉ0 जयन्त जैन, खुरई
7. रु0 2100 श्री संजय जैन, खुरई
8. रु0 1001 श्री महेन्द्रकुमार जैन, गल्ला व्यापारी, खुरई

हम डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन के प्रति आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने पुस्तक प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है। श्री एम॰ एल॰ जैन ने निष्ठा पूर्वक इसका मुद्रण किया है जिसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ0 कपूरचन्द्र जैन
अध्यक्ष
सर्वोदय फाउण्डेशन

डॉ0 सनतकुमार जैन
अध्यक्ष
स्याद्वाद प्रसारिणी सभा

सम्पादकीय

भगवान महावीर के पश्चात् उनकी परम्परा में अविरल चली आ रही विचारधारा के पोषक आचार्यों द्वारा सृजित समस्त साहित्य उनकी आत्मानुभूति से उद्भूत था। आत्मकल्याण में रत उन आचार्यों का यह भी लक्ष्य रहा है कि विलुप्त हो रही आगमिक परम्परा के चिन्तन को कम से कम सूत्ररूप में निबद्ध कर दिया जाये, जिससे आत्मकल्याण के इच्छुक जीवों का मार्गदर्शन हो सके। यह कार्य जितना सम्भव हो सका, उतना दूसरी तीसरी शताब्दी तक के आचार्यों ने सम्पन्न किया। ईसा की दशवीं शताब्दी तक, आत्मसाधना के पथ से विचलित हुए विना एवं एषणाओं से रहित आचार्यों ने उन सूत्रशैली में लिखे गये ग्रन्थों पर वृत्ति, भाष्य, महाभाष्य आदि यह समझकर लिखे होंगे कि अनागत में उनके अर्थ को समझने में पाठकों को भ्रम न हो और न ही उनका अन्यथा अर्थ किया जा सके। इस काल में जो स्वतंत्र रचनाएं हुई, वे भी उन्हीं सूत्रशैली में निबद्ध ग्रन्थों को आधार बनाकर लिखी गयीं। भगवान महावीर के पश्चात् लगभग पन्द्रह सौ वर्षों का वह विशुद्ध लेखन काल माना जा सकता है।

ईसा की लगभग दशवीं शती से अट्ठारहवीं शती तक धार्मिक क्रान्तियों, साम्प्रदायिक वैमनस्य, विदेशी आक्रमण आदि के कारण जैन संस्कृति और साहित्य को संरक्षित करने का महत्त्वपूर्ण दायित्व आचार्यों पर था, चूंकि इस समय मुनि परम्परा प्रायः विलुप्त हो चली थी, इसलिए यह महत्त्वपूर्ण कार्य भट्टारकों ने किया। अपना अस्तित्व बनाये रखने और दूसरे सम्प्रदाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने की दृष्टि से उस अवधि में सृजित साहित्य पर जैनेतर साहित्य का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कुछ जैन साहित्य सर्जकों ने लौकिक एषणाओं के वशीभूत होकर प्रसिद्ध आचार्यों के ग्रन्थों की सामग्री में अपनी विचारधारा संयुक्त कर उस कृति के लेखक के रूप में अपना नाम जोड़ दिया। बाद में असली और नकली ग्रन्थों के पहचान की समस्या उत्पन्न हो गयी। वीसवीं शती के महान् गवेषक

विद्वान्, अनुवादक, इतिहास लेखक, समीक्षक एवं व्याख्याकार पं॰ जुगलकिशोर मुख्तार जी जैसे विद्वानों ने ग्रन्थों की परीक्षा करके मूल आम्नाय सम्मत ग्रन्थों का सूचीकरण करने का महान् कार्य किया। साथ ही और अनेक विद्वानों द्वारा अथक परिश्रम पूर्वक मूल एवं व्याख्या ग्रन्थों के अनुवाद, सम्पादन, मूलसामग्री के आधार पर स्वतंत्र लेखन, समीक्षण आदि के दीर्घकालव्यापी प्रयत्न किये गये। धीरे धीरे ऐसे विद्वानों का अभाव होता चला गया। बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध से विद्वानों के ऐसे युग का प्रारम्भ हो गया जो प्रायः समाज के आश्रित न होकर विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, आदि में उच्च पदों पर आसीन थे। उन्होंने श्रुताराधना, यश, पुरस्कार और धन के लिए साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रवेश किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि सृजित साहित्य की मात्रा बढ़ती गयी और उसकी गुणवत्ता घटती गयी। अधिकांश पुरस्कार मुनियों के आशीर्वाद से प्रायोजित होने के कारण ऐसे विद्वानों की ऊर्जा की धारा व्यक्तिपरक अभिशंसा प्रशंसा की ओर मुड़ जाने के कारण उनके कृतित्व में प्रायः पाण्डित्य का अभाव हो गया और वे पूर्व पण्डित परम्परा के चिन्तन और उन जैसे सृजन की परम्परा कों आगे बढ़ाने में असमर्थ हो गये। जैन विद्या पर हुए अनेक शोधकार्य, शोध के उच्च मानदण्डों के अनुरूप न होने के कारण वे अपने सम्प्रदाय के बाहर साहित्य जगत के क्षेत्र में प्रतिष्ठित नहीं हो सके।

जैनवाड्.मय की विशालता, महत्ता एवं उसकी त्रैकालिक उपयोगिता को ध्यान में रखकर आज आवश्यकता इस बात की है कि अतीत से बोध लेकर विद्वानों द्वारा जैन साहित्य का ऐसा सृजन किया जाना चाहिए जो विश्वपटल पर अपनी पहचान बना सके। साथ में यह भी आवश्यक है कि जो साम्प्रदायिक शक्तियां दिगम्बर जैन मूल आम्नाय के आचार्यों को ऐतिहासिक दृष्टि से परवर्ती सिद्धकर उसकी प्राचीनता को चोटिल कर रहे हैं, उसका सप्रमाण समाधान दिया जाना चाहिए। दिगम्बर, श्वेताम्बर, बीस पंथ, तेरह पंथ, निश्चयवाद, व्यवहारवाद आदि अन्तर्साम्प्रदायिक संघर्ष के मूलविन्दुओं पर सभी विद्वानों को एक साथ मिलकर सर्वमान्य सहमति बनाना, सम्प्रति अपने अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा के लिए नितान्त

आवश्यक है अन्यथा हमारी संस्कृति का ऐतिहासिक स्वर्णिम स्वरूप बदरंग होकर विखण्डित हो जायेगा।

उपर्युक्त विन्दुओं को ध्यान में रखकर अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लेखक द्वारा लिखी गयी प्रस्तुत कृति 'भारतीय दर्शन के महामेरु आचार्य समन्तभद्र' एक सराहनीय प्रयास है। इस कृति में अब तक समन्तभद्र पर हुए शोधकार्यों का पुनरीक्षण कर लेखक द्वारा अपने निष्कर्ष निकाले गये हैं। समन्तभद्र की कृतियों के जिन पक्षों पर न के बराबर कार्य हुआ है, उन विषयों को विशेष रूप से शोध का विषय बनाया गया है। जैसे द्वितीय अध्याय में समन्तभद्र के स्तोत्र साहित्य का समस्त काव्यमूल्यों की दृष्टि से किया गया अनुशीलन लेखक की साहित्य के क्षेत्र में गहरी अभिरुचि का परिचायक है। वस्तुतः जहां एक ओर समन्तभद्र के स्तोत्र ग्रन्थों में भक्ति के साथ साथ तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत जैन सिद्धान्तों का मौलिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जो प्रज्ञोन्मेष एवं आन्तरिक विशुद्धि के लिए अत्यन्त उपादेय है, वहीं दूसरी ओर उनका स्तोत्र साहित्य भाषा तथा काव्यमूल्यों की दृष्टि से बेजोड़ है। स्वयम्भूस्तोत्रम् में समन्तभद्र ने अनेक स्थलों पर उपमानों, शब्द परिच्छित्तियों एवं संकेतों द्वारा पौराणिक आख्यानों को उपस्थित कर प्रबन्धात्मकता के समावेश के साथ अलंकार, रस एवं छन्दों आदि की योजना की है, जो स्तोत्रकार की अटूट काव्य प्रतिभा का द्योतक है। रत्नकरण्डम् परिशीलन के अन्तर्गत ग्रन्थ के बहिरंग और अन्तरंग परिचय के बाद अणुव्रत, शीलव्रत, मूलगुण और प्रतिमाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से तुलनात्मक समीक्षण, विभिन्न कालों में हुए आचार विषयक परिवर्तनों के रहस्य को खोलता है। अन्तिम दो अध्यायों में आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन के परिचयात्मक विवेचन पूर्वक उनका अन्य भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में मूल्यांकन किया गया है, जिससे लेखक की दार्शनिक विषयों के प्रति विशेष अभिरुचि परिलक्षित होती है।

इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन, सेवानिवृत्त प्राचार्य, संस्कृत साहित्य और जैनदर्शन के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् हैं। इन्होंने अपना

शोधकार्य, स्व॰ डॉ॰ नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य, आरा के निर्देशन में प्रारम्भ किया था, अप्रत्याशित उनके निधन हो जाने पर उनके कार्य की पूर्णता प्राकृत और अपभ्रंश के विश्रुत मनीषी विद्वान् डॉ॰ राजाराम जैन, आरा, वर्तमान में नोयडा, के निर्देशन में हुई। इस तरह दो महान् मनीषियों की प्रतिभा की छाप एवं आशीष जिस लेखक विद्वान् के साथ हो, उनके द्वारा लिखित प्रस्तुत ग्रन्थ समाज के लिए अवश्य उपयोगी होगा।

गाजियाबाद,
महावीर जयन्ती, 2007

– डॉ॰ नरेन्द्रकुमार जैन

पुरोवाक्

आचार्य समन्तभद्र के नाम के स्मरण मात्र से ही ऐसा अनुभव होने लगता है, मानों उनकी सर्वोदयी वैचारिक दृष्टि समग्र सृष्टि को अपनी भद्रता में वेष्टित करने का प्रयत्न कर रही हो। उरगपुर वर्तमान त्रिचरापल्ली (तमिलनाडु) के क्षत्रिय राजकुमार होकर भी उन्होंने सर्व प्राणी हिताय वही मार्ग चुना, जो उनसे लगभग सात आठ सौ वर्ष पूर्व वैशाली के क्षत्रिय राजकुमार वर्द्धमान भगवान महावीर ने चुना था।

आचार्य समन्तभद्र का व्यक्तित्व जहां आदर्श, त्याग एवं तप का मूर्त रूप था, वहीं उनका कृतित्व बहु आयामी था। एक ओर जहां उनके दार्शनिक चिन्तन ने अनेक मौलिक अवदान दिये और अपने दार्शनिक चिन्तन लेखन के माध्यम से जैन न्यायदर्शन के वैशिष्ट्य को विश्लेषित कर जैनन्याय के परवर्ती लेखकाचार्यों को विविध प्रेरक सूत्र प्रदान किये, वहीं दूसरी ओर श्रावकाचार पर उन्होंने सर्वप्रथम स्वतंत्र ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचार लिखा, जो अपने ढंग की आचार मूलक अनौखी कृति है। 'देहली दीपक न्याय' से जहां वह समन्तभद्र के पूर्व कालीन श्रावकाचार पर खोज करने को प्रेरित करती है, वहीं वह उसकी भविष्यत कालीन जीवन शैली के निर्धारण के लिए आवश्यक निर्देश भी देती है।

प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्र की दिव्य दृष्टि को भविष्यत कालीन विषमताओं का आभास मिल गया था, जिससे उन्होंने देश, काल एवं भावगत परिस्थितियों पर गहन चिन्तन किया और पंचाणुव्रतों के जिन जिन अतिचारों का सामाजिक सन्दर्भों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया, उनकी आधुनिक भारतीय दण्ड संहिता (Indian panel code) के लगभग प्रत्येक अध्याय एवं प्रायः समस्त धाराओं से आश्चर्यजनक संगति बैठती है। यह तो सर्व विदित ही है कि स्वतन्त्र भारत के संविधान की सर्वसम्मत मूलप्रति पर राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी ने तबतक अपने हस्ताक्षर नहीं किये थे जब तक कि अहिंसा के अवतार भगवान महावीर का उसके मुख्यपृष्ठ पर रेखाचित्र, उनका संक्षिप्त परिचय एवं उनके संक्षिप्त उपदेश

उन पर संयुक्त नहीं कर दिये गये। अमूल्य विरासत के रूप में वह प्रति सदा सदा के लिए प्रशासन द्वारा सुरक्षित कर दी गयी है। चूंकि डॉ0 राजेन्द्र बाबू भगवान महावीर की अहिंसा के महान् पुजारी थे, अतः बहुत सम्भव है कि भारतीय दण्ड संहिता के निर्माण के पूर्व आचार्य समन्तभद्र के पंचाणुव्रतों एवं उनके पांच पांच अतिचारों का भी अध्ययन किया गया हो, अन्यथा उन दोनों में आश्चर्यजनक समानता दृष्टिगोचर कैसे होती। वस्तुतः यह तुलनात्मक अध्ययन एवं स्वतन्त्र शोध का विषय है।

यदि लौकिक दृष्टि से देखें तो आचार्य समन्तभद्र स्वयंबुद्ध समाजशास्त्री भी थे। उन्होंने अपने सर्वोदय सिद्धान्त में ऐसे ऐसे सूत्र गर्भित कर दिये थे, जिनका परवर्ती कालों में विविध सामाजिक सन्दर्भों में विश्लेषण किया गया और जो विशुद्ध भारतीय समाजवाद, साम्यवाद एवं अन्त्योदय जैसे सिद्धान्तों के रूप में उभरकर आये, जिनसे प्रभावित होकर आचार्य विनोबा भावे, लोकनायक नारायण जय प्रकाश आदि ने भूमि विहीनों, साधन हीनों, समाज के उपेक्षित वर्गों, दलितों, पतितों एवं पीड़ितों के उद्धार तथा सामाजिक समरसता की भावना उत्पन्न करने में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। इस दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र के भारतीय समाज पर जो अनन्त उपकार हैं, उन्हें कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा।

वर्तमान युग में हर व्यक्ति मानसिक तनाव से ग्रस्त है। हत्या, छल कपट, चोरी डकैती, अपहरण, बलात्कार, रिश्वतखोरी, जमाखोरी, मिलावट आदि अपराध कर्मों के बढ़ जाने के कारण शान्त और सरल प्रकृति वालों का जीवन कठिन हो गया है। पुलिस एवं सेना की संख्यातीत वृद्धि तथा संहारक विविध आग्नेयास्त्रों के उत्पादन की होड़ में बड़े बड़े सक्षम एवं समृद्ध राष्ट्र, राष्ट्र सम्पदा का बहुभाग व्यय कर डालते हैं और सामान्य जनता को दरिद्रता के कगार पर खड़ा करते आ रहे हैं। यही नहीं, साधन विहीन राष्ट्रों को अपना दास बनाकर अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु उनका अन्याय पूर्ण लाभ भी उठा रहे हैं। इन सभी प्रकृतियों के मूल में उनकी लोभी और परिग्रही मनोवृत्ति ही है। तात्पर्य यह है कि उक्त समस्त विषम समस्यायों का समाधान सर्वोदयी मार्ग निर्देशक पंचाणुव्रत अथवा श्रावकाचार के विधिपूर्वक पालन से सहज ही हो सकता है। यदि उसका निरतिचार पालन

मानव जीवन शैली का अनिवार्य अंग बन जाये, तब कोर्ट कचहरियों एवं पुलिस थानों में ताले पड़ जायेंगे। सेना एवं पुलिस की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मविश्वास, आत्मगौरव, स्वाभिमान, राष्ट्राभिमान, करुणा, स्नेह, समन्वय तथा सभी के प्रति कल्याणकारी कामना को जागृत करने के लिए श्रावकाचार निःसन्देह ही सर्वश्रेष्ठ कुंजी सिद्ध होगी।

उक्त श्रावकाचार पालन एवं भारतीय दण्ड संहिता, दण्ड विधियों में अन्तर यही है कि श्रावकाचार की दण्ड व्यवस्था तो स्वतः गुरु के आदेशोपदेश पूर्वक प्रायश्चित् एवं भावनात्मक आत्मशुद्धिकरण से सम्बन्धित है, जबकि भरतीय दण्ड संहिता की विविध धाराओं के अनुसार आर्थिक दण्ड अथवा शारीरिक दण्ड है, जिसमें पुलिस द्वारा मारपीट एवं कारागार की सजा भी आती है। इस भा.द.संहिता में भावना अथवा आत्मबुद्धि के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसकी पंचाणुव्रतों के पांच पांच अतिचारों के साथ तुलना अधोलिखित मानचित्र में द्रष्टव्य है।

अध्याय संख्या	भारतीय दण्ड संहिता में अपराध विवरण	धारा संख्या	पंचाणुव्रतों अथवा उनके अतिचारों के नाम
1.	प्रारम्भिक भूमिका	01	श्रावकाचार पूर्वक रहना तथा निर्दोष निरतिचार पंचाणुव्रत पूर्वक जीवनयापन करना।
2.	अपराधों की साधारण व्याख्यायें	06–52	हिंसादि पांच पापों एवं अहिंसाणु व्रतादि पांच व्रतों के लक्षण, सभी व्रतों के अतिचारों के नाम एवं उनकी व्याख्यायें।
3.	दण्डशिक्षा के विषय में	053–75	प्रमत्तयोग से श्रावकाचार के दोषों (अतिचारों) की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्।
4.	साधारण अपवाद	076–106	प्रमत्तयोग न होने से अतिचार का बन्ध न होना।
5.	प्रेरणा अथवा सहायता (व त्रिकरण) के विषय में	0107–120	पांच अणुव्रत एवं अतिचार।
6.	राज्यविरुद्ध अपराधो के के विषय में –	0121–130	विरुद्धराज्यातिकमातिचार–त्याग।
7.	सेना सम्बन्धी अपराधो के विषय में –	0131–140	विरुद्धराज्यातिक्रमातिचार–त्याग।

अध्याय संख्या	भारतीय दण्ड संहिता में अपराध विवरण	धारा संख्या	पंचाणुव्रतों अथवा उनके अतिचारों के नाम
8.	सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं शान्ति के विरुद्ध अपराध कर्मों के विषय में –	0141–160	अहिंसाणुव्रत एवं उसके पांच अतिचार।
9.	राज्य सेवकों अथवा उनसे सम्बन्धित अपराधों के विषय में –	0161–171	सत्याणुव्रत एवं अचौर्याणुव्रत के अतिचार।
10.	राज्य सेवकों के विधिपूर्वक प्राधिकार की अवमानना के विषय में –	0172–190	विरुद्धराज्यातिक्रमातिचार–त्याग।
11.	झूठी गवाही और सार्वजनिक न्याय के विरुद्ध अपराध	0191–229	सत्याणुव्रत, मिथ्योपदेश, विरुद्ध–राज्यातिक्रम के समस्त अतिचारों का त्याग।
12.	राजकीय सिक्कों तथा सरकारी स्टाम्प्स् सम्बन्धी अपराधों के विषय में –	0230–263	प्रतिरूप्यकव्यवहार एवं विरुद्धरा–ज्यातिक्रम अतिचार त्याग।
13.	मापतौल सम्बन्धी अपराध	0264–267	हीनाधिकमानोन्मानातिचार त्याग।
14.	सार्वजनिक स्वास्थ्य सुरक्षा सुविधा, सदाचार तथा शिष्टाचार के विरुद्ध अपराधों विषय में –	0268–294	अहिंसाणुव्रत एवं सत्याणुव्रत के समस्त अतिचारों का त्याग।
15.	धर्म सम्बन्धी अपराध–	0295–298	अहिंसाणुव्रत एवं सत्याणुव्रत के समस्त अतिचारों का त्याग।
16.	मानव शरीर के विरुद्ध अपराध –	0299–377	अहिंसाणुव्रत एवं सत्याणुव्रत के समस्त अतिचारों का त्याग।
17.	सम्पत्ति सम्बन्धी अपराध–	0378–462	अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत के अतिचारों का त्याग।
18.	दस्तावेजों तथा व्यापार अथवा सम्पत्ति चिह्नों से सम्बन्धित अपराधों के विषय में –	0463–489	सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, परिग्रह–परिमाणाणुव्रत के सभी अतिचारों विशेष रूप से कूटलेखक्रिया और प्रतिरूप्यकव्यवहार का त्याग।
19.	सेवा संविदाओं (शर्तनामों) के विरुद्ध आपराधिक मामलों के विषय में –	0490–492	सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत के अति–चारों का त्याग।

अध्याय संख्या	भारतीय दण्ड संहिता में अपराध विवरण	धारा संख्या	पंचाणुव्रतों अथवा उनके अतिचारों के नाम
20	विवाह से सम्बन्धित अपराध	0493–498	ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों का त्याग।
21.	मानहानि	0499–502	सत्याणुव्रत के अतिचार।
22.	आपराधिक अभित्रास (धमकी) अपमान तथा क्लेश देने के अपराधों के विषय में –	0503–510	अहिंसाणुव्रत तथा सत्याणुव्रत के अतिचारों का त्याग।
23.	सामान्य अपराध करने के विषय में –	0511	पांचों अणुव्रतों के अतिचारों का त्याग।

अतः प्रत्येक विवकेशील श्रावक अथवा सद् गृहस्थ को विचार करना चाहिए कि जिस श्रावकाचार के सिद्धान्त इतने आदर्शपूर्ण, सार्वजनीन, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हों, उनको कण्ठस्थ कर लेने मात्र से कोई लाभ नहीं, उनकी सार्थकता तो इसमें है कि उन्हें जीवन में अक्षरशः उतारकर समाज एवं राष्ट्र के नवनिर्माण मे सकिय सहयोग किया जावे। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक डॉ0 नेमिचन्द्र जैन की मैं सराहना करता हूँ कि जिन्होंने आचार्य समन्तभद्र की कृतियों का बहुआयामी विस्तृत मूल्यांकन किया है। आचार्य समन्तभद्र के विभिन्न पक्षों पर यद्यपि पृथक् पृथक् रूप से कुछ शोधार्थियों द्वारा कार्य किये गये हैं, परन्तु मुझे जहां तक जानकारी है, उनकी समग्र कृतियों का एक साथ तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हो सका है, उस कमी की पूर्ति डॉ0 नेमिचन्द्र ने की है। उन्होंने मूलग्रन्थों के अध्ययन के साथ साथ तद् विषयक उपलब्ध अधिकांश शोध सामग्री का दीर्घकाल तक अध्ययन मनन एवं चिन्तन किया है और ससन्दर्भ लेखन कार्य कर अपने ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने का प्रयत्न भी किया है। उनकी यह लेखन कृति आगामी पीढ़ी के लिए विविध प्रेरक सूत्र प्रदान करेगी, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

स्थान : नोयडा – डॉ॰ राजाराम जैन

दिनांक : 01 मार्च 2007

प्राक्कथन

समन्तभद्र जैन दार्शनिक इतिहास के प्रथम आचार्य हैं। उनके ग्रन्थ तीर्थंकर महावीर की परम्परा के चिन्तन को तर्क शैली में प्रमाणशास्त्रीय पद्धति पर प्रतिष्ठापित करने के मूलाधार हैं। समन्तभद्र के पश्चात् सम्पूर्ण जैनदर्शन का चिन्तन और लेखन उनसे प्रभावित रहा है। यही कारण है कि अकलंक, विद्यानन्द और वसुनन्दि जैसे तार्किकों ने समन्तभद्र के ग्रन्थों पर विशाल भाष्य ग्रन्थों की रचना की। समन्तभद्र के पूर्व भी यद्यपि जैन वाङ्. मय में प्रमाणशास्त्र के बीज उपलब्ध होते हैं, पर परम्परा से प्राप्त दार्शनिक सिद्धान्तों की सर्वप्रथम समन्तभद्र ने ही प्रमाणशास्त्रीय तार्किक पद्धति पर विश्लेषित करें प्रवृत्ति योग्य व्यवहार जगत में प्रतिष्ठित किया।

अनेक शिलालेखों, ग्रन्थों, पट्टावलियों आदि साक्ष्यों में प्रयुक्त विभिन्न विशेषणों एवं उनकी रचनाओं से उनके विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है। निःसन्देह तार्किकचूडामणि, ज्ञानदिवाकर, न्याय एवं दर्शन के विश्रुत आचार्य, प्रख्यात वाग्मी–वादी, बहुश्रुत के धनी कविचेता तथा सरस्वती की स्वच्छन्द भूमि में विचरण करने वाले वे अनेक विशेषताओं से सम्पन्न थे। आप्तमीमांसा जैसी कृति के आधार पर समन्तभद्र को यदि यह कहा जाये कि वे विश्वदार्शनिक कवि थे तो भी अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि उसमें विना किसी सम्प्रदाय के नामोल्लेख के तर्क की कसौटी पर कसे हुए, जो सभी का हितैषी और सर्वज्ञ हो, जिसकी वाणी युक्तिशास्त्र से अविरुद्ध हो उसको स्वीकारने की बात कही गयी है। सर्वप्रथम सर्वोदयतीर्थ की उद्घोषणा करने वाले महान् मानवतावादी दार्शनिक कवि आचार्य समन्तभद्र की कृतियों के एक एक वाक्य में गागर में सागर भरा हुआ है।

भारतीय दर्शन एवं जैनप्रमाणशास्त्र के इतिहास में आचार्य समन्तभद्र के महनीय योगदान को स्वीकार करके उन्नीसवीं और वीसवीं शताब्दी के सभी समालोचकों ने उनकी कृतियों और उनके भाष्य ग्रन्थों के आधार पर समन्तभद्र के विचारों को समझने और उनके समय निर्धारण के प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके समय के सम्बन्ध में यत्किंचित् वैमत्य पाया

जाता है। समन्तभद्र के समालोचक विद्वानों में सर्वाधिक गवेषणात्मक विचार और कार्य स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार के हैं, जिन्होनें उनके ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद के साथ समय आदि के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी दी है। प्रो. ए. एन. उपाध्ये डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. दरबारीलाल कोठिया आदि विद्वानों ने भी अनेक शोध निबन्ध लिखकर उनके विषय में अपने निष्कर्ष दिये हैं। दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रस्तुत समन्तभद्र विषयक अपने शोधग्रन्थ में डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन ने समन्तभद्र के समय और कृतियों पर उपलब्ध साक्ष्यों का पुनरीक्षण कर अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। उक्त सभी सामग्री में समन्तभद्र के व्यक्तित्व एवं समय आदि पर विस्तृत विचार किया गया है, पर उनकी कृतियों का साहित्यिक काव्य मूल्यों की दृष्टि से मूल्यांकन एवं दार्शिनिक मन्तव्यों का पृथक् पृथक् समीक्षण अपर्याप्त प्रतीत हुआ। अतः इस बिन्दु को ध्यान में रखकर आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व को शोध का विषय बनाया गया है। इस शोध प्रबन्ध में आचार्य समन्तभद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व को समालोचनात्मक दृष्टि से विवेचित करने वाले पॉच अध्याय हैं, जो अब 'भारतीय दर्शन के महामेरु आचार्य समन्तभद्र' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

'समन्तभद्र का व्यक्तित्व एवं समय निर्धारण' नामक प्रथम अध्याय है। इसमें दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद समन्तभद्र के व्यक्तित्व से सम्बन्धित है। इसमें विभिन्न शिलालेखों, ग्रन्थान्तरों, पट्टावलियों, पाण्डुलिपियों एवं कथाओं के उल्लेखों का पुनरीक्षण करके उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। अब तक समन्तभद्र के समय निर्धारण के सम्बन्ध में जो भी प्रयत्न हुए हैं, उन सभी मतों का पुनरीक्षण और पर्यालोचन करके 'समन्तभद्र का समय और उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय' नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में सर्वाधिक प्रमाणिक मत स्व. मुख्तार साहब और स्व. डॉ. उपाध्ये के मतों का समर्थन किया गया है। साथ में समन्तभद्र की कृतियों आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्रम्, स्तुतिविद्या और रत्नकरण्डश्रावकाचार इन उपलब्ध कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में समन्तभद्र के स्तोत्र साहित्य का अनुशीलन किया गया है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में स्तोत्र साहित्य के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की गयी है। जिसमें जैन स्तोत्र काव्य रचना की परम्परा, ऐतिहासिक कम से स्तोत्र ग्रन्थों का विवरण, स्तोत्र स्वरूप, भाषा, प्रयोजन, फल एवं महत्व आदि पर विचार किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में समन्तभद्र के स्तोत्रों– स्वयम्भूस्तोत्रम् और स्तुतिविद्या का काव्यमूल्यों की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इसमें प्रस्तुत काव्यों की प्रबन्धात्मकता दिखलाने के पश्चात् अलंकार, छन्द, रस, गुण, रीति आदि की योजना पर प्रकाश डाला गया है। यह इसलिए आवश्यक था कि संस्कृत साहित्य के मनीषियों ने समन्तभद्र की कृतियों के विना अध्ययन के ही काव्य रचना के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रमपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार अपने परिमाण और समन्तभद्र कृत होने के सम्बन्ध में विवादग्रस्त रहा है। इसलिए 'रत्नकरण्डश्रावकाचार परिशीलन' नामक तृतीय अध्याय में उपर्युक्त सभी विन्दुओं पर विचार किया गया है। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार का परिचय एवं विषयवस्तु' नामक इसके प्रथम परिच्छेद में रत्नकरण्डकम् परिमाण, कर्तृता और उसकी विषयवस्तु के सम्बन्ध में विचार किया है। द्वितीय परिच्छेद में अणुव्रतों और शीलव्रतों की समीक्षा की गयी है तथा इनका ऐतिहासिक दृष्टि से स्थान निर्धारित किया गया है। मूलगुणों और प्रतिमाओं का समीक्षण इसी अध्याय के तृतीय परिच्छेद में किया गया है।

आप्तमीमांसा का अनुशीलन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। इसके प्रथम परिच्छेद में आप्तमीमांसा की विषयवस्तु का विश्लेषण है। यह इसलिए आवश्यक था कि समन्तभद्र की कृतियों के भाष्यकारों–टीकाकारों के विचारों को, कुछ समीक्षक विद्वानों ने समन्तभद्र के विचार मानकर ऐतिहासिक सन्दर्भ में मिथ्या निष्कर्ष निकालकर दिग्भ्रमित किया है। समन्तभद्र के मूल विचार और टीकाकारों के विचार स्वतंत्र रूप से परिलक्षित हों, एतदर्थ हमने आप्तमीमांसा की विषयवस्तु का विश्लेषण ग्रन्थ की कारिकाओं के अनुकम में ही किया है। इस अध्याय के 'आप्तमीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्त' शीर्षक द्वितीय परिच्छेद के अन्तर्गत सर्वज्ञ, अनेकान्त

स्याद्वाद, प्रमाण, नय आदि आप्तमीमांसा में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों को ऐतिहासिक सन्दर्भ में आंकने की कोशिश की गयी है। इसमें बताया गया है कि समन्तभद्र ने किस तरह अपने पूर्वाचार्यों से प्राप्त चिन्तन को तर्क की कसौटी पर कसकर प्रमाणशास्त्रीय रूप प्रदान किया। इस विश्लेषण से पता चलता है कि समन्तभद्र ने अपने चिन्तन से दोहरे दायित्व का निर्वाह बडी कुशलता से किया है, क्योंकि उनके सामने जहां एक ओर पूर्वाचार्यों की परम्परा थी, जिसका उन्हें संरक्षण करना था, वहीं दूसरी ओर प्रमाणशास्त्र के रूप में विकसित हो रहीं अन्य दार्शनिक परम्पराएं भी थीं, जिनके साथ उनका सामंजस्य दिखाना था। तृतीय परिच्छेद 'आप्तमीमांसा एवं अन्य भारतीय दर्शन' के अन्तर्गत आप्तमीमांसा में प्रतिपादित विभिन्न एकान्तवादों का वैदिक और अवैदिक दर्शनों के सम्दर्भ में पर्यालोचन किया गया है।

युक्त्यनुशासन अनुशीलन नामक पंचम अध्याय में दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में युक्त्यनुशासन का अन्तरंग एवं बहिरंग परिचय देकर दार्शनिक विषयवस्तु जिन, जिन शासन, जिन शासन का महत्व अनेकान्त, स्याद्वाद प्रमाण आदि का विवेचन किया गया है। युक्त्यनुशासन एवं अन्य भारतीय दर्शन नामक इस अध्याय के द्वितीय परिच्छेद में विभिन्न एकान्तवादी मान्यताओं का षड्भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में मूल्यांकन किया गया है।

उपसंहार शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रमाण मीमांसा , तत्वमीमांसा, आचारमीमांसा तथा साहित्यिक काव्यविधा के क्षेत्र में किये गये उनके महनीय अवदान का संक्षेप में उल्लेख करते हुए शोधप्रबन्ध का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। अन्त में शोधप्रबन्ध को तैयार करने में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उन ग्रन्थों की सन्दर्भसूची दी गयी है।

भारतीय दर्शनों में ऐतिहासिक दृष्टि से जैन न्याय और दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कराने वाले अदम्य तार्किक समन्तभद्र जैसे महान् आचार्य के व्यक्तित्व और कृतित्व का मूल्यांकन करना एक जटिल कार्य है। जिनके ग्रन्थों पर शताब्दियों पूर्व अष्टशती , अष्टसहस्री, गन्धहस्तिमहाभाष्य जैसे अर्थगाम्भीर्य से युक्त दार्शनिक विश्लेषणात्मक ग्रन्थों की रचना की गयी हो, उन पर मेरे जैसे अल्पबुद्धि का कार्य यद्यपि हास्यास्यपद होगा, फिर भी मेरे इस अध्ययन से प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों के काव्यशास्त्रीय

मूल्यांकन और जैन प्रमाणशास्त्र के अध्ययन की शृंखला में एक नयी कड़ी जुड़ेगी, ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को तैयार करने में प्रारम्भ से अन्त तक जिनका भी सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। मेरा यह सौभाग्य रहा है कि मुझे इस विषय पर कार्य करने का सुझाव प्राकृत और जैनविद्या के विश्रुत विद्वान् स्व. नेमिचन्द शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, ह0 दा0 जैन कालेज, आरा ने दिया था तथा स्वयं मुझे अपने निर्देशन में लेकर इस कार्य का प्रारम्भ करवाया था, जिनका मैं हृदय से आभारी हूँ। इस बीच अप्रत्याशित शास्त्री जी के निधन हो जाने के कारण मेरे मन को अत्यधिक आघात पहुँचा और मेरे मन में शोधप्रबन्ध पूर्ण करने के प्रति विरक्ति का भाव आ गया। कुछ अन्तराल के पश्चात् संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाविद्, श्रेष्ठ गवेषक एवं लेखक श्रद्धेय डॉ. राजाराम जी जैन, संस्कृत और प्राकृत विभागाध्यक्ष ह0 दा0 जैन कालेज , आरा ने मेरे मन में शोधकार्य करने की एक ज्योति जगायी और कहा कि स्व. शास्त्री जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि तभी होगी जब मैं अपना शोधकार्य पूर्ण कर लूं। उक्त प्रेरणा देने के साथ उन्होंने स्वयं अपने निर्देशन में मुझे स्थानान्तरित करवा लिया तथा मन, वचन, काय से मेरा पूर्ण सहयोग किया। सेवानिवृत्त होने के बाद जब डॉ0 साहब आरा से नोयडा आ गये तब मैंने उनसे अपने शोधप्रबन्ध को प्रकाशित कराने की अनुमति चाही, उन्होंने न केवल मेरे इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया, अपितु उन्होंने इसके पुरोवाक् लिखने के मेरे अनुरोध को भी सहर्ष स्वीकार कर मुझ पर उन्होंने असीम कृपा कर दी। एतदर्थ मैं डॉक्टर साहब के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता ज्ञापित करता हुआ उनका आभार मानता हूं। इस कार्य को पूर्ण करने के लिए डॉ. दरबारी लाल कोठिया, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, जैन बौद्ध दर्शन विभाग, धर्म विज्ञान संकाय, का0 हि0 वि0 वि0 वाराणसी एवं डॉ. गोकुल चन्द्र जैन विभागाध्यक्ष प्राकृत विभाग, श्रमण विद्या संकाय सं0 सं0 वि0 वि वाराणसी की भी प्रेरणाएं रहीं हैं, उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ।

जैनदर्शन के विद्वान् डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, संस्कृत विभागाध्यक्ष, उत्तर प्रदेश राजकीय महाविद्यालयीय उच्च शिक्षा, सम्प्रति गाजियाबाद का मैं

विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने अपने व्यस्त क्षणों में समय देकर मेरे शोधप्रबन्ध को परीक्षणार्थ प्रस्तुत करने योग्य बनाने में सहयोग प्रदान किया तथा सम्पादकीय लिखने के मेरे अनुरोध को स्वीकार कर उन्होंने मुझे अत्यन्त उपकृत किया है। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती लता सिंघई का भी ऋणी हूँ जिनके सहयोग के कारण मैं दीर्घावधि तक वाराणसी और गाजियाबाद में रहकर अपना शोधकार्य कर सका हूँ। श्री कुन्दकुन्द जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय खतौली, उ0 प्र0 के संस्कृत विभागाध्यक्ष विद्वान् मनीषी डॉ0 कपूरचन्द्र जैन ने अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव देकर प्रकाशकीय लिखने का कष्ट किया जिसके प्रति मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं। धर्मपत्नी श्रीमती सरोज एवं अपने पुत्र पुत्रियों के त्याग और कर्तव्यनिष्ठा की सराहना करता हूँ, जिन्होंने मुझे गृहस्थ जीवन की चिन्ताओं से मुक्त रखकर, इस कार्य हेतु सदैव प्रेरित और यथासम्भव सहयोग करते रहे। मेसर्स दीप प्रिण्टर्स, नई दिल्ली के प्रबुद्ध संचालक श्री मनोहर लाल जैन एवं श्री रवि जैन को अत्यन्त साधुवाद देता हूं, जिन्होंने पुस्तक को सुन्दर बनाने में पूर्ण प्रयत्न किया।

वस्तुतः शोधप्रबन्ध विश्वविद्यालय को परीक्षणार्थ सन् 1989 में प्रस्तुत किया गया था। अद्यावधि इसकी विषयवस्तु, भाषा आदि में कोई भी परिवर्तन नहीं किया गया है, जिससे शोधप्रबन्ध में यत्रतत्र पाठकों को तत्समय की मेरी अपरिपक्व बौद्धिक स्थिति का भान हो सकता है, आशा है प्रज्ञापुरुष मुझे उन त्रुटियों से अवश्य अवगत करायेंगे जिससे मैं इसके द्वितीय संस्करण में त्रुटियों को परिमार्जित कर सकूं। अन्त में उन सभी लेखकों का आभार मानता हूँ जिनकी पुस्तकों का उपयोग शोधप्रबन्ध को तैयार करने के लिए किया गया है। इस कार्य में पूर्णतः यह प्रयत्न किया गया है कि कोई त्रुटियां न रह जायें, फिर भी अल्पबुद्धि मुझसे त्रुटियां रह जाना सम्भव है, जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूँ।

खुरई, सागर (म॰प्र॰)
दिनांक– 31. 3. 2007

– डॉ. नेमिचन्द्र जैन

विषय सूची

प्रथम अध्याय

आचार्य समन्तभद्र : व्यक्तित्व और समय निर्धारण

परिच्छेद प्रथम

समन्तभद्र का व्यक्तित्व

प्रास्ताविक

भारतीय दर्शन के क्षितिज पर आचार्य समन्तभद्र का जन्म यथार्थ में असाधारण एवं अभूतपूर्व माना जाता है। तार्किक चूड़ामणि, ज्ञानदिवाकर , न्याय एवं दर्शन के विश्रुत आचार्य , प्रख्यात वाग्मी व वादी, बहुश्रुत के धनी, कविवेत्ता तथा सरस्वती की स्वच्छन्द विहार भूमि में विचरण करने वाले वे अनेक विशेषताओं से सम्पन्न थे। उनके सम्बन्ध में विभिन्न दिगम्बर आचार्यों ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, वास्तव में वे अत्यन्त अर्थपूर्ण तथा सटीक हैं। दर्शन और न्याय के क्षेत्र में आचार्य समन्तभद्र एकाकी नहीं हैं, अपितु उनकी पूर्ववर्ती सुदीर्घ श्रमण चिन्तन परम्परा है। जैनधर्म दर्शन का समग्र चिन्तन तीर्थंकरों से प्राप्त है, उनका चिन्तन गौतम गणधरादि केवलियों एवं श्रुतकेवलियों से भद्रबाहु, गुणधर, धरसेन, कुन्दकुन्द, उमास्वामी आदि आचार्यों से होता हुआ अद्यावधि जीवन्त है। दार्शनिक परम्परा के प्रारम्भिक काल में निर्ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द,, उमास्वामी और समन्तभद्र प्रमुख थे। आचार्य कुन्दकुन्द यदि अध्यात्म के सुमेरु थे तो आचार्य उमास्वामी हिमधवल शिखर, इन आचार्य द्वय से प्रमेय रूप में उपलब्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाणशास्त्रीय तार्किक पद्धति पर विश्लेषित कर प्रवृत्ति योग्य व्यवहार जगत् में प्रतिष्ठित किया था।

समन्तभद्र विषयक जितने भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, उनसे उनके विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है, पर उनके व्यक्तिगत जीवन, जन्म, जन्मस्थान, माता पिता, पूर्वनाम, साधु दीक्षा का समय, दीक्षा गुरु, दीक्षोच्छेद, पुनर्दीक्षा ग्रन्थ रचना आदि की प्रामाणिक एवं स्पष्ट कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं होती फिर भी उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर विद्वानों ने उनके व्यक्तित्व पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

जीवन परिचय

समन्तभद्र के जीवन का परिचय प्राप्त करने के लिए उनकी कृतियां, शिलालेख, कथाएं परवर्ती आचार्यों आदि के उल्लेख ही सहायक हो सकते हैं। यद्यपि समन्तभद्र ने परम्परा के अनुसार अपनी किसी भी रचना में स्वयं के नाम का उल्लेख नहीं किया है। इसलिए यह कहना बहुत कठिन है कि उनका बचपन का नाम क्या था, उनके गुरू कौन थे और उनका जन्म किस कुल में हुआ था, शिलालेखों में भी उनके नाम के साथ विभिन्न विशेषणों का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उनके जीवन के सम्बन्ध में प्राप्त किंवदन्तियों एवं कथानकों के आधार पर यह सम्भावना की जा सकती है कि वे एक स्वाभिमानी आचार्य थे। वे अपने जीवन में सत्य के सिवाय किसी के सामने नहीं झुके। अपनी शुद्धात्मा और परमात्मा पर उनको इतना दृढ़ विश्वास था कि संकट काल में भी विभिन्न परीक्षाओं की घडियों में वे अपनी मान्यता एवं मर्यादा से किंचित् भी विचलित नहीं हुए। उन्हें अपने ज्ञान और चारित्र पर दृढ़ आस्था थी। वे सच्चे सम्यक् दृष्टि, निःशंक, निर्भय एवं निर्वांछक सत्पुरुष थे।

नामोल्लेख

आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थों के कर्ता के रूप में समन्तभद्र, स्वामी समन्तभद्र, समन्तभद्र यति, आचार्य समन्तभद्र, समन्तभद्राचार्य, समन्तभद्रदेव, सामन्तभद्र, वनवासी आदि के रूप में विभिन्न नामों का उल्लेख पाया जाता है। प्रायः इन्हीं नामों से विभिन्न शिलालेखों और परवर्ती आचार्यों के द्वारा उन्हें अभिहित किया गया है। प्रतीत होता है कि यही नाम उनके वाल्यावस्था का भी रहा होगा। यद्यपि इसकी पुष्टि किसी अन्य सन्दर्भ से नहीं होती, वल्कि पुष्पिकावाक्यों, कथाओं और स्तुतिविद्या के सन्दर्भों से उनका वाल्यावस्था का नाम दूसरा भी सिद्ध किया जाता है। नामोल्लेख से सम्बन्धित इस विवेचन को तीन रूपों में वर्गीकृत कर विचार किया जा सकता है।

1. स्वप्रणीत कृतियों में नामोल्लेख
2. परवर्ती आचार्यों, कवियों एवं टीकाकारों द्वारा किये गये उल्लेख
3. शिलालेखों एवं पट्टावलियों के उल्लेख

स्वग्रन्थ नामोल्लेख

समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियों में युक्त्यनुशासनम्[1] एवं स्वयम्भूस्तोत्रम्[2] में 'समन्तभद्र' शब्द का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु यह लेखक के रूप में समन्तभद्र को अपना नाम देना अभीष्ट रहा हो , ऐसा प्रतीत नहीं होता। प्राचीन भारतीय वाङ्मय के प्रणेताओं ने प्रायः अपने ग्रन्थों में अपना परिचय तथा अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि उपर्युक्त कृतियों में जहां समन्तभद्र का उल्लेख पाया जाता है उससे लेखक का नाम सिद्ध होता है। परन्तु हमारी समझ में वहां लेखक को अपना नाम देना अभीष्ट न होकर अर्थ वैशिष्ट्य के लिए ही समन्तभद्र शब्द का प्रयोग किया गया है। फिर भी यदि समन्तभद्र द्वारा सन्दर्भित पद्यों में अपने नाम का उल्लेख किया गया है तो निश्चित रूप से यह एक महान् ऐतिहासिक उपलब्धि है।

टीकाकारों द्वारा किये गये नामोल्लेख

अष्टशती— सातवीं शती के आचार्य अकलंक ने आप्तमीमांसा पर अष्टशती नामक संस्कृत वृत्ति के प्रारम्भ में समन्तभद्र का महत्व प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि' इस महान् कलिकाल में भव्य जीवों के आन्तरिक मल को दूर करने के लिए सम्पूर्ण तत्वों को विषय करने वाले स्याद्वाद रूपी पुण्योदधितीर्थ के प्रभाव को आचार्य समन्तभद्र ने सर्वत्र फैलाया है।[3], वे समस्त जीवों को सूर्य के समान अन्तःप्रकाश देने वाले और स्याद्वाद मार्ग के परिचालक थे।

अष्टसहस्री— नवीं शती के भाष्यकार आचार्य विद्यानन्द ने समन्तभद्र कृत आप्तमीमांसा अपर नाम देवागमस्तोत्र पर लिखी अष्टसहस्री नामक संस्कृत टीका में समन्तभद्र की वर्द्धमान, उद्भूतबोधमहिमान, अनिन्द्यवाक् आदि

विशेषणों से स्तुति की है।[4] अष्टसहस्री के सभी परिच्छेदों के अन्त में समन्तभद्र की स्तुति उनके सिद्धान्तों और वाणी के महत्व के सूचक पद्यों के द्वारा की गयी है। उनमें बताया गया है कि समन्तभद्र की वाणी बड़े बड़े बुद्धिमानों द्वारा प्रपूज्य, उज्ज्वल गुणों के समूह से उत्पन्न, सत्कीर्तिरूपी सम्पत्ति से युक्त, अपने तेज से सूर्य की किरणों को जीतने वाली, सप्तभंगी विधि के द्वारा प्रदीप्त निर्मल प्रकाश से युक्त, भाव अभाव आदि के एकान्तपक्ष रूपी हृदय के अन्धकार को दूर करने वाली, अलंघ्यवीर्य, स्यात्कार रूपी अमोघमन्त्रका प्रणयन करने वाली, शुद्धसद्ध्यानघीरा, उद्भूतमुद्रा, एकान्त रूपी गरल विष के उद्रेक को दलने वाली एवं सतत् अनेकान्त रूपी अमृत रस के सिंचन से प्रवृद्ध तथा प्रमाण और नयों के अधीन प्रवृत्ति वाली है।[5] अष्टसहस्री के अन्त में समन्तभद्र को यतियों के नायक, स्याद्वाद मार्ग के अग्रणी, विभु और भानुमान विशेषणों से युक्त बताते हुए परीक्षावानों के लिए सम्पूर्ण कुनीति वृत्तिरूपी नदियों को सुखा देने वाला और उनके वचनों को निर्दोष नीति से संयुक्त होने के कारण सुन्दर और तत्त्वार्थ समूह का द्योतक बताया हैं।[6]

युक्त्यनुशासनालंकार– युक्त्यनुशासनालंकार, युक्त्यनुशासन की टीका में विद्यानन्द ने समन्तभद्र को समस्त तत्त्वों की समीक्षा करने वाला परीक्षेक्षण पद से सम्बोधित किया है।[7]

देवागमवृत्ति– वारहवीं शती के आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने देवागमवृत्ति के मंगलाचरण में आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में लिखा है कि कुज्ञान रूपी आतप के निवारण हेतु धारण किये गये देदीप्यमान छत्र की तरह लक्ष्मीभूत, परम, निरुक्तिनिरत, निर्वाणसौख्यप्रद, सम्यक् ज्ञान, नय और युक्तिवादी मुक्ताफलों से अत्यन्त शोभायमान, कालदोष को नष्ट करने वाले समन्तभद्र के मत की वन्दना करता हूं। वृत्ति के अन्त में समन्तभद्र की उपमा सिंह से देते हुए उन्हें प्रमाण और नय रूपी तीक्ष्ण नखों एवं दंष्ट्राओं द्वारा कुनय रूपी मद से विह्वल प्रवादी रूपी हाथी के गण्डस्थल विदारित करने वाले तथा परमार्थ की सुस्पष्ट व्याख्या करने वाले परमात्मा के रूप में उनका स्मरण किया है।[8]

स्वयम्भूस्तोत्र की टीका

पण्डित प्रभाचन्द्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र की लघुकाय टीका में समन्तभद्र का नाम आदर के साथ लिया गया है।[9]

रत्नकरण्डकश्रावकाचार टीका

प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्डकम् पर भी संस्कृत टीका लिखी है, जिसके प्रारम्भ में उन्होंने श्लेष से समन्तभद्र का स्मरण किया है।[10] ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि जिन्होंने भव्य जीवों के चित्त में प्रविष्ट सम्पूर्ण अज्ञान रूपी अन्धकार को सम्यग्ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से नष्ट करके सम्पूर्ण सागार मार्ग को प्रकट किया है। संसार रूपी सरिता को सुखा देने वाले 'रत्नकरण्डकम्' रूपी स्वच्छ सूर्य समन्तभद्र मुनि प्रभाचन्द्र जिनेन्द्र जयवन्त हैं।[11]

जिनशतकालंकार

नरसिंहभट्ट ने जिनशतकम् अपर नाम स्तुतिविद्या की संस्कृत टीका में कहा है कि तीनों लोक जिनकी यशरूपी कान्ति से निर्मल हुये हैं, वर गुणालय और सद्बोधरूप समन्तभद्र की स्तुति करता हूँ।[12]टीकाकार ने जिनशतकम् की विशेषतायें बताते हुए समन्तभद्र को समस्त गुणगणोपेत, सर्वालंकारभूषित घनकठिनघातिकर्मेन्धनदहन समर्थ और तार्किक चूणामणि आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।[13]

पाण्डुलिपियों के पुष्पिकावाक्य

मूडविद्री[14], कोल्हापुर[15], बाहुबली[16], पूना[17], दिल्ली[18] आदि में उपलब्ध आप्तमीमांसा की कन्नड़ लिपि में लिखित ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों में समन्तभ्द्र के परिचय विषयक निम्नलिखत पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं –

'इति फणिमण्डलालंकारस्योरगपुरस्याधिपसूनोः श्रीसमन्तभद्रदेवस्य मुनेः कृतावाप्तमीमांसायाम्' ।

इस पुष्पिकावाक्य में समन्तभद्र को फणिमण्डल के अलंकारभूत उरगपुर के अधिपति का पुत्र कहा गया है। स्व0 जुगलकिशोर मुख्तार ने उक्त

पुष्पिकावाक्य को उस प्राचीन ताड़पत्रों पर लिखी हुई आप्तमीमांसा की प्रति का बताया है जो श्रवणवेलगोल के दौर्बलि जिनदास शास्त्री के भण्डार में है।[19] मुख्तार साहब के उत्तरवर्ती सभी विद्वानों ने यही आधार मानकर समन्तभद्र के जन्म , पितृकुल आदि के सम्बन्ध में लिखा है। उक्त प्रति के अलावा दक्षिण भारत एवं उत्तर भारत के सभी शास्त्रभण्डारों में उपलब्ध कन्नड भाषा की पाण्डुलिपियों में उक्त पुष्पिकावाक्य पाया जाता है। अष्टशती के किसी भी भाष्य में उक्त पुष्पिकावाक्य नहीं है। युक्त्यनुशासनम् के अन्त में प्राप्त पुष्पिकावाक्य में ग्रन्थ को समन्तभद्र स्वामिकृत बताकर उसे परमेष्ठिस्तोत्र कहा गया है।[20] युक्त्यनुशासनालंकार की पाण्डुलिपियों के पुष्पिकावाक्यों से कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं होते। स्वयम्भूस्तोत्रम् की अधिकांश पाण्डुलिपियां कन्नड या संस्कृत टीका सहित प्राप्त होती हैं। संस्कृत टीका की पाण्डुलिपियों के अन्त में निम्नलिखित पुष्पिका वाक्य पाया जाता है – **इति श्रीपण्डितप्रभाचन्दविरचितायां कियाकलापटीकायां समन्तभद्रकृत वृहत्स्वयम्भूस्तोत्रस्य टीका**[21] इससे ज्ञात होता है कि पण्डित प्रभाचन्द ने कियाकलाप टीका लिखी थी, जिसके अन्तर्गत समन्तभद्रकृत स्वयम्भूस्तोत्रम् की टीका भी सम्मिलत थी । कियाकलाप टीका की जो पाण्डुलिपियां प्राप्त होती हैं उनमें भी स्वयम्भूस्तोत्र सम्मिलित किया हुआ प्राप्त होता है।[22]

जिनशतकम्

जिनशतकम् की मूल प्रति के अन्त में निम्न लिखित पुष्पिकावाक्य पाया जाता है[23] – **श्रीसमन्तभद्राचार्यस्य कविगमकवादिवाग्मिगुणालंकृतस्य कृतिरियं जिनशतकनामा** – इसमें समन्तभद्र को कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व आदि गुणों से अलंकृत बताया है।

जिनशतकालंकार

जिनशतक की टीका जिनशतकालंकार की पाण्डुलिपियों में कुछ शब्दों के हेरफेर से निम्न पुष्पिकावाक्य पाया जाता है[24] – **श्रीसमन्तमद्राचार्यस्य कविगमकवादिवाग्मित्वगुणालंकृतस्य कृतिरयं जिनशतकनामा तस्य कृतिरियं श्रीनरसिंहभट्टमहाकवि भव्योत्तम विरचिता समाप्ता।**

रत्नकरण्डकम्

रत्नकरण्डकम् की प्रायः सभी प्रतियों में निम्नलिखित पुष्पिकावाक्य पाया जाता है[25] – **इति समन्तभद्रस्वामी विरचिते रत्नकरण्डकनामोपासकाचार ग्रन्थे ।**

उपर्युक्त सन्दर्भों से यह सिद्ध होता है कि एकाध सन्दर्भों को छोड़कर सर्वत्र उनका नाम स्वामी समन्तभद्र, समन्तभद्र, अथवा स्वामी के रूप में उपलब्ध होता है। आप्तमीमांसा की संस्कृत एवं कन्नड प्रतियों के पुष्पिकावाक्यों में समन्तभद्र को उरगपुर के अधिपति का पुत्र बताया गया है। इस सन्दर्भ से उनके जन्मस्थान और कुल की सूचना प्राप्त होती है। दीक्षा गुरू आदि की सूचना उपल्ब्ध नहीं होती।

शिलालेखीय साक्ष्य

दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोल, हुम्मच और बेल्लूर में चार चार तथा अन्य तीन स्थानों के इक्कीस इस तरह उपलब्ध तेतीस शिलालेखों में समन्तभद्र के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है।

श्रवणबेलगोल के शिलालेख

शक संवत् 1085 में उत्कीर्ण शिलालेख में संख्या 40/64 में गौतम, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त, पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, उमास्वामि, गृद्धपिच्छ और उनके शिष्य बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र का उल्लेख है।[26] इसमें समन्तभद्र को स्याद्वाद मुद्रांकित तत्त्वदीप , गुणितोगणीश और वादीभसिंह कहा गया है। शक संवत् 1050 में उत्कीर्ण मल्लिषेण प्रशस्ति में गौतम, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त और कुन्दकुन्द के पश्चात् समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है।[27] शक सं० 1320 के शिलालेख में इन्द्रभूति, अग्निभूति आदि अनेक नामों के पश्चात् कुन्दकुन्द उमास्वामी, गृद्धपिच्छ बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र को वादीभवज्रांकुश, सूक्तिजाल, आदि विशेषणों से सम्बोधित करते हुए उनको वादीरूपी हस्तियों को वश में करने के लिए वज्रांकुश का काम देने वाला कहा है तथा उनके लिए स्फुटरत्नदीप की उपमा दी गयी है। समन्तभद्र के बाद संसार सागर को तरने के लिए पोतरूपी तत्त्वार्थसूत्र को अलंकृत

करने वाले उनके शिष्य शिवकोटि का नामोल्लेख है।[28] शक सं0 1320 के ही एक अन्य शिलालेख में वर्द्धमान, गौतम, भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त, कुन्दकुन्द, उमास्वाति और बलाकपिच्छ के बाद समन्तभद्र का नाम उत्कीर्ण है। इस शिलालेख में समन्तभद्र को भद्रमूर्ति, जिनशासन प्रणेता तथा वचनरूपी वज्र के कठोरपात से प्रतिवादि रूपी पर्वतों को चूर करने वाला कहा हैं।[29]

हुम्मच के शिलालेख

हुम्मच के शक सं0 999 में उत्कीर्ण कन्नड भाषा के शिलालेखों से भी कई ऐतिहासिक तथ्यों का पता चलता है। इसमें लिखा है कि समन्तभद्र भद्रबाहु के वंशक्रम में हुए तथा कलिकाल गणधर शास्त्रकार कहलाये।[30] उनकी शिष्य परम्परा में क्रम से शिवकोटि, वरदत्ताचार्य, आर्यदेव , गंगराज के संस्थापक सिंहनन्दि और बाद में एकसंधि सुमतिभट्टारक हुए। यहां के शिलालेखों से यह भी समर्थन होता है कि सिंहनन्दि समन्तभद्र के बाद हुए, जो शक सं0 999 तथा 1069 के उत्कीर्ण हैं।[31] 1530 ई0 में उत्कीर्ण यहां के एक शिलालेख में समन्तभद्र के देवागम नामक स्तोत्र पर अकलंक का भाष्य और विद्यानन्द के आप्तमीमांसालंकार महाभाष्य का उल्लेख हैं।[32]

वेल्लूर के शिलालेख

शक सं0 1059 में उत्कीर्ण वेल्लूर के शिलालेख में विक्रमगंग विष्णुवर्द्धनदेव की गुरू परम्परा दी हुयी है। जिसमें वर्द्धमान स्वामी के बाद केवलियों और श्रुतकेवलियों के पश्चात् जिनशासन के प्रभाव को सहस्र गुणा बढ़ाने वाले समन्तभद्रस्वामि का नाम दिया हुआ है। तत्पश्चात् द्रमिल संघके अग्रणी पात्रकेशरी का नाम उल्लिखित है।[33] अनुमानित सन् 1680 के लगभग उत्कीर्ण यहीं के एक शिलालेख में समन्तभद्र मुनि को नमस्कार किया गया है।[34] सन् 1680 के ही एक अन्य शिलालेख में क्रमशः वीरसेन को स्वामि समन्तभद्र का शिष्य तथा लक्ष्मीसेन भट्टारक को उनका प्रशिष्य बतलाया गया है। एक जगह यह भी उल्लेख है कि लक्ष्मीसेन समन्तभद्र के शिष्य थे।[35]

दक्षिण भारत के अन्य शिलालेख

शक सं0 996 में उत्कीर्ण **बन्दलिके** के शिलालेख में सर्वप्रथम समन्तभद्र का उल्लेख कर बाद में पूज्यपाद और उनके बाद अकलंक आदि आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है।[36] शक सं0 1047 के **चल्लग्राम वथिर देव** मन्दिर के एक शिलालेख में आकुलतिलक अंगगुरूकुल के श्रीमद् द्रमिणगण के नन्दिसंघ की अरूगुल अन्वय की अचार्यावलि में महावीर, गौतम आदि और श्रुतकेवलियों के बाद समन्तभद्र का नाम दिया गया है।[37] उस शिलालेख में उन्हें समस्तविद्या की निधि बतलाया गया है। **बलगाम्बे** के 1077 ई0 के उत्कीर्ण शिलालेख में समन्तभद्र की कविता के गुणों की उत्कृष्टता बताई गयी है।[38] शक सं0 1082 में उत्कीर्ण **कबली** के एक शिलालेख में समन्तभद्र का नाम भूतवलि पुष्पदन्त भट्टारक के बाद उल्लिखित है।[39] शक सं0 1070 में उत्कीर्ण **बिन्दूर** के शिलालेख में समन्तभद्र को द्रमिल संघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के अरूगल अन्वय का बताया गया है।[40]

शक सं0 1105 में वसवनपुर में उत्कीर्ण शिलालेख से अवगत होता है कि द्रमिल संघगत नन्दिसंघ के अरूगल अन्वय में समन्तभद्र हुए थे और वे मुनीश्वर कहलाते थे तथा उन्होंने वाराणसीश्वर के सामने विपक्षियों को विजित किया था। इससे सम्बन्धित शिलालेख दृष्टव्य है[41] –

श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः।
अन्वयो भांति निःशेषशास्त्रवाराशिपारगैः ।।
समन्तभद्रस्संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विशः ।।

चामराजनगर के सन् 1117 में उत्कीर्ण शिलालेख में समन्तभद्र को द्रविडान्वय का आचार्य बताया गया है। शक सं0 1120 के **सुकदरे** के शिलालेख में समन्तभद्र को द्राविड संघ का बताया गया है।[42] शक सं0 1127 में **कलहोली** में कन्नड लिपि में उत्कीर्ण शिलालेख में समन्तभद्र का उल्लेख सम्मानपूर्वक किया गया है।[43] 1128 ई. में उत्कीर्ण हुए **साबनूर** के

शिलालेख में समन्तभद्र को द्रविण संघ के नन्दिसंघ के अरुंगलान्वय में होना बताया है।[44] वर्ष कोधन संवत्सर 1154 ई. में **यल्लादहल्लि** में उत्कीर्ण ' **गळदिव्यतीर्थदोळ्ं केवलिगळ्ं बुद्धिप्राप्तरुं अप्प परममुनिगळ् सिद्धसाध्यरुमगि तत्तीर्थ सामार्थ्यमं सहसंगुणं माडि समन्तभद्रस्वामिगळ् वकलंकदेवरूम्** ।[45]' इस शिलालेख में समन्तभद्र का नाम केवलियों और श्रुतकेवलियों की परम्परा में लिया गया है। **बुद्रि** 1139 एवं **बोगादि** 1145 ई. के शिलालेखों में समन्तभद्र को पापों का नाश करने वाला तथा महान् वादी बताया गया है। सन् 1229 कलकेरी के शिलालेख में समन्तभद्र को नागेयसेट्टि और मादब्बे के पुत्र मादेध्य का गुरू बताया है।[46]

शक सं 1521 **नागपुर** के शिलालेख में समन्तभद्र को श्रीमूल संघ के सेनगण[47] के बृषभसेन गणधर के अन्वय में होना बताया गया है। सन् 1584 के **येडेहल्लि** में उत्कीर्ण तीन शिलालेखों में वीरसेन के गुरू गुणभद्र तथा उनके प्रगुरू के रूप में समन्तभद्रदेव का उल्लेख है।[48] **करन्दे – उत्तर अर्काट मद्रास** – के 16 वीं शती के शिलालेख में पुष्पसेन योगीन्द्र के गुरू समन्तभद्र की अक्षयकीर्ति का वर्णन है।[49]

मूडविदरे के एक शिलालेख में यह उल्लेख किया गया है कि समन्तभद्रदेव ने बेहकेरी तथा मादलंगडिकेरी में दीपावलि त्योहार पर पत्थर लाठी से लड़ने की प्रथा बन्द करायी।[50]

उपर्युक्त शिलालेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह जानकारी प्राप्त होती है कि समन्तभद्र एक विशाल व्यक्तित्व के धनी थे। प्रयुक्त विशेषणों से उनके अगाध पाण्डित्य, वाद करने की अजेय शक्ति , स्याद्वाद के प्रभावक आचार्य आदि की जानकारी प्राप्त होती है। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद श्रुतकेवलियों की परम्परा के बाद प्रमुख आचार्यों एवं साधक लेखकों की परम्परा में समन्तभद्र एक अत्यन्त आदर के पात्र एवं सार्वलौकिक प्रतिष्ठा के धनी थे। पूज्यपाद का कई शिलालेखों में समन्तभद्र के बाद उल्लेख होने के कारण इस बात की पुष्टि हो जाती है कि पूज्यपाद समन्तभद्र के बाद हुए।

पट्टावलि साक्ष्य

सेनगण की पट्टावलि में आचार्यों की कमबद्ध परम्परा न होने पर भी समन्तभद्र को सेनगण का आचार्य बताया गया है।[51] तपागच्छ श्वेताम्बर पट्टावलि में श्रीबज्रसेन और श्रीचन्द्रसेन के बाद उनके पट्ट में श्रीसामन्तभद्र सूरि – वनवासी– का उल्लेख किया गया है[52] इस पट्टावलि की स्वोपज्ञवृत्ति में धर्मसागर जी ने लिखा है कि चन्द्रसूरि के पट्ट में सोलहवें सामन्तभद्र सूरि हुए हैं, जो पूर्वगत श्रुत विशारद वैराग्यनिधि से पूर्ण होने के कारण देवकुल, वन आदि में रहने के कारण वनवासी कहे जाते थे, जिससे उनका चतुर्थ नाम वनवासी हुआ[53] इस पट्टावलि की गुजराती व्याख्या में श्री कल्याण विजय जी ने लिखा है कि ये ही सामन्तभद्र सूरि हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा , युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थ रचे थे। उन्होंने आप्तमीमांसा ग्रन्थ अपने शिष्य वृद्धदेव सूरि की ज्ञान प्राप्ति के लिए रचा था।[54] इस पट्टावलि में सोलहवें सामन्तभद सूरि के पहले हुए पन्द्रहवें श्रीचन्द्र सूरि के स्वर्गगमन का समय वीर नि0 सं0 543 दिया है। इसलिए सामन्तभद्र सूरि के पट्टाचार्य रूप के प्रारम्भ का समय वीर नि0 सं0 643 अर्थात् विकम सं0 173 निश्चित है। सामन्तभद्र सूरि के पश्चात् हुए सत्रहवें श्रीबुद्धदेव सूरि द्वारा वीर नि0 सं0 695 में कोरंटक नामक नगर में नाहण मंत्री द्वारा बनबाये गये प्रासाद में प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है।[55]

सेनगण की पट्टावलि बहुत बाद की होने से उसमें जिन समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है, सम्भवतया वे समन्तभद्र कोई अन्य हैं।

कल्याण विजय जी ने बाद में अपने विचारों में परिवर्तन किया है।[56]

ग्रन्थान्तर साक्ष्य

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी कृतियों पर भाष्य, टीका, टिप्पण आदि ग्रन्थ लिखे हैं। अपनी कृतियों में प्रमाणिकता लाने के लिए समन्तभद्र के ग्रन्थों के दिए तथा आदरपूर्वक उनके कृतित्व का उल्लेख कर उनके प्रति सम्मान प्रकट किया है। विभिन्न

आचार्यों द्वारा किये गये उल्लेखों आदि से एक ओर समन्तभद्र के असाधरण व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है वहीं दूसरी ओर उनके जीवन से सम्बन्धित कई घटनाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। समन्तभद्र के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में विचार करते समय उस सामग्री पर दृष्टिपात कर लेना यहां आवश्यक है।

जैनन्द्र व्याकरण के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि (5वीं शताब्दी) ने **'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'** सूत्र के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया है।[57] इस पर वृत्ति लिखने वाले अभयनन्दि ने' **अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः** ' एवं **आकुमारेभ्यो यशः समन्तभद्रस्य** सूत्रों में समन्तभद्र के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उन्होंने **'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य'** सूत्र की वृत्ति में लिखा है कि 'झयो ह इत्यादि चतुष्टयं समन्तभद्राचार्यस्य मतेन भवति नान्येषां मते'।[58]

नवीं शताब्दी के आचार्य जिनसेन ने **महापुराण – आदिपुराण** – में समन्तभद्र को नमस्कार कर उनकी काव्य प्रतिभा का महत्व बताते हुए लिखा है कि उनके वचन रूप बज्रपात से कुमति रूप पर्वत नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। समन्तभद्र कवियों , गमकों – विद्वानों की रचनाओं को स्वयं समझने वाले – वादियों और वाग्मियों – अपने वचन चातुर्य से दूसरों को वश में करने वाले – में चूड़ामणि के समान श्रेष्ठ थे।[59]

हरिवंश पुराण में भी 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते' लिखकर जिनसेन ने समन्तभद्र के वचनों को भगवान महावीर के वचनों के समान प्रकाशमान बताया है।[60]

शक संवत् 947 के वादिराजसूरि ने अपने महाकाव्य **पार्श्वनाथचरित** में लिखा है कि स्वामी समन्तभद्र का चरित्र किसके लिए आश्चर्यजनक नहीं है। जिन्होंने देवागम के द्वारा आज भी सर्वज्ञत्व को प्रदर्शित कर रखा है। निश्चय से वे ही योगीन्द्र त्यागी हुए हैं, जिन्होंने काव्य समूह रूपी याचक को अक्षय सुख का कारण रत्नों का पिटारा – रत्नकरण्डकम् दान किया है।[61]

गद्यचिन्तामणि में वादीभसिंहसूरि ने लिखा है कि समन्तभद्र सरस्वती के स्वच्छन्द विहार स्थल हैं और उनके वचन रूपी बज्र के गिरने से विरोधी सिद्धान्त रूपी पर्वतों के शिखर चूर चूर हो जाते हैं[62] –

सरस्वतीस्वैर विहार भूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्तु वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ।।

ग्यारहवीं शताब्दी के यशस्वी विद्वान् कवि वादिराजसूरि ने **यशोधरचरित्र** में समन्तभद्र को उत्कृष्ट काव्य रूपी मणियों का रोहण–पर्वत कहकर उनसे सूक्तिरूपी रत्नों के समूह को प्रदान करने की इच्छा प्रगट की है।[63]

न्यायविनिश्चयविवरण में वादिराज ने लिखा है कि समन्तभद्र चारों तरफ फैले हुए दुर्नयरूपी घोर अन्धकार और दुर्बोध तत्त्व को अपने वचन रूपी स्फुटरत्नदीप से प्रगट कर देते थे।[64]

941 ई. में हुए कन्नड कवि आदिपंप ने **आदिपुराण**, **धर्मामृत**, **चन्द्रप्रभपुराण**, **शान्तिश्वरपुराण** आदि ग्रन्थों में भवहर आदि विशेषणों के साथ समन्तभद्र के नाम का उल्लेख किया है। अन्य प्रसिद्ध कन्नड कवियों – अभिनव पंप, नयसेन, अग्गल और कमलभव आदि ने तार्किक कवि के रूप में समन्तभद्र का आदर के साथ उल्लेख किया है।[65] बारहवीं शती के आचार्य हेमचन्द्र ने **सिद्धहेमशब्दानुशासन** में समन्तभद्र का स्तुतिकार के रूप में स्मरण किया है[66] तथा **आवश्यक सूत्र** की टीका में मलयगिरि ने आद्यस्तुतिकार लिखा है।[67] उग्रदित्याचार्य ने **कल्याणकारक** में अष्टांगवैद्यक विषय पर समन्तभद्र की विस्तृत कृति का उल्लेख किया है।[68]

वि0 सं0 1050 के नरेन्द्रसेनाचार्य ने अपने ग्रन्थ **सिद्धान्तसार संग्रह** में समन्तभद्र की वाणी को अनघ बताते हुए उसे मनुष्यत्व की प्राप्ति की तरह दुर्लभ तथा ग्यारहवीं शती के आचार्य वीरनन्दि ने **चन्द्रप्रभचरितम्** महाकाव्य में अनेक गुणों और निर्मल वृत्त रूपी मुक्ताफलों से युक्त बताते हुए लिखा है कि श्रेष्ठ नरों के द्वारा जिसे अपने कण्ठ का आभूषण बनाया गया है उस हार यष्टि को पाना उतना दुर्लभ नहीं जितना की समन्तभद्र भारती को।[69]

बारहवीं शती के अलंकारिक कवि अजित सेन ने **अलंकारचिन्तामणि** ग्रन्थ में समन्तभद्र को कविकुंजर, मुनिवंद्य और जनानन्द विशेषणों से विभूषित करते हुए वचनों की शोभा बढ़ाने के लिए नमस्कार किया है। अर्थापत्ति के उदाहरण में उन्होंने लिखा है कि समन्तभद्र की विद्यमानता में स्पष्ट रूप से अधिक बोलने वाले धूर्जटि की भी जिह्वा स्थिर हो जाती थी, दूसरों की बात ही क्या।

अर्थशक्तिमूला व्यंजनाशक्ति के उदाहरण में उन्होंने लिखा है कि महावादी श्रीमान् समन्तभद्र के आ जाने पर कुवादी मस्तक झुकाकर भूमि खोदने लगते थे।[70]

बारहवीं शती के कन्नड़ भाषी कवियों – आदिपंप , अभिनव पंप , नयसेन , अग्गल आदि आचार्यों ने अपने कन्नड़ ग्रन्थों में तार्किक कवि समन्तभद्र का आदर के साथ नामोल्लेख किया है।[71]

1235 ई0 के कवि नागराज ने **समन्तभद्रभारती स्तोत्र** में समन्तभद्र के गुणों का विस्तार से वर्णन किया है।[72] अभयचन्द्र सूरि ने **प्रकियासंग्रह** में' टः प्रोक्ते' 3/1/169 सूत्र के उदाहरण में सामन्तभद्रम् लिखा है। अन्यत्र भी उन्होंने एक सूत्र में 'सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि ' उदाहरण दिया है।[73]

1320 ई0 के कवि अप्पयार्य ने **विद्यानुवाद – जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय** में समन्तभद्र का स्मरण किया है।[74] तेरहवीं शती के ही आचार्य वर्द्धमान सूरि ने **वरांगचरित** में समन्तभद्र को महाकवीश्वर कुवादियों को जीतकर यश प्राप्त करने वाले, सुतर्कशास्त्रामृतसागर बताकर कवित्व की आकांक्षा से प्रसन्न होने की कामना की है।[75] विजय वर्णी ने '**शृंगारार्णव चन्द्रिका**' में समन्तभद्र को महाकवीश्वर लिखते हुए उनके प्रबन्ध निर्दोष पवित्र और महान् शोभा सम्पन्न बताये हैं।[76]

चौदहवीं शती के कवि हस्तिमल्ल ने '**विक्रान्त कौरव**' ग्रन्थ में समन्तभद्र को भावी तीर्थंकर होने का उल्लेख किया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि वे चारण ऋद्धि के धारक होने से उनमें इतनी शक्ति थी कि

शीघ्रता से सैकड़ों कोस दूर जा सकते थे।[77] इन्द्रनन्दि ने **श्रुतावतार** में समन्तभद्र का उल्लेख तुम्बूलूराचार्य के बाद किया है।[78]

विवुध श्रीधर ने **श्रुतावतार** में षट्खण्डागमादि सिद्वान्त ग्रन्थों के टीकाकार क्रमशः कुन्दकीर्ति, श्यामकुण्ड, समन्तभद्र और वप्पदेव का नामोल्लेख किया है , जिसमें उन्होंने बताया है कि समन्तभद्र ने 68 हजार श्लोक परिमाण वाली सिद्वान्त टीका की रचना की थी।[79] आचार्य शिवकोटि ने **रत्नमाला** में लिखा है कि जिनराज के उच्च उठते हुए शासन समुद्र के लिए चन्द्रमा स्वरूप स्वामी समन्तभद्र मेरे मानस में रात दिन स्थित रहें।[80]

शक सं0 1353 पाण्डक्षमापति ने **मध्यानन्दशास्त्र** में समन्तभद्र के गुणों की उत्कृष्टता बताते हुए उनको भक्ति के साथ प्रणाम किया है।[81]

सोलहवीं शती के ब्रह्म अजित ने **हनुमच्चरित** में समन्तभद्र को भव्यरूपी कुमदों को प्रफुल्लित करने वाला चन्द्रमा और दुर्वादियों की वादरूपी खुजली को मिटाने के लिए अद्वितीय महौषधि बताते हुए उनका जयघोष किया हैं।[82]

विकम संवत् 1608 में शुभचन्द्राचार्य ने **पाण्डवपुराण** में देवागम का उल्लेख करते हुए समन्तभद्र को ' भारत भूषण ' विशेषण से अलंकृत किया है तथा ज्ञानार्णव में लिखा है कि जहां समन्तभद्र जैसे कवीन्द्र सूर्यों की निर्मल सूक्ति रूपी किरणें स्फुरित हो रही हों वहां अल्प ज्ञान वालों की काव्य के मार्ग में प्रवृत्ति खद्योत की तरह हास्य को प्राप्त होती है।[83]

वि0 सं0 1656 के सोमसेन ने **रामपुराण** में श्रुतसागर पारग विशेषण देते हुए कहा है कि समन्तभद्र भविष्य में तीर्थंकर होंगे।[84] आचार्य श्रुतसागर ने **जिनसहस्रनाम** टीका के मंगल श्लोक में समन्तभद्र का स्मरण किया है तथा ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में उन्हें 'कलिमलहरण' पद से विभूषित किया है।[85] **पार्श्वनाथचरित** में भट्टारक सकलकीर्ति ने समन्तभद्र की वाणी को सभी ओर से मंगलमय और लोकोपकारक बताते हुए उनका वन्दन किया है।[86]

आख्यान विषयक उल्लेख

समन्तभद्र के सम्बन्ध में अनेक कथाओं का प्रचलन है। जिनमें प्रभाचन्द्रकृत संस्कृत कथाकोश[87], ब्रह्मनेमि दत्त का संस्कृत आराधना कथाकोश[88] एवं देवचन्द्रकृत कन्नड राजावलिकथे[89] प्रमुख हैं। आराधना कथाकोश में जो समन्तभद्र विषयक कथा दी गयी है, उसका आधार प्रभाचन्द्र कृत गद्य कथाकोश है। इन कथाओं के आधार पर समन्तभद्र के जीवन से सम्बन्धित विवरण का पुनरीक्षण यहां प्रस्तुत है।

कथाकोश

प्रभाचन्द्र और ब्रह्मनेमिदत्त कृत कथाओं में यह उल्लेख पाया जाता है कि राजा शिवकोटि के शिवालय में चढ़ने वाले नैवेद्य से समन्तभद्र ने अपनी भस्मक व्याधि को शान्त किया था। चन्द्रप्रभस्वामी की स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्व प्रकट हुआ था। इन घटनाओं के मध्य कथाओं में जो वर्णन किया गया है ,वह निम्न प्रकार है।

कांची में समन्तभद्र के भस्मक रोग को शान्त करने के लिए स्निग्ध भोजन का अभाव था इसलिए समन्तभद्र कांची छोड़कर दक्षिण से उत्तर की ओर चल दिए । ये पुड्रनगर में पहुंचे और वहां बौद्धौं बन्दकों के वृहद् विहार में महातंत्र शाला देखकर उन्होंने बन्दक लिंग धारण कर लिया पर वहां भी जब महा व्याधि के शमन का कोई मार्ग न दिखा तब वहां से निकल कर अनेक नगरों में घूमते हुए दशपुर नगर में पहुंचे वहां भागवतों का महामठ देखकर विशिष्ट आहार प्राप्ति की इच्छा से बन्दक लिंग त्याग कर भगवालिंग धारण कर लिया। वहां भी भस्मक व्याधि शान्त होने योग्य विशिष्ट आहार प्राप्त होता हुआ न देख वहां से चलकर अनेक देशों में भ्रमण करते हुए वाराणसी पहुंचे। वहां उन्होंने योगी लिंग धारण करके शिवकोटि राजा के शिवालय में प्रवेश किया । वहां शिव को भोग लगाने के लिए नाना प्रकार के विशिष्ट नैवेद्य तैयार किये जाते थे। समन्तभद्र ने शिवकोटि राजा से निवेदन किया कि वे अपनी दिव्यशक्ति के द्वारा सम्पूर्ण नैवेद्य शिव को खिला सकते हैं। इस तरह राजा का आदेश प्राप्त कर

समन्तभद्र मन्दिर के किवाड़ बन्द कर समस्त नैवेद्य स्वयं खाकर किवाड़ खोल देते थे। यह देखकर राजा शिवकोटि को अत्यधिक आश्चर्य हुआ।

प्रतिदिन नैवेद्य प्राप्त कर धीरे धीरे समन्तभद्र की व्याधि शान्त होने लगी। छह माह बीतते ही भस्मक व्याधि शान्त हो गयी तो नैवेद्य पूरा का पूरा बचने लगा। जब राजा शिवकोटि को यह ज्ञात हुआ कि यह योगी स्वयं भोजन करता रहा है तब राजा ने इसका कारण जानना चाहा और उन्हें शिव को नमस्कार करने को बाध्य किया।

समन्तभद्र ने राजा को जबाव दिया कि शिवमूर्ति मेरे नमस्कार को सहन नहीं कर सकेगी, तब समन्तभद्र की इस बात को सुनकर राजा को अत्यन्त कौतुक हुआ। समन्तभद्र को अपने वचन सिद्ध करने के लिए बाध य किया। रात्रि के व्यतीत होने पर समन्तभद्र को अपने वचन निर्वाह की चिन्ता बढ़ी। उनकी चिन्ता के कारण अम्बिका देवी का आसन कम्पित हुआ। उन्होंने आकर समन्तभद्र को आश्वासन दिया और कहा कि तुम ' स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले' पद से प्रारम्भ कर चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करो ।

प्रातःकाल जिस समय समन्तभद्र समस्त जनता के सामने शिवकोटि की आज्ञा के अनुसार चन्द्रप्रभस्वामी की स्तुति पढ़ते हुए **तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नम्** वाक्यका पाठ कर रहे थे, उसी समय शिवलिंग खण्ड खण्ड हो गया और उसके स्थान पर चन्द्रप्रभस्वामी की चतर्मुखी प्रतिमा प्रकट हो गयी। इस आश्चर्य को देखकर राजा ने समन्तभद्र का परिचय पूंछा, जिसके उत्तर में समन्तभद्र ने कहा' मैं कांची में नग्नाटक, लाम्बुक में शरीर को मलिन करने वाला पाण्डुपिण्ड, पुण्डोड्र में शाक्यभिक्षु, दशपुर में मिष्ठान्नभोजी परिव्राजक तथा वाराणसी में शशकरधवल पाण्डुरांग तपस्वी बना। हे राजन्, मैं जैन निर्गन्थवादी हूं। यहां जिसकी शक्ति मुझसे वाद करने की हो वह आकर वाद करे।' मैंने पहले पाटलिपुत्र नगर के मध्य में शास्त्रार्थ हेतु भेरी बजाई थी पुनः मालव, सिन्धु, ठक्कविषय, कांचीपुर और विदिशा में फिर महान् विद्यावीरों से युक्त करहाटक नगर को प्राप्त हुआ। इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद के लिए सिंह के समान यहां वहां भ्रमण करता

फिर रहा हूं।[80] इस प्रकार समन्तभद्र के चमत्कार पूर्ण व्याख्यान सुनकर एवं जैनधर्म से प्रभावित होकर राजा शिवकोटि संसार से विरक्त हो गया और समन्तभद्र ने भी वापस जाकर पुनः मुनिदीक्षा धारण कर ली।

राजाबलिकथे

उपर्युक्त कथानक से राजाबलिकथे में आयी समन्तभद्र की कथा में थोड़ी भिन्नता है। राजाबलिकथे में समन्तभद्र का जन्म उत्वलिका ग्राम में होना लिखा है, जबकि कथाकोश आदि में जन्म के वारे में कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं होती । मुनिजीवन में भस्मक व्याधि हुई, यह घटना दोनों कथाओं में वर्णित है। राजाबलिकथे में इतना विशेष बताया गया है कि समन्तभद्र को भस्मक रोग मणुकहवल्ली में विचरण करते हुआ था और उसकी शान्ति कांची के राजा शिवकोटि के शिवालय में हुई थी। इसके लिए पांच दिन का समय लगा था। शिवलिंग की घटना, चन्द्रप्रभ का बिम्व प्रकट होना आदि घटनाओं का वर्णन पूर्व कथाओं जैसा ही है।

समन्तभद्र विषयक इन कथाओं से स्पष्ट है कि उनके जन्म स्थान, विषय आदि में अन्तर दिखाई देता है। अन्य साक्ष्यों के साथ इन कथाओं की तुलना करने पर इसकी विषयवस्तु में भी आंशिक सत्यता दिखाई देती है। अन्य साक्ष्यों से यह तो स्पष्ट होता है कि उन्हें भस्मक व्याधि हुई थी, पर यह ज्ञात नहीं होता कि उन्होंने व्याधि के उपशमन के लिए दीक्षोच्छेद किया और कांची या वाराणसी के शिवमन्दिर में रहकर शिवभोग खाते रहे। वसवनपुर के शिलालेख में उल्लिखित 'वाराणसीश्वर' का अर्थ वाराणसी का ईश्वर अर्थात् शिव होता है। काशी विश्वनाथ के रूप में शिव का नाम सम्पूर्ण भारत में अभी भी प्रचलित है। इसके लिए वाराणसीश्वर का अर्थ वाराणसी का राजा किया जाना किसी भी स्थिति में उचित प्रतीत नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी सन्दर्भ का तालमेल न बैठने के कारण भट्टारक प्रभाचन्द ने कथाकोश में बनारस के शिवमन्दिर में समन्तभद्र द्वारा शिवभोग खाये जाने की कथा गढ़ दी, जिसके विवरण की पुष्टि किसी अन्य स्रोत से नहीं होती है। कथा की रोचकता के कारण उनकी यह परम्परा ब्रह्मनेमिदत्त तथा आगे तक चल पड़ी । इस सम्बन्ध में

प्रभाचन्द को कोई अन्य आधार या स्रोत प्राप्त थे, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया।[91]

स्रोतों के आधार पर जीवन परिचय

जन्म स्थान एवं पितृकुल

समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था , इसकी पुष्टि उपलब्ध सभी साक्ष्यों से होती है लेकिन वह स्थान कौन सा है , इस विषय में विप्रतिपत्तियां हैं। दक्षिण भारत में उपलब्ध एवं वहां से उत्तर भारत आयीं आप्तमीमांसा की कन्नड लिपि में लिखी गयीं सभी पाण्डुलिपियों में **इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुरस्याधिपसूनोः श्रीस्वामीसमन्तभद्रदेवस्य मुनेः कृतवाप्तमीमांसायाम्** – यह पुष्पिकावाक्य पाया जाता है , जिसके आधार पर विद्वानों ने समन्तभद्र को उरगपुर के राजा का पुत्र लिखा है तथा उस समय का उनका नाम शान्तिवर्मा सिद्ध किया है। शान्तिवर्मा यह नाम जिनशतकम् के टीकाकार नरसिंहभट्ट ने उक्त स्तोत्र के अन्तिम पद्य की टीका के आधार पर निकाला है। इस आधार पर उरगपुर के साथ शान्तिवर्मा नाम की संगति बैठायी गयी है।

प्रभाचन्द और ब्रह्मनेमिदत्त कथाकोशों में समन्तभद्र के जन्म स्थान आदि से सम्बन्धित कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। राजावलिकथे से यह अवश्य पता चलता है कि समन्तभद्र का जन्म उत्वलिका ग्राम में हुआ था।

कहा जाता है कि उरगपुर पाण्ड्य देश की राजधानी थी , जिसका उल्लेख महाकवि कालिदास ने किया है।[92] 674 ई0 के गड्वल ताम्रशासन के अनुसार उरगपुर कावेरी के दक्षिण तट पर अवस्थित था।[93] प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्वान् इसकी पहचान त्रिचनापल्ली के निकट उरैयूर से करते हैं, जो प्राचीन चोलवंश की राजधानी थी। डॉ. ज्योति प्रसाद जैन के अनुसार वर्तमान त्रिचनापल्ली के नागवंशीय चोल नरेश कीलिक वर्मन के कनिष्ठ पुत्र एवं उसके उत्तराधिकारी सर्व वर्मन – सोरनाग के अनुज शान्तिवर्मन के रूप में समन्तभद्र का जन्म सम्भवतया 120 ई0 के लगभग हुआ था। सन् 138 ई0 (पट्टावली प्रदत्त शक सं0 60) में उन्होंने मुनि दीक्षा ग्रहण की थी और 185 ई0 के लगभग उनका स्वर्गारोहण हुआ था।[94]

शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि भद्रबाहु की वंश परम्परा में कुन्दकुन्द के बाद समन्तभद्र हुए थे। उन्हें दक्षिण भारत में प्रचलित द्राविण आदि गण, संघों में होना बताया गया है। नाम के साथ स्वामी शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से दक्षिण भारत में ही पाया जाता है। इस तरह सभी साक्ष्यों से यह निःसन्देह पुष्टि होती है कि समन्तभद्र का जन्म स्थान दक्षिण भारत रहा होगा।

मुनिजीवन एवं दीक्षा

उपलब्ध शिलालेखों एवं अन्य अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र अनेक विद्याओं के ज्ञाता और उद्‌भट् विद्वान् थे। किन्तु उनके मुनि जीवन के पूर्व की जानकारी सन्दिग्ध है। उन्होंने किस आचार्य से दीक्षा ली थी, इसका भी कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है। शिलालेखों में उन्हें भद्रबाहु श्रुतकेवली, उनके शिष्य चन्द्रगुप्त, चन्द्रगुप्त मुनि के वंशज पद्‌मनन्दि, उनके वंशज उमास्वाति – गृद्धपिच्छ इनके शिष्य बलाकपिच्छ के बाद इन आचार्यों की परम्परा में समन्तभद्र हुए हैं। कुछ शिलालेखों में इन्हें कुन्दकुन्द के आधार पर नन्दिगण एवं देशीयगण का आचार्य बताया गया है। सेनगण की पट्‌टावलि में इन्हें सेनगण का आचार्य सूचित किया गया है। कुछ शिलालेखों में समन्तभद्र को द्रामिल संघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ की अरूंगल शाखा का आचार्य बताया है।[95] इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि समन्तभद्र को किस संघ, गण, गच्छ, अन्वय आदि का माना जाये, मूलसंघ या सेनगण या द्राविण या द्रामिल, नन्दिगण या देशीयगण आदि।

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार में गोपुच्छिक, श्वेतवासी, द्राविड, यापनीय और निःपिच्छक ये पांच जैनाभास बताये गये हैं। इनको छोड़कर शेष को दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ का कहा गया है[96] –

गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्राविणो यापनीयकाः।
निःपिच्छकाश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः।। – श्लो० 10

सेनगण का प्रथम उल्लेख सन् 821 में सूरत के ताम्रपत्र में किया गया है। इसमें चतुष्टय मूलसंघ का उदयान्वय, सेनसंघ कहा गया है। इसकी

परम्परा मल्लवादी, सुमति और पूज्यपाद से प्रारम्भ होती है।[97] सेनगण के अन्य उल्लेख मूलगुण्ड[98] आदि स्थानों पर भी प्राप्त होते हैं। श्रवणवेलगोल्ल के शिलालेख 108 में इस गण के सम्बन्ध में बताया गया है कि नन्दि और सेनादि भेदों को लिए हुए यह चार प्रकार का संघ भेद भट्टाकलंक के स्वर्गारोहण के पश्चात् हुआ। इससे प्रतीत होता है कि ये समन्तभद्र दूसरे होना चाहिए।

अनेक शिलालेखों में समन्तभद्र को द्रामिल या द्राविड संघ के नन्दिसंघ की अरूंगुल अन्वय की आचार्यावलि में होना बताया गया है। दर्शनसार के अनुसार इस संघ की स्थापना पूज्यपाद के शिष्य बज्रनन्दि ने वि0 सं0 526 में दक्षिण मदुरा में की थी , जिनका आधार – विचार दिगम्बर मूलसंघ के अनुरूप नहीं था।[99] एक शिलालेख में द्राविडसंघ – कोण्ड – *कुन्दान्वय का उल्लेख है। एक स्थान पर मूलसंघ – द्राविडान्वय भी कहा* गया है। नन्दिसंघ अरूंगल अन्वय का द्राविड संघ, कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ के परस्पर सम्बन्ध के विषय में डॉ. चौधरी ने कहा है कि नव संगठित द्राविड़ संघ ने प्रारम्भ में अपना आधार मूलसंघ या कुन्दकुन्दान्वय को बनाया होगा, पर पीछे यापनीय संप्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्राविण गण के रूप में उस संघ के अन्तर्गत हो गया। बाद में यह द्राविण गण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही संघ का रूप दे दिया गया और साथ में नन्दिसंघ को नन्दिगण के रूप में निर्दिष्ट किया गया।[100] अरूंगल का सम्बन्ध स्थान से है, जो कि अरूंगल प्रदेश – तामिल प्रान्त से उद्भूत जान पड़ता है। इस विवरण से जान पड़ता है कि बाद में बने सेनगण , द्रामिलसंघ, नन्दिसंघ , अरूंगलान्वय आदि ने अपने संघ की महत्ता बढ़ाने के लिए मूलसंध को और उनके आचार्यों की परम्परा को अपने से संयुक्त कर लिया , परन्तु यह निर्विवाद है कि समन्तभद्र मूलसंघ के प्रमुख आचार्यों में थे।

समन्तभद्र की विभिन्न पदवियां : विशेषण

आप्तमीमांसा आदि ग्रन्थों के कर्ता समन्तभद्र को यति , मुनि , देव , स्वामी, आचार्य आदि विभिन्न पदवियों से सम्बोधित किया गया है। **येनाचार्य**

समन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततम् – लिखकर आप्तमीमांसाभाष्यकार अकलंक ने समन्तभद्र यति को प्रणाम किया है। युक्त्यनुशासनालंकार में समन्तभद्र के साथ स्वामि और गुरू पद संयुक्त किये गये हैं।[101] वसुनन्दि ने देवागमवृत्ति में समन्तभद्र, आचार्य समन्तभद्र और समन्तभद्रदेव नामों का उल्लेख किया है।[102] प्रभाचन्द ने स्वयम्भूस्तोत्र एवं रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीकाओं में समन्तभद्र के साथ मुनि विशेषण लगाकर अभिहित किया है।[103] जिनशतक की टीका में नरसिंहभट्ट ने समन्तभद्र और श्रीमत्समन्तभद्राचार्य नामों का उल्लेख किया है।[104]

जिनशतक अपरनाम स्तुतिविद्या के टीकाकार नरसिंह भट्ट ने ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के आधार पर कविकाव्य नामक गर्भचकवृत्त से ग्रन्थ के कर्ता के रूप में शान्तिवर्मा को सिद्ध किया है जिसके आधार पर समीक्षकों ने इति फणि0 पुष्पिकावाक्य के साथ संगति बैठाकर समन्तभद्र की मुनिदीक्षा के पूर्व का नाम सिद्ध किया है।[105]

भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों के शास्त्रागारों में उपलब्ध समन्तभद्र कृत ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के पुष्पिकावाक्यों में समन्तभद्र के नाम का उल्लेख पाया जाता है।[106] विभिन्न समयों में उत्कीर्ण दक्षिण भारत के शिलालेखों में भी समन्तभद्र का नाम गौरव के साथ लिया गया है।[107]

प्रतीत होता है कि 'समन्तभद्र' यह नाम मुनि अवस्था का है। समन्तभद्र का यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि अन्य आचार्य भी स्वयं को इसी नाम से प्रतिष्ठापित करने लगे। आचार्य पूज्यपाद ने चार समन्तभद्र नामधारी रचनाकारों का उल्लेख किया है।[108] कुछ रचनाकारों ने अपने इस नाम के साथ चिक्, लघु, गेरूसेप्पे, अभिनव आदि भिन्नता सूचक विशेषण अवश्य जोड़े हैं। इससे सिद्ध है कि आप्तमीमांसा, वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र आदि ग्रन्थों के रचयिता उन चिक् आदि समन्तभद्रों से सर्वथा भिन्न हैं।[109]

स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित समस्त कृतियों में उनके प्रणेता के रूप में समन्तभद्र ही नाम मिलता है। परवर्ती लेखकों ने भी उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के प्रसंग में उसी नाम से उनका स्मरण किया है, परन्तु परवर्ती काल में स्वामी शब्द का प्रयोग ही समन्तभद्र का पर्यायवाची बन गया।[110]

आचार्य विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा के **स्वामि मीमांसितम् तत्** का उल्लेख कर स्वामी शब्द के द्वारा स्पष्ट रूप से समन्तभद्र का वर्णन किया है। वि0 सं0 1035 में कन्नड भाषा में लिखित अपने **त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण** में चामुण्डराय ने समन्तभद्र का समन्तभद्रदेव नाम से उल्लेख किया है।[111] आचार्य नरेन्द्रसेन ने अपने **सिद्धान्तसार** संग्रह में स्पष्ट रूप से स्वामी समन्तभद्र का **देव** उपनाम के साथ उल्लेख किया हे।[112] आचार्य जयसेन ने **समयसार** की **तात्पर्यवृत्ति टीका** में स्याद्वाद के स्वरूप के प्रकरण में **समन्तभद्राचार्यदेवैरपिमणितमास्ते** कहकर उल्लेख किया है।[113]

निष्कर्ष

शिलालेखीय साक्ष्यों से पता चलता है कि आचार्य समन्तभद्र आचार्य कुन्दकुन्द के तत्काल बाद में हुए थे। समन्तभद्र को भस्मक रोग हो गया था, जिसे उन्होंने बड़ी चतुराई से समाप्त किया था। उन्होंने मन्त्र वचनों से चन्द्रप्रभ को आहूत किया था। समन्तभद्र, द्वारा कलिकाल में जैनधर्म पुनः सर्वत्र भद्र रूप में प्रसारित हुआ था। समन्तभद्र ने जैनधर्म की पताका फहराने के लिए वाद करने हेतु समूचे भारतवर्ष में विचरण किया । वे कलिकाल गणधर और शास्त्रकार कहलाते थे। इनके दीक्षा गुरू का कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता। उनकी शिष्य परम्परा में शिवकोटि वरदत्ताचार्य, गंगराज्य के संस्थापक सिंहनन्दि आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान महावीर एवं गौतम गणधर के पश्चात् श्रुतकेवलियों की परम्परा के बाद प्रमुख आचार्यों एवं साधक लेखकों की परम्परा में समन्तभद्र एक आदर के पात्र एवं सार्वकालिक प्रतिष्ठा के धनी थे। समन्तभद्र मूलसंघ के प्रतिनिधि आचार्य थे। इस प्रकार समस्त सामग्री के आलोडन से समन्तभद्र के विराट् व्यक्तित्व का पता चलता है, परन्तु उनके जीवन, जन्म, गुरू आदि के विषय में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। शिलालेखों, परवर्ती आचार्यों एवं ताम्रपत्र आदि में समन्तभद्र के साथ स्वामी, देव, वनवासी, स्तुतिकार आदि विशेषण भी जुड़े हुए पाये जाते हैं। समन्तभद्र की कृतियों में पाया जाने वाला समन्तभद्र पद लेखक के नाम

का द्योतन भले ही कराता हो, पर मेरी दृष्टि में वह लेखक का नाम न होकर अर्थ वैशिष्ट्य हेतु ही उस शब्द का प्रयोग किया गया होगा। परवर्ती आचार्यों ने उन्हें मुनि, योगी, परिपालक, कवि, परमेष्ठी, तार्किक, चकचूड़ामणि, वाग्मी, परमात्मा, महावादी, परीक्षेक्षण, स्याद्वादमार्गाग्रणी आदि अत्यन्त विशिष्ट पदों से विभूषित किया है। जिनशतक को छोड़कर अन्य कोई सन्दर्भ ऐसा देखने में नहीं आया, जिससे समन्तभद्र का नाम शान्तिवर्मा सूचित हो। आप्तमीमांसा की पाण्डुलिपियों में उपलब्ध होने वाला उरगपुर का सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय है, जिससे उनके जन्मस्थान और कुल की सूचना मिलती है, परन्तु इस सन्दर्भ की पुष्टि कथाओं या अन्य सन्दर्भों से नहीं होती। कथाओं में इनका जन्म स्थान उत्वलिका सूचित किया गया है। भस्मक व्याधि का होना, शिवमन्दिर में शिव भोग खाना आदि कथाओं में आए सन्दर्भों की पुष्टि अन्य किसी प्रामाणिक स्रोतों से नहीं होती। यह निर्विवाद है कि समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में ही कहीं हुआ होगा।

सन्दर्भ

1. युक्त्यनुशासन, 62
2. स्वयम्भूस्तोत्र, 143
3. आप्त०भाष्य 1/1 एवं अ०स०114
4. अष्टसहस्री 1/1
5. वहीं, 1/1
6. अष्टसहस्री पृष्ठ 75,223,114,29
7 यु०टीका, अन्तिम पद
8. देवागम वृत्ति, 1. 2 , 114,115
9. मूडविद्री, जैनमठ, पाण्डुलिपि सं0122
आरा,जैनसिद्धान्त भवन पा०सं०क034
10. रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका, 1.1
11. वहीं, 5.29 1
12. जिनशतक वृत्ति 2
13. वहीं, 1
14. मूडविद्री, जैनमठ,
पा0218,334,471,676
15. कोल्हापुर,ल०म०पा030/9,31/1
16. बाहुवली,श्रीमहा०ग्र०पा० 81/2445
17. पूना,भा०ओ०रि०इं०पा०
991/1887–91
18 दिल्ली,श्रीदि०जैनसं०म०व०पा0310 क
19. मुख्तार, जु०कि०र०श्रा०प्रा०पृष्ठ 4
20 मूडविद्री,जैनमठ,पा० 677, 120
21 वहीं, 112
22 काशी,स्या०पा089/2 पूना पा01201आदि
23 मूडविद्री,जैनमठ,पा0122, 205
24 वहीं, 418,670,274 बाहुवली
पा043. 2409,63
25 मूडविद्री,जैनमठ,पा0122
26 श्रवणवे०शि०जैनशि०सं०भाग 1
पृष्ठ 24,25
27 वन्द्योभस्मकमात्मसात्कृतिपटुः
पद्मावती देवता,
दत्तोदात्तपदत्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः।
आचार्यत्व समन्तभद्रगणभृदेनेह काले कलौ,
जैनवर्त्मसमन्तभद्रमभवद् भद्रं समन्तान्मुहुः।।

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहम्नरपते शार्दूलविक्रीडितम्।।

– जैशि0सं0भाग 1, पृ0102
28. वहीं, पृ0196–98
29. वहीं, पृ0209–211
30. जैनशि0सं0 भाग 2पृ0294
31. पृ0 303
32. वहीं, भाग 3 पृ0 518
33. वहीं, पृ0 7
34. वहीं, पृ0 571
35. भाग 4 पृ0 344, 516
36. वहीं, भाग 2 पृ0 263
37. वहीं, भाग 1 पृ0 398
38. वहीं भाग 2 पृ0 316
39. वहीं भाग 3 पृ0 122
40. वहीं , पृ0 148
41. वहीं, पृ0 205
42. वहीं, भाग 2पृ0387,405
43. वहीं भाग 3 पृ0 283
44. वहीं भाग 2 पृ0 441
45. वहीं, भाग 3 पृ0 62
46. अ, वहीं, पृ0 31
ब. वहीं भाग 4 पृ048,51
47. वहीं , पृ0 401
48. वहीं , पृ0 330
49. वहीं पृ0 332,334
50. वहीं , पृ0 336
51. जैनए.वाल्यू.13पृ 04,1945
52. त0 प0 6/70
53. वहीं, वृत्ति 71
54. वहीं पृ0 80
55. वहीं, पृ0 79
56. वहीं पृ0 80
57. जै.व्या.5/4/10 जै.महावृत्ति पृ.67
58. वहीं, पृ067एवं 4
59. आदिपुराण 1.43
60 हरिवंशपुराण, 1.29
61 पा0च0 1.17,18,19
62 ग0चि0 1.5
63 यशोधरचरित्र, 1.3
64. न्यायवि0 1.2
65. उद्घृत्, जैनसि0भाग12.2पृ080
– धर्मामृत, 1.5 आदि
66. स्तुतिकारोप्याह–सि0 श0 पृ09
67 मुख्तार, जु0कि0 रत्न0प्राक्कथन पृ067
68. कल्याण कारक पृ0 /20.86
69. सिद्धान्तसार संग्रह 1.17
– चन्द्रप्रभचरितम् 1.6
70. अ0 चि0 1.3,4.315,5.156
71. कर्णाटककविचरिते भाग 1पृ01–5
72. स0भा0स्तोत्र पद्य 108
73. शा0प्र0 743एवं 746
74. वि0 वा0 12पृ0 9
75. वरांगचरित 1.7
76. श्र0च0 1.3
77 वि0कौ0 पृ0 1
78. संगृहीत, तत्त्वानुशासन
79. सिद्धान्तसारादि संग्रह, पृ0 118
80. रत्नमाला, 4
81. मध्यानन्द 3,4
82. हनुमच्चरित, 1.18
83. पाण्डवपुराण, 1.15
– ज्ञानार्णव, 1.14
84. रामपुराण, 1.4
85. जिनसहस्रनाम, 10.2
86. पार्श्वनाथचरित, 1.4
87. क0को0 पृ010–14
88. आ0क0को0 समन्तभद्रकथा
89. रा0क0 समन्तभद्र कथा 8.10
90. क0को0 4.13 एवं 4.13
91. जैन, डॉ. न0कु0 स0दा0स0 पृ037
92. रघुवंश, 6.59
93. एपिग्राफिका इण्डिका 10.102

94. अनेकान्त किरण 11.12.1957पृ0324
95. जैनशि0सं0भाग 3 क0 189, 192
202,214,215,216 आदि
96. श्रुतावतार , 10
97. जैनशि0सं0भाग 4 कम 55
98. वहीं, भाग 1 कम. 137, 286 भाग 3
कम 322,538,611 आदि
99. देवसेन , दर्शनसार, 25–8
जैनशि0सं0 भाग 5 कम 14,15
वहीं, भाग 2 कम 178
100. जैनशि0सं0 भाग 3 प्रस्ता0 पृ035
101. युक्त्य0 पद्य संख्या
102. दे0वृत्ति 1,2, 114 एवं 115
103. स्वय0टीका 112 रत्न0टीका 1 1, 5, 29.1
104. जिन0टीका 1और 2
105. जिन0116 एवं टीका 116
मूड0जैनमठ पा0676,471,334,218
106 वही, पा0 218,334,471 एवं 676
कोल्हापुर,ल0सेन भ0पा030 9.31.1
बाहुवली ग0पा081.2445 पृन
भा0पा0991,1887,91 आदि.
107 जैनशि0स0भाग 1 40,105 108भाग
2 संख्या 213,214भाग 3 स0326,
667,भाग 3 स0305,723भाग 4 सं.
515,516 भाग 2 सं0 207भाग1सं0
493,भाग 2 स0217 आदि
108 चतुष्टयं समन्तभद्रस्य जैनेन्द्र व्या
करण 514 / 140
109. मुख्तार, जु0कि0रत्न0प्रा0प0058
110 वहीं, पृ054
111. कोठिया,द0लाल,जैनदर्शन प्रमाण
शास्त्र परिशीलन, पृ0141
112 वहीं, पृ0231
113 स0 ता0 पृ0 141 से उद्धृत

परिच्छेद द्वितीय
समन्तभद्र का समय एवं उनकी कृतियां

विभिन्न विद्वानों ने उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर समन्तभद्र के समय निर्धारण के प्रयत्न किये हैं। आर. एस. नरसिंहाचार्य, बी लेविस राईस, एडवर्ड पी. राईस, आर. जी. भाण्डारकर ,के. बी. पाठक ,एस. एस. रामस्वामी आयंगर ,सतीशचन्द्र विद्याभूषण ,सुखलाल संघवी, पं0 जुगलकिशोर मुख्तार, नाथूराम प्रेमी, डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पं0 ज्योति प्रसाद जैन, डॉ. दरबारीलाल कोठिया, मुनि जिनविजय, पं0 दलसुख मालवणिया, पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं0 नेमिचन्द्र शास्त्री, प्रो0 ए0 एन0 उपाध्ये और डॉ. हीरालाल जैन आदि विद्वानों ने अपने तर्कों से विभिन्न निष्कर्ष निकाले हैं, जिनमें पं0 जुगलकिशोर मुख्तार और डॉ. ए0 एन0 उपाध्ये के सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय हैं। हमारे द्वारा यहां मात्र उपर्युक्त विद्वानों के विचारों का पुनरीक्षण किया गया है।

ईसा द्वितीय शती

आर. एस. नरसिंहाचार्य,[1] बी. लेविस राईस[2], एडवर्ड पी. राईस,[3] आर. जी. भाण्डारकर,[4] पं0 ज्योति प्रसाद जैन,[5] मुनि जिनविजय[6], पं0 नेमिचन्द्र शास्त्री[7] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय ईसा की द्वितीय शताब्दी मानते हैं।

ईसा द्वितीय एवं तृतीय शती

पं0 जुगलकिशोर मुख्तार,[8] पं0 महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य[9], डॉ. दरबारी लाल कोठिया,[10] पं0 कैलाश चन्द्र शास्त्री,[11] डॉ. ए0एन0 उपाध्ये,[12] डॉ. हीरा लाल[13] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय ईसा की द्वितीय एवं तृतीय शताब्दी स्वीकार करते हैं।

चौथी शती

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल समन्तभद्र का समय ई0 की चौथी शती मानते हैं।[14]

पांचवीं और छठी शताब्दी

सतीश चन्द्र विद्याभूषण,[15] नाथूराम प्रेमी[16], दलसुख मालवणिया[17] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय ईसा की पांचवीं और छठी शती अनुमान करते हैं।

सातवीं आठवीं शती

के. वी. पाठक[18], एम. एस. स्वामी आयंगर,[19] पं० सुखलाल संघवी[20] आदि विद्वान् समन्तभद्र का समय सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी अनुमान करते हैं।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये और डॉ. हीरालाल जैन का मत

डॉ० ए.एन. उपाध्ये और डॉ. हीरा लाल जैन ने पूज्यपाद द्वारा जैनेन्द्र व्याकरण में उल्लिखित, समन्तभद्र को आप्तमीमांसा , स्वयम्भूस्तोत्र आदि तार्किक कृतियों के लेखक के रूप में माना है। उन्होंने बताया है कि पूज्यपाद ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण में भूतवली , प्रभाचन्द्र, श्रीदत्त, समन्तभद्र, सिद्धसेन और यशोभद्र नाम के आचार्यों का उल्लेख किया है। पूज्यपाद द्वारा लिखे गये[21] **चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' की महावृत्ति में समन्तभद्र को तार्किक[22] समन्तभद्र कहकर उन्हीं समन्तभद्र का उल्लेख किया गया है, जिनके आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।[23]

इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों द्वारा यह सन्देह व्यक्त किया जाता है कि समन्तभद्र जैन हैं या बौद्ध, क्योंकि वादन्याय में **नमः समन्तभद्रस्य** पद आया है। अवगत हो कि बुद्ध का नाम भी समन्तभद्र पाया जाता है। इसलिए आप्तमीमांसाकार समन्तभद्र की इस नाम से संगति बैठाना असंगत है। पूज्यपाद के द्वारा उल्लिखित सभी आचार्य, जैन आचार्य हैं, ये हमारा सुपरिचित तथ्य है। इसलिए जबतक इसके विरूद्ध कोई सबल प्रमाण नहीं मिल जाता तबतक समन्तभद्र को एक जैन आचार्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।[24]

स्व0 पं0 सुखलाल संघवी और बी. जे. दोषी ने यह सिद्ध करने कि कोशिश की है कि समन्तभद्र चन्द्रकीर्ति की व्याकरण का नाम है।[25]यह सिद्ध करने के लिए अधोलिखित तर्क दिए गये हैं–

1. यह निश्चित प्रमाण नहीं है कि समन्तभद्र द्वारा कोई व्याकरण लिखा गया है।
2. समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियों में 'चतुष्टये' पाये जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।
3. बुदोन्न के इतिहास में बुद्ध समन्तभद्र व्याकरण का उल्लेख किया गया है।
4. समन्तभद्र द्वारा लिखी गयी कोई व्याकरण होती तो शाकटायन या हेमचन्द्र अपने सूत्रों अथवा व्याख्याओं में उसके उल्लेख करने की भूल न करते।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने उपर्युक्त तर्कों को निराधार सिद्ध करते हुए बताया है कि –

1. यह दलील ठीक नहीं है कि समन्तभद्र द्वारा व्याकरण लिखी ही गयी है तथा यह अनुमान करना असंगत है कि पूज्यपाद ने आवश्यक रूप से वैयाकरणों का ही नामोल्लेख किया है। उदाहरण के लिए यदि सिद्धसेन का कोई व्याकरण था, तो वह अभी तक प्रकाश में नहीं आया, जो कुछ भी सिद्धसेन से जोड़ा जाता है वह उनकी द्वात्रिंशिकाओं में से एक में खोजा जा सकता है। अन्य भी अनेक नाम जैनेन्द्र व्याकरण में ऐसे हैं, जो सभी वैयाकरण नहीं थे।
2. द्वितीय तर्क एक विपरीत प्रमाण है, जिससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि समन्तभद्र की सभी कृतियां उपलब्ध नहीं होती। अतः उक्त तथ्य की खोज की सम्भावनायें तो असम्भाव्य नहीं हैं।
3. **'समन्तभद्रस्य'** इस पद में षष्ठी एक वचन के प्रयोग से स्पष्ट है कि यह सन्दर्भ एक लेखक का है न कि कृति का यदि यह कृति

का नाम होता तो सप्तमी अथवा पंचमी का होना चाहिए था। क्योंकि इस नियम से सभी संस्कृतज्ञ सहमत हैं कि बुद्ध के नाम पर बौद्ध लेखक चन्द्रकीर्ति का समन्तभद्र नाम का संस्कृत व्याकरण हो सकता है। बुद्ध के नाम पर एक व्याकरण होना स्वाभाविक है। जैसे शिवसूत्र और स्वयं ब्रह्म से उत्पन्न हुए बहुत ग्रन्थ देखे जाते हैं। इसी तरह जैनेन्द्र व्याकरण स्वयं महावीर द्वारा निर्मित करने का प्रयत्न किया गया था किन्तु वह प्रयत्न असफल रहा। इसके अतिरिक्त चन्द्रकीर्ति कृत व्याकरण भी उपलब्ध नहीं है। अतः पूर्वोक्त कल्पना निराधार है। यहां एक बात उल्लेखनीय है कि अभयनन्दि, समन्तभद्र की व्याख्या **समन्तभद्राचार्यस्य** करते हैं।

4. इस सम्बन्ध में डॉ. उपाध्ये ने डॉ. आर. एन. दाण्डेकर से प्राप्त एक प्रसंग की चर्चा की है कि जल्हण की सूक्तिमुक्तावली के पृष्ठ 39,40,65,68,88,124,184 और 369में आठ श्लोक मालती माधवस्य करके आये हैं। इनका उस नाम के नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्व0 आर. जी. भाण्डारकर ने उसे उस नाम के कवि का बतलाया है।[20]इससे इस बात का पूर्ण समर्थन होता है कि षष्ठी विभक्ति का प्रयोग ग्रन्थकार को सूचित करता है, ग्रन्थ को नहीं। जल्हण ने जहां कहीं किसी ग्रन्थ का उद्धरण दिया है, वहां पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया है।

5. अतः समन्तभद्र कृत जैनव्याकरण की कल्पना साधार नहीं है। इसलिए अधिक आलोचनीय है। यद्यपि एक प्राकृत व्याकरण को समन्तभद्र का कहा जाता है, किन्तु वह हेमचन्द के प्राकृत व्याकरण के बाद रचा गया है। यह तर्क निराधार है कि शाकटायन और हेमचन्द के द्वारा उसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था, किन्तु उन्होंने उसका उल्लेख क्यों नहीं किया। प्रथम यह एक निषेधात्मक तर्क है। दूसरे यह नहीं कहा जा सकता कि शाकटायन और हेमचन्द ने अपने सभी स्रोतों का नामोल्लेख किया है। यह सत्य है कि हेमचन्द ने प्रकृत विषय के पूर्व ग्रन्थों का उल्लेखनीय

आलोडन किया है, किन्तु उन्होंने उन सबका नामोल्लेख किया हो ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण की रचना में वररूचि के प्राकृत व्याकरण का उपयोग किया है, किन्तु वररूचि के नाम का उल्लेख नहीं किया । अतः इस तरह के तर्क प्रभाव हीन हैं।

समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद नहीं

पूज्यपाद द्वारा समन्तभद्र का स्पष्ट उल्लेख किये जाने के बाद भी स्व० पं० सुखलाल संघवी[27], बी. एस. अग्रवाल[28], नाथूराम प्रेमी[29] आदि विद्वान् समन्तभद्र को पूज्यपाद से पहले का नहीं मानते। उनका कहना है कि विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री में स्पष्ट लिखा है कि समन्तभद्र ने पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आप्त की मीमांसा से ही आप्तमीमांसा रची है।

डॉ. उपाध्ये ने इन तर्कों को निराधार बताते हुए लिखा है कि विद्यानन्द ने कहीं पर भी पूज्यपाद का नामोल्लेख नहीं किया है। विद्यानन्द ने मात्र इतना ही लिखा है कि उन्होंने उसकी स्तुति अथवा स्तोत्र की व्याख्या की है, जो तत्त्वार्थसूत्र के आदि में **शास्त्रकार** द्वारा लिखा गया है और स्वामी द्वारा मीमांसित है। यहां उनका स्वामी से समन्तभद्र और मीमांसा से आप्तमीमांसा लक्ष्य है।

'मोक्षमार्गस्य' आदि श्लोक तत्त्वार्थसूत्र के लेखक द्वारा रचा गया है अथवा तत्त्वार्थशास्त्र या सूत्र पर टीका लिखने वाले पूज्यपाद द्वारा यह एक विवाद का विषय रहा है।

यिद्यानन्द ने स्पष्ट रूप से शास्त्र के लेखक को ही सूचित किया है। पूज्यपाद को नहीं। अगर यह कहा जाये कि पूज्यपाद ने उस पर व्याख्या नहीं लिखी तो उक्त तर्क नकारात्मक होता है, जिससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। अतः हमें भ्रमित करने वाली प्रति पर ध्यान नहीं देना चाहिए। यह पता लगाना कठिन है कि पूज्यपाद के सामने कौन सी पाण्डुलिपियां थीं और उनके समय में मौखिक या परम्परा से कैसे मूलग्रन्थ प्राप्त किया

जाता था। दक्षिण के वीरसेन जैसे समर्थ लेखक ने तत्त्वार्थसूत्र के लेखक के रूप में गृद्धपिच्छ का उल्लेख किया है।

सम्भवतया इसका आधार सूत्रों का एक संशोधित संस्करण है, जिसमें एक श्लोक पाया जाता है, जो गृद्धपिच्छाचार्य को उसका कर्ता बतलाया है। यह अवश्य ही उस श्लोक का पूर्वज होना चाहिए, जो कुछ प्रतियों में इस प्रकार पाया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्र संजातमुमास्वामी मुनीश्वरम्।।

यह अनुमान एक दूसरे अनुमान की ओर ले जाता है। कुछ सूत्र पाठों के प्रारम्भ में मंगल रूप में एक श्लोक लिखा है –

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये।।

इस प्रकार उपस्थित मंगल में नमस्कार और वस्तु निर्देश दोनों ही प्रसंगानुसार हैं। मंगलाचरण मोक्षमार्गस्य से प्रारम्भ होता है और प्रथम सूत्र मोक्षमार्ग क्या है, यह ठीक रीति से बतलाता है।

तत्त्वार्थसूत्र के दो अन्य विषय हैं कर्म और ज्ञान। अतः विद्यानन्द की दृष्टि में उक्त मंगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्र के लेखक का है, पूज्यपाद का बिलकुल नहीं।

समन्तभद्र की शैली आदि उत्तरकालीन है, यह विध्यात्मक होने पर भी अत्यन्त धुंधला है। भारत में दार्शनिक विचारों और परिभाषाओं के प्रवाह को दृष्टि में रखते हुए सम्बद्ध काल निर्णय के लिए उसका उपयोग तर्क के रूप में नहीं किया जा सकता है। इन सबसे सिद्ध होता है कि जैनेन्द्र व्याकरण में उल्लिखित समन्तभद्र देवागम या आप्तमीमांसा तथा अन्य ग्रन्थों के लेखक तार्किक समन्तभद्र ही हैं।

आचार्य समन्तभद्र की रचनाओं का अन्तःपरीक्षण करके यह निश्चित करना कठिन नहीं है कि उनकी क्या समयावधि है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आचार्य पूज्यपाद पांचवीं शताब्दी के विद्वान् हैं।पांचवीं शताब्दी के पूर्व और पश्चात् बौद्ध दार्शनिकों ने जैनदर्शन की कई मान्यताओं का विरोध व खण्डन करने का प्रयत्न किया है। नागार्जुन एक ऐसे ही विद्वान् हैं, जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी जैसे दार्शनिक विद्वानों के सिद्धान्तों का विरोध करते हुए अभाव या शून्यवाद की स्थापना की। ये माध्यमिक दर्शन के पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। उनके विचार में संसार अवास्तविक और शून्य है। वास्तव में भाव और अभाव के बीच की स्थिति मानने से वे शून्यवादी हैं। उनका कथन है कि जितनी वस्तुसत्ता है, जितना भाव है, सब क्षणिक है। जैसे हम बादल की घटा देखते हैं और वह क्षणमात्र में विनष्ट हो जाती है। उसी प्रकार सम्पूर्ण सत् पदार्थ क्षणिक हैं। नागार्जुन ने 'विग्रहव्यावर्तिनी' में सत् का प्रतिषेध किया है और बताया है कि असत् का प्रतिषेध नहीं किया जाता।[30]

आचार्य समन्तभद्र ने भी 'आप्तमीमांसा' में जैनदर्शन की दृष्टि से अपने ढंग से यह सिद्धान्त स्थापित किया है और स्पष्ट किया है कि पर द्रव्यादि चतुष्टय से सत् पदार्थ का ही प्रतिषेध किया जाता है, असत् का नहीं, क्योंकि भाव, विधि और निषेध का स्थान होता है।[31]इस आधार पर कुछ विद्वानों द्वारा यह माना जाता है कि समन्तभद्र पर नागार्जुन का प्रभाव पड़ा[32], परन्तु इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि समन्तभद्र का प्रभाव नागार्जुन पर पड़ा और यह सत्य भी है।

आचार्य समन्तभद्र ने अपनी रचनाओं में, प्रत्यक्ष लक्षण में जिन शब्दों एवं पदों का प्रयोग किया है, वही दिग्नाग की रचनाओं में भी उपलब्ध होता है। न्याय वैशेषिक, मीमांसा और बौद्ध किसी भी परम्परा ने अज्ञान के नाश को प्रमाण का फल नहीं माना हैं। अज्ञान के नाश को प्रमाण का फल मानने वाली जैन परम्परा है और जिसके पुरस्कर्ता आचार्य समन्तभद्र हैं। बौद्ध आचार्य दिग्नाग ने इस मान्यता का खण्डन किया है। इस कारण यह निश्चित होता है कि वे समन्तभद्र के उत्तरवर्ती थे। दिग्नाग के खण्डन का

सबल तथा सप्रमाण उत्तर आचार्य अकलंक देव ने दिया, जिससे स्पष्ट होता है कि समन्तभद्र दिग्नाग से पूर्ववर्ती थे। भारतीय व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र में यह प्रसिद्ध तथ्य है कि भतृहरि, शब्दाद्वैत के प्रतिष्ठापक और स्फोटवाद के पुरस्कर्ता हुए। उत्तरवर्ती दार्शनिकों में कुमारिल, धर्मकीर्ति, अकलंक, विद्यानन्द आदि ने अपने प्रबल तर्कों से श्ब्दाद्वैत और स्फोटवाद का खण्डन किया। यदि समन्तभद्र भतृहरि के उत्तरवर्ती होते तो निश्चय ही वे शब्दाद्वैत और स्फोटवाद का खण्डन करते, परन्तु समन्तभद्र की रचनाओं में कहीं भी उनका उल्लेख नहीं है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि समन्तभद्र भतृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती थे।[33]

निःसन्देह आचार्य समन्तभद्र की प्राप्त रचनाओं में आप्तमीमांसा बेजोड़ है। इस रचना में उन्होंने आप्त की सिद्धि के लिए सर्वज्ञता की प्रस्थापना को तार्किक कसौटी पर कसकर प्रकट किया है। उन्होंने दोष ओर आवरणों से रहित होने के लिए नियामक रूप से वीतरागता की सिद्धि की है। प्रसिद्ध मीमांसक एवं तार्किक कुमारिल भट्ट ने तत्त्वसंग्रह में सर्वज्ञता की आलोचना की है और उसे व्यर्थ बताया है। वस्तुतः कुमारिल से पूर्व समन्तभद्र के अतिरिक्त किसी भी दार्शनिक ने सर्वज्ञता की स्थापना नहीं की थी। अतः इससे स्पष्ट है कि सातवीं शताब्दी के विद्वान् कुमारिल भट्ट से समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र को दिग्नाग और धर्मकीर्ति का उत्तरवर्ती सिद्ध करने के लिए कुछ हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु उनकी पर्यालोचना करने पर यह निश्चित हो जाता है कि दोनों ही विद्वान् आचार्य समन्तभद्र के उत्तरवर्ती थे। अतएव समन्तभद्र के समय के सम्बन्ध में पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. ए. एन. उपाध्ये और डॉ. हीरालाल जैन आदि की जो मान्यता है कि समन्तभद्र का जन्म शक् संवत् 60 अर्थात् ईसा की दूसरी शताब्दी में हुआ था, वही प्रमाणिक प्रतीत होता है।[34]

आचार्य समन्तभद्र के विषय में जो उपर्युक्त मतभेद की चर्चा की गयी है, उनकी दो कोटियां बनायी जा सकती हैं। प्रथम कोटि के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं, जो समन्तभद्र को पूज्यपाद का पूर्ववर्ती मानते हैं। द्वितीय

कोटि के अन्तर्गत वे विद्वान् आते हैं, जो उन्हें पूज्यपाद के बाद का मानते हैं। प्रथम कोटि पर विचार करने वाले इतिहास के अन्वेषक स्व. पं जुगलकिशोर मुख्तार प्रमुख हैं, जिन्होंने समन्तभद्र के समय आदि पर विस्तार से विचार किया है तथा इस विषय में अन्य विद्वानों के विचारों की समीक्षा करके समन्तभद्र का समय ईसा की प्रथम अथवा द्वितीय शती निर्धारित किया है।

स्व0 पं0 जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा समन्तभद्र के काल निर्णय ईसा की प्रथम द्वितीय शती का सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किये गये हैं।

1. श्रवणवेलगोल शिलालेख संख्या 40 में महान् आचार्यों की परम्परा में समन्तभद्र का नाम उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ के बाद लिया गया है।
2. डॉ. भाण्डारकर द्वारा सन् 1883–84 में हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों की अनुसन्धान विषयक रिपोर्ट में प्रकाशित दिगम्बर पट्टावलि में 60 शक् राज्ये दिगम्बराचार्यः श्री समन्तभद्रसूरि, उल्लेख प्राप्त होता है। इसी पट्टावलि का उल्लेख लेविस राईस, नरसिंहाचार्य तथा ए. पी. राईस ने किया है।
3. श्वेताम्बर पट्टावलि में सामन्तभद्र नामक एक आचार्य के पट्टारम्भ की तिथि का वी. नि. सं. 643 तथा उनके पट्ट शिष्य द्वारा एक प्रतिष्ठा कराने की विधि का वी. नि.सं. 695 में उल्लेख किया गया है।
4. लेविस राईस के द्वारा ईसा की दूसरी शती के लगभग गंग राज्य की स्थापना करने वाले आचार्य सिंहनन्दि का समन्तभद्र के बादमें होना अनुमान किया गया है।
5. श्रवणवेलगोल के शिलालेख संख्या 54 में समन्तभद्र का स्मरण सिंहनन्दि के पहले है।

6. शिमोगा ताल्लुक के हुमच से प्राप्त ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के तीन शिलालेखों में गंगराज्य संस्थापक सिंहनन्दि का समन्तभद्र के अन्वय में होना सूचित किया गया है।

7. नंजूनगढ़ ताल्लुक से प्राप्त और एपिग्राफिया कर्णाटिका की जिल्द 3संख्या 110पर प्रकाशित वह शिलालेख जिसमें प्रथम गंग नरेश द्वारा शक् सं0 25–सन् 103 में किसी के दान में दिये जाने का उल्लेख है।

8. श्रवणवेलगोल के शिलालेख संख्या 40 में समन्तभद्र के परिचयात्मक श्लोक के बाद ततः करके 'यो देवनन्दि प्रथमाविधानः इत्यादि श्लोकों के द्वारा पूज्यपाद का परिचय दिया गया है।

9. 'जैनेन्द्र व्याकरण में पूज्यपाद द्वारा 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' सूत्र के द्वारा समन्तभद्र के नाम का उल्लेख किया गया है।

10. विवुध श्रीधर ने तुम्बूलाचार्य को षट्खण्डागमादि सिद्धान्त ग्रन्थों का टीकाकार नहीं माना है और श्रुतावतार में कुन्दकीर्ति के बाद श्यामकुण्ड को और श्यामकुण्ड के बाद समन्तभद्र को और समन्तभद्र के बाद वप्पदेव को टीकाकार माना है।

11. द्वितीय कोटि के विद्वानों में पं0 सुखलाल संघवी प्रमुख हैं। स्व0 संघवी जी ने समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद का सिद्ध करने के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं।

    क. समन्तभद्र पूज्यपाद के आप्तस्तोत्र के मीमांसाकार हैं।

    ख. अकलंक ने सर्वप्रथम समन्तभद्र की कृति पर व्याख्या लिखी है। अतः समन्तभद्र और अकलंक के बीच साक्षात् गुरू शिष्य का सम्बन्ध रहा है।

    ग. समन्तभद्र के अन्तरंग विवेचन निरूपण का ढंग और विचार विकाश आदि पूज्यपाद के पहले का नहीं माना जा सकता।

स्व0 पं0 जुगलकिशोर मुख्तार, डॉ. उपाध्ये और डॉ. कोठिया आदि विद्वानों ने द्वितीय कोटि के विद्वानों द्वारा दिये गये तर्कों की विस्तृत समीक्षा

की है तथा अपने निष्कर्ष दिये हैं कि समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते। इन विद्वानों का प्रमुख तर्क पूज्यपाद के द्वारा समन्तभद्र का उल्लेख किया जाना है।

अकलंक द्वारा समन्तभद्र की कृति पर सर्वप्रथम टीका लिखी गयी है, मात्र इतने से यह निष्कर्ष निकालना कि इन दोनों आचार्यों के बीच गुरू–शिष्य सम्बन्ध रहा है, उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है की मूल कृति के लेखक की उपस्थिति में ही टीकाकार टीका लिखें।इस सम्बन्ध में यह प्रतीत होता है कि समन्तभद्र की कृतियों की विषयवस्तु निरूपण का ढंग इतना पर्याप्त था कि उसमें और बढ़ाने और टीका लिखने की अकलंक तक के लम्बे समय तक कोई जरुरत नहीं पड़ी। जब तर्क युग में दिग्नाग, धर्मकीर्ति आदि आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ तब अकलंक को उसपर टीका लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई और उन्होंने उस पर टीका लिखी। स्मरणीय है कि अकलंक के उल्लेखानुसार सम्भवतया उनके पूर्व भी आप्तमीमांसा पर कोई टीका लिखी गयी थी।[35] इस स्थिति में अकलंक को प्रथम टीकाकार मानना और समन्तभद्र के साथ उनका गुरु शिष्य सम्बन्ध प्रतिपादित करना उचित प्रतीत नहीं होता। इसलिए टीकाकारों द्वारा विवेचित सिद्धान्तों को समन्तभद्र कृत मानकर प्रमाणशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में भ्रममूलक निष्कर्ष निकालना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं माना जा सकता।

समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद मानने का आधार मोक्षमार्गस्य0 आदि वह विवादग्रस्त श्लोक है, जिसे कुछ विद्वान् तत्त्वार्थसूत्र का तथा कुछ विद्वान् सर्वार्थसिद्धि का मंगलाचरण मानते हैं और इसी पद्य के आधार पर आप्तमीमांसा की रचना की जाना प्रतिपादित करते हैं।

उक्त श्लोक किस ग्रन्थ का मंगलाचरण है और क्या वास्तव में समन्तभद्र की आप्तमीमांसा का आधार वही श्लोक है, ये दोनों भिन्न भिन्न विचारणीय विषय हैं और दोनों ही विषयों में एकमत हो पाना कठिन है, किन्तु पूज्यपाद द्वारा समन्तभद्र का स्पष्ट उल्लेख किये जाने के बाद भी

उसे नकारना हास्यास्पद प्रतीत होता है। पूज्यपाद के द्वारा उल्लिखित समन्तभद्र का अभिप्राय चन्द्र व्याकरण है। इस प्रकार की अटकलें ऐतिहासिक गवेषणा के लिए बहुत बड़ी बाधा है। पूज्यपाद ने जितने भी जैनाचार्यों का उल्लेख किया है, वे सभी दार्शनिक हैं और एक का भी व्याकरण ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। इसलिए पूज्यपाद द्वारा समन्तभद्र के उल्लेख पर संशय करने की थोड़ी भी गुंजायश नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन और रत्नकरण्डश्रावकाचार का भी प्रभाव है। अतः समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद का मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

समन्तभद्र के समय विषयक उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्व0 पं0 जुगलकिशोर मुख्तार और डॉ. ए. एन. उपाध्ये आदि विद्वानों ने समन्तभद्र को सप्रमाण पहली– दूसरी शताब्दी का सिद्ध किया है, जिसके विरुद्ध अब तक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए। अतएव समन्तभद्र का समय पहली दूसरी शताब्दी मानना ही उचित है।

समन्तभद्र की कृतियां

समन्तभद्र द्वारा रचित 11कृतियों के उल्लेख पाये जाते हैं, जो निम्न हैं[36] –

1. देवागम या आप्तमीमांसा
2. स्वयम्भूस्तोत्रम्
3. युक्त्यनुशासनम्
4. स्तुतिविद्या
5. रत्नकरण्डश्रावकाचार
6. जीवसिद्धि
7. तत्त्वानुशासन
8. प्राकृत व्याकरण
9. प्रमाण पदार्थ
10. कर्मप्राभृत टीका
11. गन्धहस्तिमहाभाष्य

उपर्युक्त कृतियों में आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या और रत्नकरण्डश्रावकाचार उपलब्ध हैं एवं शेष 6 कृतिया अनुपलब्ध हैं।

आप्तमीमांसा : देवागम

आप्तमीमांसा एक गूढ दार्शनिक कृति है। इसका दूसरा नाम देवागम स्तोत्रम् भी है।[37] इसमें आप्त की मीमांसा होने के कारण इसको आप्तमीमांसा कहा जाता है। स्वयं समन्तभद्र ने भी इसको इसी नाम से अभिहित किया है।[38] यह ग्रन्थ स्वयम्भूस्तोत्रम् की तरह देवागम पद से प्रारम्भ होने के कारण देवागम स्तोत्रम् कहा जाता है।

इस ग्रन्थ में 114 कारिकाएं हैं। कन्नड लिपि में लिखी ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों में 'जयतिजगति' आदि एक पद्य पाया जाता है। इस सम्बन्ध में पाण्डुलिपियों के परीक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि दक्षिण भारत में ताड़पत्रों पर कन्नड़ लिपि में लिखी हुई जो मूलग्रन्थ की प्रतियां उपलब्ध होती हैं, उनका मूल स्रोत अकलंक या विद्यानन्द के टीका ग्रन्थ हैं। उन्हीं में से बाद में मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपियां तैयार की गयीं। यही कारण है कि सभी प्रतियों में विद्यानन्द द्वारा उल्लिखित 'जयतिजगति' आदि पद्य उपलब्ध होता है तथा ग्रथ का दश परिच्छेदों में वर्गीकरण भी प्राप्त होता है। दक्षिण भारत से कन्नड़ लिपि की जो ताड़पत्रीय प्रतियां उत्तरभारत आयीं अथवा उनके आधार पर देवनागरी लिपि में जिनका कागज पर लिप्यन्तरण किया गया है, उनमें भी यह परम्परा स्पष्ट परिलक्षित होती है। अकलंक ने 114 कारिकाओं पर ही व्याख्या लिखी है। 'जयतिजगति' आदि पद्य इनकी टीका की पाण्डुलिपियों में प्राप्त नहीं होता। वसुनन्दि ने 114 कारिकाओं की तरह 'जयतिजगति' आदि पद्य की भी वृत्ति लिखी है। विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में **'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यन्ते'**[39] लिखकर उक्त पद्य दिया है। इसप्रकार अष्टशती की पाण्डुलिपियों से ज्ञात होता है कि जयति जगति आदि पद्य आप्तमीमांसा का नहीं है। इसका समर्थन विद्यानन्द के केचिदिदं0 इत्यादि वाक्य से भी होता है, फिर भी विद्यानन्द के उल्लेख से यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि उनके मूलग्रन्थ की कुछ ऐसी भी प्रतिया प्राप्त थी, जिनमें यह पद्य उपलब्ध था। परिमाण के विषय में एक बात और विचारणीय है कि इस ग्रन्थ में विरोधान्नो0 आदि कारिका दश बार आयी है। इस दृष्टि से

ग्रन्थ का वास्तिविक परिमाण 105 कारिका ठहरता है। अन्तिम कारिका समाप्ति सूचक या अन्त्यमंगल के रूप में है, इससे प्रतीत होता है कि समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ की रचना एक शतक के रूप में की थी।[39]

यह ग्रन्थ 10 परिच्छेदों में विभक्त है। ये परिच्छेद उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की तरह स्वयं समन्तभद्र के द्वारा निर्धारित किये गये हैं। प्रथम परिच्छेद में 1 से 23 कारिकायें हैं, जिनके द्वारा भाव और अभाव के सम्बन्ध में उन एकान्तवादों की समीक्षा की गयी है, जो ग्रन्थकार के समय चर्चित थे तथा उनका नय विवक्षा से समाधान देकर अनेकान्त की स्थापना की है। द्वितीय परिच्छेद में 24 से 26 तक 13 कारिकाऐं हैं। इसमें अद्वैतैकान्त आदि एकान्तवादों की समालोचना करके उनका अनेकान्त दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया है। तृतीय परिच्देद में 37 से 60 तक 24 कारिकाऐं हैं, जिनमें सांख्य दर्शन के एकान्त नित्यवाद की आलोचना करके वस्तु में नित्यता और अनित्यता दोनों को प्रतीति सिद्ध बतलाया गया है। चतुर्थ परिच्छेद 61 से 72 तक 12 कारिकाओं में निबद्ध है। जिसमें भेद अभेद को लेकर विभिन्न वादियों द्वारा मान्य भैदैकान्त, अभैदैकान्त आदि एकान्तों की आलोचनापूर्वक उसका स्याद्वाद और नय दृष्टि से अनेकान्तात्मक व्यवस्था दी गयी है। पंचम परिच्छेद में 73 से 75 कारिकाओं में जैनदृष्टि से उन एकान्तवादियों की समीक्षा की गयी है जो सर्वथा अपेक्षा या सर्वथा अनपेक्षा से वस्तु स्वरूप की सिद्धि मानते हैं। षष्ठ पच्छेिद 76 से 78 कारिकाओं द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि वस्तु सिद्धि का अंग उपायतत्त्व हेतुवाद और अहेतुवाद भी अनेकान्तात्मक है। सप्तम परिच्छेद में 79 से 87 तक 9 कारिकाओं द्वारा अनेकान्त और बाह्यार्थैकान्त आदि एक एक एकान्तों के स्वीकार करने में आने वाले दोषों को दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्त की स्थापना की गयी है। अष्टम् परिच्छेद में 88 से 91 तक 4 कारिकाओं के द्वारा देवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तों को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमें स्याद्वाद से वस्तुसिद्धि की व्यवस्था की गयी है तथा सप्तभंगी की योजना को सिद्ध किया गया है। नवम् परिच्छेद में 92 से 95 तक चार कारिकाओं के द्वारा दैवकारकोपाय तत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी

स्थिति पर विचार किया गया है। पुण्य पाप के सम्बन्ध में व्याप्त एकान्त मान्यताओं के खण्डन पूर्वक स्याद्वाद से उसका समाधान दिया गया है। दशम परिच्छेद में 96 से 114 तक 19 कारिकाओं में यह बतलाया गया है कि सभी वस्तुएं प्रमाण, प्रमेय, वाच्य वाचक आदि स्वभावतः स्याद्वाद मुद्रांकित हैं। विभिन्न एकान्तवादों की समीक्षा के प्रसंग में अनेकान्त, स्याद्वाद, प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण के भेद, फल, प्रयोजन, सप्तभंगी, प्रमाणाभास, हेतु आदि पर भी विचार किया गया है।

युक्त्यनुशासन

युक्त्यनुशासन आचार्य समन्तभद्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को वीरजिन स्तवन भी कहा जाता है। इसमें 64 कारिकाएं हैं। भगवान महावीर और उनके द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद शासन की स्तुति करने के उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इस स्तुति ग्रन्थ की टीका से अवगत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ दो प्रस्तावों में विभक्त है। प्रथम प्रस्ताव कारिका 1 से 39 तक तथा द्वितीय प्रस्ताव 40 से 64 पद्य तक है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं ग्रन्थ के प्रस्तावों का विभाजन नहीं किया है। व्याख्याकार आचार्य विद्यानन्द ने भी प्रथम तथा द्वितीय के रूप में प्रस्तावों का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु ग्रन्थ के मध्य में उन्होंने स्पष्टतया प्रथम प्रस्ताव समाप्ति का उल्लेख किया है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शेष भाग द्वितीय प्रस्ताव ही है। ग्रन्थकार ने प्रथम 39 कारिकाओं में एकान्तवादियों की समीक्षा की है तथा द्वितीय प्रस्ताव में उत्तरपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद या वीरशासन का निरूपण किया है।

स्वयम्भूस्तोत्र

स्वामी समन्तभद्र की कृति स्वयम्भूस्तोत्र हृदयहारिणी एक अपूर्व स्तोत्र ग्रन्थ है। इसमें ऋषभदेव से महावीर तक चौवीस तीर्थकरों की स्तुति विभिन्न छन्दों में की गयी है। यह ग्रन्थ मात्र स्तुति ग्रन्थ नहीं है, वल्कि इसमें जैनशासन का सार भरा हुआ है। इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है– निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः। अर्थात् इस ग्रन्थ में धर्म,

दर्शन, इतिहास, पुराण, काव्य आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। यह स्तोत्र अद्वितीय है। इसके प्रत्येक पद को सूक्तार्थ, अमल, स्वल्प और प्रसन्न विशेषण देकर यह बतलाया गया है कि वे सूक्त रूप में सटीक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले हैं, निर्दोष हैं, अल्पाक्षर हैं और प्रसाद गुण युक्त हैं। इस स्तोत्र का एक एक पद बीज पद जैसा है। स्वयं ग्रन्थकार ने इसे आगम दृष्टि के अनुरूप कहा है।

यह ग्रन्थ भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग की त्रिवेणी है। इसमें स्नान करने से अनिर्वचनीय ज्ञानानन्द एवं सुखशान्ति प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ में 24 स्तवन हैं, प्रत्येक एक एक तीर्थंकर से सम्बन्धित है। प्रत्येक स्तवन में पद्य संख्या समान नहीं है। कुल मिलाकर 143 पद्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में 13 प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है।

स्तुतिविद्या या जिनशतक

स्तुतिविद्या आचार्य समन्तभद्र का एक स्तुतिपरक कलात्मक ग्रन्थ है। इसमें चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति अलंकृत भाषा में की है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल 116 श्लोक हैं, जो विभिन्न छन्दों में रचे गये हैं। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कहीं श्लोक के एक चरण को उलट कर रख देने से दूसरा चरण,[40] पूर्वार्द्ध को उलटकर रख देने से उत्तरार्द्ध[41] और सम्पूर्ण श्लोक को उलटकर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है।[42] कहीं कहीं चरण के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में भी यही कम रखा गया है और कहीं कहीं एक चरण में कमशः जो अक्षर हैं, वे ही दूसरे चरण में हैं। पूर्वार्द्ध में जो उपर हैं वे ही उत्तरार्द्ध में हैं।[43] पूर्ववर्ती श्लोक में जो उपर हैं वही उत्तरवर्ती श्लोक में हैं,परन्तु अर्थ सबका एक दूसरेसे भिन्नहैऔर वह अक्षरों को जोड़ या तोड़कर भिन्न भिन्न शब्दों तथा पदों की कल्पना द्वारा संगठित किया गया है।[44] ग्रन्थ मुरज, मुरज बन्ध, अर्द्ध भ्रम आदि विभिन्न प्रकार के चित्रालकारों तथा शब्दालंकारों, अर्थालंकारों के भेद प्रभेदों से अलंकृत है। यही कारण है कि टीकाकार ने इस कृति को समस्तगुणगणोपेत एवं सर्वालंकारभूषिता लिखा है। यह ग्रन्थ, ग्रन्थकार के पाण्डित्य एवं शब्दाधिपत्य

को सूचित करता है। ग्रन्थ दुर्बोध है। अतः योगिनामपि दुष्करा विशेषण द्वारा अभिहित किया गया है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार

रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र की श्रावकधर्म का प्रतिपादन करने वाली एक अनूठी कृति है। इसमें आचार्य ने संसार के दुःख से पीड़ित प्राणियों को संसार से छुड़ाने का उपाय बताया है। संसार से छूटने के लिए सम्यग्दर्शन की प्रधानता है। सम्यग्दर्शन के आश्रय से ही संसार को पारकर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ में 150 श्लोक हैं, जो विभिन्न छन्दों में रचे गये हैं। आचार्य समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ को निम्न प्रकार सात अधिकारों में विभक्त कियाहै–

अधिकार संख्या	विषय	श्लोक संख्या
प्रथम	सम्यग्दर्शनाधिकार	41
द्वितीय	सम्यग्ज्ञानाधिकार	5
तृतीय	अणुव्रताधिकार	20
चतुर्थ	गुणव्रताधिकार	24
पंचम	शिक्षाव्रताधिकार	31
षष्ठ	सल्लेखनाधिकार	14
सप्तम	प्रतिमाधिकार	15
	योग	150

सन्दर्भ

1 उद्धृत, मुख्तार, जु.कि. रत्न.प्राक्क.पृ.118
2. इण्ट्रो.इस्कि.श्रव. 1889
3 उद्धृत, मुख्तार, जु.कि. रत्न.प्राक्क.पृ.119
4 अने.वर्ष 14 कि.1,1956पृ.31
5 वहीं, कि.11,12,1957पृ 324
6. जैन साहित्यसंशोधक समिति,1977,पृ 6
7 ती.आ.प भाग 2पृ 184
8 रत्न प्राक्क.पृ 196
9. सि.वि.टीका प्र.पृ.17
10. आ.प.भूमिका पृ.20
11. जैनन्याय पृ.9,
12. शा.व्या.जनरल एडीटोरियल पृ.1
13. वहीं, पृ.9
14 जै.महा वृत्ति पृ.7
15 ए हिस्ट्री आफ इडि लाजिक पृ.183
16 जै महावृत्ति भूमिका, प्रस्तावना,पृ31
जैन साहित्य और इतिहास पृ.45,46

17. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहा.पृ.1
18. उद्धृत, मुख्तार,जु.कि. समन्तभद्र का समय निर्णय, अनेकान्त,वर्ष14कि 1,1956 पृ.6
19. वहीं,रत्न.प्राक्क पृ.119
20. न्यायकु. भाग2 प्राक्क.पृ.17–20 आदि
21. जै. व्या. 5.4.140
22. जै. महावृत्ति पृ.67
23. उपाध्ये,ए.एन.और जैन,हीरालाल,शा.व्या. जनरल, एडीटोरियल पृ. 9
24. वहीं, पृ. 9
25. स. प्र. प्रस्तावना, पृ. 47,48
26. देखें,मालतीमाधव,प्राक्क.पृ.9,
27. अ.ग्र. प्राक्क. पृ.8
28. जै.महावृत्ति, भूमिका, पृ.7
29. वहीं, पृ. 30
30. विग्रहव्यावर्तिनी,11
31. आप्त. कारिका, 47
32 तत्त्वसंग्रह,भूमि.पृ.73
33. जै प्र प पृ.112से118
34. द्रष्टव्य,भाण्डारकर रिपोर्ट,1883पृ.320
35. कोठिया,द.लाल,आप्त प्रस्तावना, पृ.25
36. मुख्तार,रत्न.प्रा.197से
37. आप्त.भा.1.2,अ.स.पृ.2पा. पृ.1.15एवं पाण्डुलिपि.
38. आप्त भाष्य 114
39. अ. स. पृ. 294
40. द्रष्टव्य,श्लोक सं.10,83 88,95
41. वहीं, 57,96,98
42. वहीं, 86,87
43. वहीं, 95,93,94
44. वहीं, 5,15,25,11,12,16 17,37,38,46,47,76 आदि

❑❑❑

द्वितीय अध्याय

समन्तभद्र के स्तोत्र साहित्य का अनुशीलन

परिच्छेद प्रथम

स्तोत्र साहित्य का प्रादुर्भाव

भारत के प्राचीन साहित्य में स्तोत्र साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण स्तोत्र साहित्य धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है। प्रत्येक धर्म में आराध्य की भक्ति करने के लिए स्तोत्रों या स्तुतियों का आश्रय लिया गया है। इस दृष्टि से स्तोत्र साहित्य के प्रादुर्भाव पर विचार करते ही स्वतः ध्यान भारत के प्राचीनतम साहित्य की तरफ चला जाता है। वैदिक और श्रमण साहित्य में वह दो भागों में विभक्त है। वैदिक साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक है। इसमें प्रकृति की शक्तियों जैसे अग्नि, वायु, वरूण, मित्र, द्यावा पृथ्वी आदि को देवता मानकर उनकी वन्दना, स्तुति और प्रार्थना सूक्तों या कथाओं के रूप में की गयी है। इस प्रकार स्तोत्र साहित्य का उद्गमस्थान वेद में निबद्ध विभिन्न देवी देवताओं की गेय के रूप में की गयी विभिन्न प्रार्थनाओं और स्तुतियों में देखा जा सकता है। श्रमण आगमों में भी गेय रूप में विभिन्न कथानकों आदि के माध्यम से किये गये तत्त्व विवेचन में देखा जा सकता है।

धार्मिक साहित्य की ये परम्परा अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ती रही। वैदिक परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों आदि तक आते आते वह आध्यात्मिक चिन्तन में बदल गयी, किन्तु देवी देवताओं के अर्चन एवं स्तवन से सम्बन्धित रचनाएं भी होती रहीं। वाल्मीकि कृत रामायण और महाभारत जैसे ग्रन्थों में भी भगवान राम और कृष्ण आदि के पौराणिक, ऐतिहासिक और उपदेशात्मक विवेचन के साथ किसी न किसी रूप में उनका विभिन्न विशेषणों से युक्त उनके गुणों की उत्कर्षता का वर्णन किया गया है। जिसको हम स्तुति कह सकते हैं। पूर्व परम्परा से चले आये, यही आधार बाद में स्तोत्र ग्रन्थों के आधार बने। वैदिक परम्परा के अतिरिक्त अन्य

श्रमण–जैन और बौद्ध आदि परम्पराओं में भी अपने इष्ट की आराधना के फलस्वरूप अनेक स्तोत्र ग्रन्थों का सृजन हुआ।[1]

जैन स्तोत्रकाव्य रचना की परम्परा

जैन साहित्य में प्रारम्भ से लेकर अब तक स्तोत्र काव्य सृजन की परम्परा विशाल है, जिसका उद्गम स्थल वेदों की तरह जैन आगमों में देखा जा सकता है। इसके बाद हम समझते हैं जैन परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शताधिक स्वतन्त्र स्तोत्र ग्रन्थ रचे गये होंगे । जैन अनुश्रुतियों से एवं स्तोत्र साहित्य के आलोडन से पता चलता है कि जैन साहित्य में स्तोत्र या स्तुति साहित्य का प्रादुर्भाव तीर्थंकरों के जन्मोत्सव के समय इन्द्र के द्वारा की गयीं स्तुतियों से है।[2] सौधर्मेन्द्र ने प्रत्येक तीर्थंकर के जन्मोत्सव पर स्तुति की थी तथा तीर्थंकरों के अन्य कल्याणकों पर भी पूर्ण श्रुतज्ञानी परमभक्त देवराज भगवान की भावभीनी स्तुति करता है। अतः उक्त शक्रोत्सव ही मानव भक्तों के लिए प्रेरणास्रोत रहा या आदर्श रहा है।[3] एक ऐतिहासिक दृष्टि यह भी है कि जैन मुनियों के लिए जिन छह आवश्यक क्रियाओं का विधान किया गया है, उनमें चतुर्विंशति स्तव भी एक है। जिसके द्वारा गुणानुराग की वृद्धि द्वारा गुणों को प्राप्त करना है, जो कर्म निर्जरा द्वारा आत्मा के विकास का साधन बनता है। इसलिए चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितनी जैनसंघ की सुव्यवस्था।[4] चतुर्विंशति स्तव – चौबीस तीर्थंकर जो सर्वगुण सम्पन्न आदर्श हैं, उनकी स्तुति करने रूप हैं। इसके द्रव्य और भाव के रूप में दो भेद माने गये हैं। पुष्प आदि सात्त्विक वस्तुओं के द्वारा तीर्थंकरों की पूजा करना द्रव्य स्तव है और उनके वास्तविक गुणों का कीर्तन करना भाव स्तव है।[5]

स्तुतियां पूर्व में भक्त्यात्मक विचारों के प्रकाशन द्वारा की जाती थी, जिसका स्पष्ट रूप से कुन्दकुन्दाचार्य कृत प्राकृत भक्तियों में देखा जा सकता है। विभिन्न समयों में प्रतिभाशाली स्तुतिकारों ने अनेक स्तोत्र लिखे, जिनके विविध रूप पाये जाते हैं। सामान्य रूप से हम इनको निम्न रूपों में विभक्त कर सकते हैं –

1. स्वतंत्र स्तुति ग्रन्थ लिखे जाने के पूर्व लिखे गये स्तोत्र।
2. परिचयात्मक एवं गुणात्मक स्तोत्र।
3. गुणात्मक एवं दार्शनिक स्तोत्र।
4. साहित्यिक स्तोत्र।

आगमों एवं कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित दशभक्त्यादि में निबद्ध भक्त्यात्मक विचारों को हम स्वतंत्र स्तुतिग्रन्थ लिखे जाने के पूर्व लिखे गये स्तुति साहित्य में समाहित कर सकते हैं। ,परन्तु विशेष बात यह है कि चौबीस तीर्थंकरों का रस, छन्द, अलंकार व लालित्य से युक्त भक्तिभावपूर्ण गुणानुवाद भद्रबाहु कृत **'उवसग्गहर' स्तोत्र** में किया गया है जो अत्यन्त पूजयनीय है। उसे हम साहित्यक स्तोत्र के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस दृष्टि से यह न केवल जैन स्तोत्र साहित्य की प्राचीनता को सिद्ध करता है, वल्कि जैन साहित्य में गीतकाव्य का भी अनुपम उदाहरण है। स्तुति ग्रन्थों के रचने का एक आधार गुणात्मक विशेषणों की योजनात्मक स्तुतियां भी रहीं हैं, जिनका रूप पूजाओं और जयमालाओं में प्राप्त होता है।[6]

कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् बुद्धिवादि जैन नैयायिकों ने ऐसी स्तुतियां लिखी, जिनमें अन्य देवों की अपेक्षा तीर्थंकरों की उत्कृष्टता एवं गुणात्मक विशेषता स्थापित की गयी है। इसके अन्तर्गत समन्तभद्र कृत आप्तमीमंसा, युक्त्यनुशासन आदि स्तोत्र एवं सिद्धसेन कृत द्वात्रिंशकाएं आदि आते हैं। स्तोत्र सृजन से सम्बन्धित एक विधा ऐसी भी चली जिसमें तीर्थंकरों के विभिन्न विशषणों पर्यायवाची नामों एवं अन्य धर्मों के देवताओं जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बृहस्पति आदि की विशेषताओं और गुणों के आधार पर आत्मसात् कर लिए गये। इस दृष्टि से समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र, जिनसेन कृत जिनसहस्रनाम आदि स्तोत्र कृतियां प्रमुख हैं। परिचयात्मक एवं गुणात्मक स्तोत्रों के अन्तर्गत समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र, धनपाल कृत ऋषभपंचासिका आदि स्तोत्र ग्रन्थों को इसके अन्तर्गत रख सकते हैं।[7] विभिन्न कालों में उपर्युक्त दृष्टि से अनेक काव्य लिखे गये, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं।

ऐतिहासिक क्रम में सृजित स्तोत्र ग्रन्थों के नाम

जैनधर्म में सर्वप्रथम स्तोत्रों की रचना प्राकृत भाषा में उपलब्ध होती हैं।परन्तु जब ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग जैनेतर धर्मों में संस्कृत भाषा में स्तोत्रों की रचना होने लगी तब जैनाचार्यों ने भी संस्कृत भाषा में स्तोत्र रचना प्रारम्भ कर दी थी। ऐसा माना जाता है कि केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी भगवान महावीर की दिव्यध्वनि नहीं खिरी अर्थात् धर्मोपदेश नहीं हो सका क्योंकि उन्हें सुयोग्य गणधर नहीं मिल पाया।[8] तब इन्द्र एक विद्यार्थी का रूप बनाकर मगध के महान् विद्वान् इन्द्रभूति के पास पहुंचा और उनसे कई प्रश्न किये। इन्द्रभूति जब प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाया तब उसने इन्द्र से कहा, चलो तुम्हारे गुरू के पास ही चलकर शास्त्रांर्थ करेंगे। जब इन्द्रभूति महावीर के समक्ष पहुंचा तब उसने **जयतिहुअण** नामक स्तोत्र का पाठ करते हुए भगवान महावीर स्वामी को नमस्कार किया था।[9]

1. विकम की प्रथम श्ताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने **तित्थयर शुद्धि** स्तोत्र की रचना की थी, जो प्राकृत भाषा में है तथा उसमें आठ गाथाएं हैं। इसके अलावा उन्होंने प्राकृत भाषा में ही सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारिभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और निर्वाणभक्ति की भी रचना की है, जो एक प्रकार से स्तोत्र ही हैं।

2. श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न भद्रबाहु द्वारा भी उवसगहर स्तोत्र की रचना मानी गयी है, जिसमें 5 ही पद्य हैं, जो भावपूर्ण हैं और उन पर कई टीकाएं भी लिखी गयीं हैं।

3. विकम की दूसरी शती में आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, युक्त्यनुशासन आदि स्तोत्र बनाये हैं।

4. ईसा के तीसरी शती के आचार्य मानदेव ने शान्तिस्तव नामक स्तोत्र की रचना की है।

5. चौथी शती के आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने महावीर द्वात्रिंशका एवं अन्य कई द्वात्रिंशकाओं की रचना की है।

6. पांचवी शती के आचार्य पूज्यपाद ने शान्त्यष्टक, सरस्वती स्तोत्र, जैनाभिषेक, दशभक्ति की संस्कृत भाषा में रचना की है।
7. छठी शती के आचार्य पात्रकेशरी ने संस्कृत में पात्रकेशरी स्तोत्र की रचना की है।
8. ईसा के छठी शती के श्री बज्रनन्दि ने नवस्तोत्र की रचना की है।

उपर्युक्त के साथ साथ काल निर्देश के अनुसार निम्न आचार्यों ने भी विभिन्न प्रकार के स्तोत्र रचे हैं, जिनकी तालिका निम्न प्रकार है –

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
9. मानतुंग	7 वीं. शती ई0	भक्तामरस्तोत्र या आदिनाथ स्तोत्र
10. भट्टाकलंक देव	7 वीं. शती ई0	अकलंकाष्टक
11. जिनसेन प्रथम	7 वीं. शती ई0	जिनेन्द्रगुणस्तुति
12. धनंजय	7 वीं. शती ई0	विषापाहार
13. वप्पभट्टि	8 वीं शती ई0	चतुर्विंशतिजिनस्तुति सरस्वतीस्तोत्र
14. विद्यानन्द	8 वीं शती ई0	श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र
15. जिनसेनस्वामी	9 वीं शती ई0	श्रीजिनसहस्रनामस्तोत्र
16. नन्दिषेण	9 वीं शती ई0	अजितशान्तिस्तव,प्राकृत
17. जम्बूसूरि	948 ई0	जिनशतक
18. पुष्पदन्त	959–79 ई0	शिवमहिम्निस्तोत्र
19. पोन्न	960–90 ई0	जिनाक्षर भक्ते (कन्नड)
20. शोभनमुनि	970 ई0	शोभनस्तुति
21. धनपाल कश्यप	970–1015 ई0	ऋषभपंचासिका
22. गोल्लाचार्य भूपाल	975 ई0 लगभग	भूपाल चतुर्विंशति
23. अमितगति	975–1020 ई0	भावना द्वात्रिंशिका
24. वादिराज	1025 ई0	एकीभाव, कल्याणकल्पद्रुम

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
25. दामनन्दि	1025 ई0	जिनशतक
26. मल्लिषेण	1047 ई0	ऋषिमंडलस्तोत्र, पद्मावती,स्तोत्र
27. इन्द्रनन्दि	1050 ई0	पार्श्वनाथस्तोत्र
28. अभयदेवसूरि	ई0 1063– 78	जयतिहुअणस्तोत्र– प्राकृत
29. जिनचन्द्रसूरि	1068 ई0	संवेगरंगशाला
30. पम्पादेवी	1075 ई0	चतुर्भक्ति–कन्नड
31. माघनन्दि मुनि	1100 ई0	अर्हन्नुतिमाला, चतुर्विंशति स्तुति
32. हेमचन्द्राचार्य	1109–72ई0	वीतराग, महादेवस्तोत्र, दो महावीर द्वात्रिंशकायें
33. जिनब्रह्मसूरि	1110 ई0	अजितशान्तिलघुस्तवन, भावारि वारणस्तोत्र, वीरस्तव,जिनकल्पा वभाषकस्तोत्र (जिनकल्याणक स्तोत्र)
34. मुनिचन्द्रसूरि	1111–19ई0	प्राभातिक स्तुति
35. मौक्तिक	1120 ई0	चन्द्रनाथाष्टक–कन्नड
36. ब्रह्मशिव	1125 ई0	त्रैलोक्य चूणामणिस्तोत्र
37. जिनदत्तसूरि	1125 ई0	सर्वार्थाधिष्ठायी स्तोत्र एवं विघ्नविनाशी स्तोत्र
38. धर्मघोषसूरि	1125 ई0	ऋषिमण्डलस्तोत्र
39. कुमुदचन्द्राचाय	1125 ई0	कल्याणमन्दिरस्तोत्र
40. भानुकीर्ति	1139–77ई0	शंख देवाष्टकस्तोत्र
41. वाग्वल्लकी वैधिक	1143 ई0	चन्द्रप्रभस्तुति–कन्नड
42. राजसेन	1150 लग0	पार्श्वनाथाष्टक
43. विष्णुसेन	1150 ई0	समवसरणस्तोत्र

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
44. श्रीपालकवि	1152 ई0	शतार्थी
45 पद्मप्रभमलधारिदेव	1167–1217	पार्श्वनाथ एवं लक्ष्मीस्तोत्र
46. रामचन्द्रसूरि	1175–1200	षोडशस्तवन, आदिनाथस्तोत्र
47. विद्यानन्दि	1181 ई0	पार्श्वनाथस्तोत्र
48. आसड	1200 लग0	जिनस्तोत्र
49. सिद्धसेन	1200 लग0	शक्रस्तव
50. शुभचन्द्रयोगी	1200 ई0	जनिपतिस्तवन
51. वादिराज–द्वितीय	1200 ई0	नवग्रहस्तोत्र
52. धर्मवर्द्धन	1200 ई0	षड्भाषानिर्मित पार्श्वजिनस्तव
53. हस्तिमल्ल	1200–25	समवसरण एवं संजीवनस्तोत्र
54. आशाधर	1200–50 ई0	सहस्रनामस्तव सिद्धगुणस्तोत्र सरस्वतीस्तोत्र, महावीरस्तुति
55. सोमदेव	1205 ई0	चिन्तामणिस्तवन
56. देवनन्दि	1225 ई0	सिद्धिप्रियस्तोत्र, स्वयम्भूपाठलघु चतुर्विंशतिजिनस्तवन
57. गुणवर्म	1235 ई0	चन्द्रनाथाष्टक– कन्नड
58. महेन्द्रसूरि	1237 ई0	तीर्थमाला स्तोत्र एवं वीरावल्ली पार्श्वस्तोत्र
59. पद्मप्रभ	1237 ई0	पार्श्वस्तव, भुवनदीपक
60. वाग्भट्	1250 लग0	सुप्रबोधनस्तोत्र
61. नरचन्द्र	1250 ई0	चतुर्विंशतिजिनस्तुति
62. चारुकीर्ति	1250 ई0	गीतवीतरागप्रबन्ध
63. रत्नकीर्ति	1275 ई0	शम्भूस्तोत्र

स्तोत्रकार आचार्य	रचना काल	स्तोत्र का नाम
64. जिनप्रभसूरि	1295 1333	पंचस्तोत्र
65. धर्मघोष	1300 लग0	यमकस्तुति चतुर्विंशतिजिनस्तुति
66. रत्नाकर	1300 ई0	रत्नाकरपंचविंशतिका
67. वीरगणि	1300 ई0	अजितशान्तिस्तव– प्राकष्त
68. जयशेखर	1300 ई0	अजितशान्तिस्तव
69. शुभचन्द्र अध्यात्मि	1313 ई0	मदालसा स्तोत्र
70. जिनपद्म	1325–44	षड्भाषाविभूषित– शान्तिनाथस्तव
71. जयतिलक	1359 लग0	चतुरहारावलि चित्र स्तव
72. पद्मनन्दिभट्टारक	1360–95	अनेकस्तोत्र
73. मुनिसुन्दर	1379 ई0	जिनस्तोत्ररत्नकोष
74. मेरूविजय	1500 ई0	चतुर्विंशतिस्तव
75. देवविजयगणि	1600 ई0	जिनसहस्रनाम
76. विनयविजय	1700 ई0	जिनसहस्रनाम
77. भागेन्दु	1900 ई0	महावीराष्टक
78. पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य	2000 ई0	महावीर स्तवनम् महावीरस्तोत्रम् आदि
79. पं0 गोपीलाल अमर	2000 ई0	अनेक स्तोत्र

उपर्युक्त स्तोत्रों की सूची से स्पष्ट है कि लगभग आधा दर्जन जिनसहस्रनामस्तोत्र और एक दर्जन से अधिक जिनचतुर्विंशतिकाएं रची गयीं हैं। अनेक अजित और शान्तिस्तव भी हैं। एकाकी तीर्थंकरों में ऋषभ, चन्द्रप्रभ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के स्तोत्र ही मुख्यतया लिखे गये हैं। कल्याणक समवसरण आदि विषयों को लेकर भी कुछ स्तोत्र रचे गये हैं। कुछ स्तोत्रों में दार्शनिकता, आध्यात्मिकता तथा कुछ में हितोपदेशिता का प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु अधिकांश भक्तिपरक हैं। तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य देवी देवताओं में सरस्वती के स्तोत्रों की

प्रथा चौथी पांचवीं शती से मिलने लगती है। दशवीं शती से चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती आदि विशिष्ट प्रभावशाली शासन देवियों के भी स्तोत्र रचे जाने लगे। कई स्तोत्र मन्त्र भूतप्रेत अथवा मान्त्रिक शक्ति से युक्त माने जाते हैं। इनके साथ सम्बद्ध चमत्कारों की कथायों भी लोक प्रसिद्ध हुईं। ऐसे चमत्कारी स्तोत्रों में द्वितीय शती के समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र, मानदेव का शान्तिस्तव, सिद्धसेन की महावीर स्तुति, पूज्यपाद का शान्त्यष्टक, पात्रकेशरी का पात्रकेशरी स्तोत्र, मानतुंग का भक्तामर, धनंजय का विषापाहार, वादिराज का एकीभाव, मल्लिषेण का ऋषिमण्डल तथा कुमुदचन्द्र का कल्याणमन्दिर विशेष रूप से ख्याति प्राप्त हैं। पंचस्तोत्र तो अत्यधिक ख्याति प्राप्त है। जैनियों के स्तोत्र साहित्य की विपुलता, भव्यता, भावप्रवणता और माधुर्य की अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य जैनेतर मनीषियों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है।

यदि हम स्तोत्र साहित्य का काल विभाजन करें तो निम्न निष्कर्ष पर पहुंचते हैं –

आदिकाल – आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पूर्व का स्तोत्र साहित्य

मध्यकाल – 100 ई0 से 800 ई0 तक

अर्वाचीन काल – 800 ई0 से 2000 ई0 तक

स्तोत्रों की भाषा

स्तोत्र साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुख्य रूप से स्तोत्र संस्कृत में ही रचे गये हैं, परन्तु जैन स्तोत्र साहित्य प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और कन्नड़ भाषा में अधिक प्राप्त होते हैं।

स्तोत्र साहित्य के रचना के आधार

स्तोत्र रचना आराध्यदेव के प्रति बहुमान प्रदर्शन एवं अतिशय का प्रतिफल है, फिर भी जैन स्तोत्रों के निम्न आधार भी हैं।

1. जैन स्तोत्र आगमगत रचना है।
2. तीर्थंकर वर्णनों के माध्यम से।
3. अध्यात्म की प्रधानता लेकर।

4. न्याय विवेचन के लिए।
5. धर्म के विषय का विवेचन के लिए।
6. सिद्धान्त निर्णय के लिए।
7. भक्ति प्रधानता।
8. नीति निर्णय।
9. समाजदर्शन।
10. राजनीति।
11. आचारदर्शन
12. साहित्यक विकास

समन्तभद्र के स्तोत्रों का स्तोत्र काव्य की दृष्टि से विवेचन

स्तोत्र साहित्य का उद्भव और विकास पर विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध उपलब्ध स्तोत्रों की दृष्टि से समन्तभद्र जैनधर्म के आद्य स्तुतिकार हैं। उनकी उपलब्ध रचनाओं में भी अधिकतर स्तोत्र कृतियां ही हैं।

उनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः वे स्तोत्र साहित्य के प्रणेता थे। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि उनके युग में तीव्रता से संस्कृत भाषा में साहित्य का प्रणयन हो रहा था। जैन साहित्यकार प्राकृत की लीक से हटकर संस्कृत रचना की ओर उन्मुख हो रहे थे। दूसरा कारण यह है कि स्तोत्र गेय होते हैं। अतः आराधना व भक्तिसाधना के प्रचार और प्रसार के लिए उनसे बढ़कर अन्य माध्यम नहीं था। गेय रचनाओं से जनमानस अधिक आकर्षित होता है। भक्त की भक्ति भावाभिव्यक्ति का वह सबसे सरल तथा बाह्य आलम्बन है। इन सभी कमियों की पूर्ति का सर्वप्रथम जैनधर्म में संस्कृत भाषा में स्तोत्र लिखने का प्रयत्न समन्तभद्र ने किया। उनकी स्तोत्र रचनाएं हैं –

1. स्वयम्भूस्तोत्र
2 युक्त्यनुशासनम्

3. देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा

4. स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतकम्

समन्तभद्र कृत उपर्युक्त स्तोत्रों में स्तोत्र व स्तुति का लक्षण, स्तोत्र रचना का उद्देश्य, स्तुति करने का प्रयोजन, स्तुति का रूप, स्तोत्र का महत्त्व, स्तुत्य का लक्षण, स्तुति करने का फल, स्तवन का कारण आदि से सम्बन्धित विभिन्न विन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। इससे यह पता चलता है कि समन्तभद्र के बाद रचित काव्य लक्षण ग्रन्थों को रचने के लिए आचार्यों को समन्तभद्र के स्तुति ग्रन्थ एक प्रमुख आधार रहे होंगे। प्रस्तुत उप शीर्षक समन्तभद्र के स्तोत्रों का स्तोत्रकाव्य की दृष्टि से विवेचन करना इसलिए भी आवश्यक है कि काव्य लक्षण ग्रन्थों एवं स्तोत्रों के इतिहास के सन्दर्भ में समन्तभद्र के योगदान की भूमिका भी स्पष्ट हो सके।

स्तोत्र की व्युत्पत्ति और अर्थ

स्तोत्र, स्तुति, स्तव आदि एक ही भाव को सूचित करने वाले शब्द हैं, परन्तु कालकम से निरन्तर बढ़ते हुए स्तोत्र काव्य रचनाओं के बाद काव्य लक्षण ग्रन्थकारों ने उपर्युक्त शब्दों के सूक्ष्म अन्तर का विवेचन किया है। सामान्य रूप से स्तोत्र शब्द **स्तु** धातु से **ष्ट्रन** प्रत्यय जुड़ने के बाद बना है अर्थात् **स्तूयते अनेन इति स्तोत्रम्** स्तोत्र से सम्बन्धित शब्दों के पारस्परिक अन्तर एवं विभिन्न पक्षों पर विचार करने के साथ स्तोत्र के सम्बन्ध में समन्तभद्र के मन्तव्य यहां प्रस्तुत हैं।

समन्तभद्र ने अपनी भक्तिपरक रचनाओं को स्तुति कहा है। उनके अनुसार –

गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद् बहुत्व कथा स्तुतिः।
आननत्या ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्।।[10]
याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणो यथाख्या
लोके स्तुति भूरि गुणो दधेस्ते।[10क]

अर्थात् विद्यमान गुणों की अल्पता का उल्लंघन करके जो उनके बहुत्व की कथा की जाती है, लोक में उसे स्तुति कहते हैं। समन्तभद्र के परवर्ती आचार्यों ने स्तुति स्तव आदि में अन्तर को स्पष्ट किया है। हलायुध में कहा गया है –

अर्थवादः प्रशंसा च स्तोत्रकीड़ा स्तुतिनुतिः।
विकत्थनं स्तवः श्लाघा वर्णना च निगद्यते।।[11]

तात्पर्य यह कि सार्थक प्रशंसा का नाम स्तोत्र है, कीड़ापूर्वक नमस्कार को स्तुति कहते हैं एवं विशेष प्रशंसापूर्ण वर्णन को स्तव कहते हैं।[12]

प्राकृत के प्रसिद्ध आचार्य मलयगिरि ने भी स्तव एवं स्तुति में अन्तर बताते हुए लिखा है – **एक दुगति तिलोआ थुतिओ अन्नेसिं होई जा रूज देविदत्थयमादि तेण तु परं यथा होई।**

एकश्लोकः द्विश्लोकः त्रिश्लोकाः वा स्तुतिर्भवति। परतश्चतुः श्लोकादिक स्तवः। अन्येशां आचार्याणां मतेन एकश्लोकादिः सप्तश्लोक पर्यन्ता स्तुतिः ततः परमष्टश्लोकादिकाः स्तवाः।

एक श्लोक से तीन श्लोक पर्यन्त स्तुति और उसके अनन्तर चार श्लोकादि स्तव हैं। अन्य आचार्यों के मत से एक श्लोक से सात श्लोक पर्यन्त स्तुति और आठ श्लोक अथवा इससे अधिक श्लोक स्तव कहलाते हैं।

स्तव शब्द के साथ साथ संस्तव और स्तवन शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। **संस्तवनं संस्तवः** अर्थात् सम्यक् प्रकार से स्तवन करना ही संस्तव कहलाता है। यद्यपि संस्तव शब्द **वातुर्गुण विकत्थने तेन सह आत्मनः सम्बन्धः विकत्थने परिचये प्रत्यासतो स्नेहे** आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है किन्तु उसका सम्बन्ध परिचय और श्लाघा से ही है।[13]

अमरकोश में **संस्तवः स्यात् परिचयः** कहकर संस्तव को केवल परिचय रूप में स्वीकार किया गया है।[14] संस्तव शब्द का परिचय वाला अर्थ केवल चौवीस तीर्थंकरों से सम्बन्धित है किसी लौकिक पुरूष से नहीं।

भक्त की आराध्य से घनिष्ठता ही संस्तव है। संस्तव का श्लाघा वाला रूप सर्वत्र आया है, किन्तु उसमें भी जिनेन्द्र के अनन्त चतुष्टय की श्लाघा ही अभीष्ट है। **वट्टकेर** ने **मूलाचार** में तीर्थंकर के असाधारण गुणों की प्रशंसा करने को स्तव स्वीकार किया है।[15] **षड्आवश्यकसूत्र** में भी चौवीस तीर्थंकरों की प्रशंसा करने को ही स्तव कहा है।[16]

श्रीशान्तिसूरि ने स्तव और स्तोत्र में भेद बतलाते हुए लिखा है कि स्तव गम्भीर अर्थवाला और संस्कृत भाषा में निबद्ध किया जाता है तथा स्तोत्र की रचना विभिन्न छन्दों द्वारा प्राकृत भाषा में होती है अर्थात् स्तव संस्कृत भाषा में और स्तोत्र प्राकृत भाषा में रचा जाता है।[17] इस परम्परा का यह विभेद कब तक चला या नहीं चला , यह नहीं कहा जा सकता परन्तु **भद्रबाहु** का **उवसग्गहरस्तोत्र** प्राकृत भाषा में ही है और समन्तभद्र के स्तोत्र संस्कृत भाषा में ही रचे गये हैं, स्वयं उन्होंने स्तुति कहा है। धर्मविधान का **जस्सासी चवण चउत्थिदिवं** वाला चतुर्विंशतिका स्तवन प्राकृत भाषा में है। **सिद्धसेन** कृत **कल्याणमन्दिर** संस्कृत में है और **पंचकल्याण** स्तवन प्राकृत में है।

पाश्चात् विद्वान् एम. विण्टरनित्ज ने स्तोत्र को हिम कहकर लिखा है – The word " Hymn" is ambiguous. It has been defined as 'song of praise a religious ode' a sacred lyric a poem is the stanea written to be aung.[18]

असीरिया तथा बेबिलोनिया के अति प्राचीन स्तोत्र सुमेरिन भाषा में प्राप्त हैं, जिनमें केवल देवी देवताओं की ही स्तुतियां नहीं हैं वल्कि वीरों की भी स्तुतियां हैं।[19] सुमेरिन भाषा में प्राप्त स्तोत्रों से यह ज्ञात होता है कि स्तुति के समय मनुष्य तथा देवता का सम्बन्ध अति घनिष्ठ रहता है।

The body of this literature comprising; the vedic Hymns claims a very high place in the history of civilization for it Aryan life with its most ancient date.[20]

समन्तभद्र की कृतियां : स्तोत्र, स्तुति या स्तव

पूर्व में जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि सार्थक प्रशंसा का नाम स्तोत्र, कीड़ा पूर्वक नमस्कार करना स्तुति, विशेष प्रशंसा पूर्वक वर्णन को स्तव तथा परिचयात्मक जिनेन्द्र के गुणों की प्रशंसा करना संस्तव कहलाता है। समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किये गये उक्त स्तोत्र आदि के लक्षण के अनुसार यद्यपि समन्तभद्र ने अपने काव्य ग्रन्थों की रचना नहीं की है, फिर भी उनकी कृतियों में स्तोत्र, स्तुति या स्तव के लक्षण घटित हो जाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि परवर्ती स्तुति आदि काव्य लक्षणकार आचार्यों को समन्तभद्र के स्तुति ग्रन्थ आधार बनें।

समन्तभद्र कृत ग्रन्थों में आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन ग्रन्थ विवेचनात्मक, आलोचनात्मक, समालोचनात्मक एवं समीक्षात्मक शैली में रचे गये हैं तथा उनमें विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के खण्डन पूर्वक अनेकान्त की स्याद्वाद पद्धति से स्थापना की गयी है। अतः इन ग्रन्थों को स्तोत्र या स्तव के नाम से भले ही अभिहित किया जाये, पर उन्हें स्तुति आदि के लक्षण के आधार पर उस कोटि में रखना विचारणीय अवश्य है। रत्नकरण्डश्रावकाचार श्रावक के आचार का प्रतिपादन करने वाला उनका आचार प्रधान ग्रन्थ है।

स्वयम्भूस्तोत्रम् एवं स्तुतिविद्या निःसन्देह स्तुति ग्रन्थ हैं, जिनमें विविध छन्दों में चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। इनमें कितने छन्दों में किस तीर्थंकर की स्तुति की गयी है, इसका विवरण यहां प्रस्तुत है, जिससे यह ज्ञात करने में सरलता होगी कि सम्बन्धित रचनाएं स्तुति, स्तव आदि किस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

तीर्थंकर का नाम	स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक सं0	स्तुतिविद्या श्लोक सं0
1. ऋषभनाथ	5	15
2. अजितनाथ	5	2
3. सम्भवनाथ	5	3

तीर्थंकर का नाम	स्वयम्भूस्तोत्र श्लोक सं0	स्तुतिविद्या श्लोक सं0
4. अभिनन्दननाथ	5	4
5. सुमतिनाथ	5	2
6. पद्मप्रभ	5	2
7. सुपार्श्वनाथ	5	1
8. चन्द्रप्रभ	5	7
9. पुष्पदन्त	5	4
10. शीतलनाथ	5	2
11. श्रेयांसनाथ	5	5
12. वासुपूज्य	5	2
13. विमलनाथ	5	5
14. अनन्तनाथ	5	1
15. धर्मनाथ	5	11
16. शान्तिनाथ	5	14
17. कुन्थुनथ	5	4
18. अरहनाथ	20	5
19. मल्लिनाथ	5	1
20. मुनिसुव्रतनाथ	5	2
21. नमिनाथ	5	4
22. नेमिनाथ	10	2
23. पार्श्वनाथ	5	3
24. महावीर	8	15
	143	116

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि आचार्य समन्तभद्र ने स्तुति, स्तव, स्तोत्र, संस्तव आदि सभी लिखे। वस्तुतः वे क्रान्तिकारी, सत्यदृष्टा, सत्यान्वेषक, दार्शनिक होने के साथ साथ महान् स्तुतिकार कवि भी थे। उन्हें आद्य संस्कृत स्तुतिकार भी कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम संस्कृत

भाषा में स्तोत्र ग्रन्थों की रचना की। उनसे पहले स्तोत्र ग्रन्थों की रचना प्राकृत में होती थी। समन्तभद्र के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि स्तुति, संस्तव, स्तव आदि के समग्र रूप का नाम स्तोत्र है।

स्तुति के कारण

समन्तभद्र ने स्तुति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि हे, वीर जिन, आप पाप रूपी शत्रुओं की सेना को पराजित करने में वीर हैं। मोक्ष को अधिगत करने से महावीर हैं और देवेन्द्रों मुनीन्द्रों जैसे स्तुत्यों के द्वारा स्वयं एकाग्र मन से स्तुत्य हैं। इसी से मैंने अपनी शक्ति के अनुसार आपकी स्तुति की है। अतः आप अपने ही मार्ग में लगकर मेरी भक्ति को विशेष रूप से चरितार्थ करो।[21]

स्तोत्र रचना का उद्देश्य

समन्तभद्र कृत स्तोत्रसाहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उनके स्तोत्र रचना के उद्देश्य निम्नलिखित थे –

1. स्वान्तः सुखाय[22]
2. अर्हत्पद प्राप्ति[23]
3. कैवल्यप्राप्ति[24]
4. अष्टकर्मनाश के लिए।[25]
5. पापमुक्ति[26]
6. भय हरण[27]
7. निर्वाण प्राप्ति[28]
8. चित्त को पवित्र करने के लिए[29]
9. न्यायान्याय की पहचान के लिए।
10. वस्तु के गुण दोषों के ज्ञान के लिए।[30]
11. हितान्वेषण के लिए।[31]
12. कुशल परिणामों के लिए।[32]
13. कल्याण के लिए।[33]

आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि हे, प्रभु आप पुण्यकीर्ति और मुनियों के इन्द्र हो। यदि आपके नाम का उच्चारण कर लिया जाये तो वह हमें पवित्र बना देता है, यही आपके स्तवन का प्रयोजन है।[34]

अन्य विद्वानों का मत है कि पूजा करने की अपेक्षा स्तोत्र पाठ करने में करोड़ गुणा फल प्राप्त होता है। यथा – **पूजा कोटि समं स्तोत्रं**[35] क्योंकि

पूजा करने वाले का मन पूजन सामग्री या अन्य वस्तुओं पर रहता है, परन्तु स्तोत्रपाठ करने वाले का मन भगवान के गुणों पर संलग्न रहता है। अतः पूजा की अपेक्षा स्तोत्र अधिक लाभप्रद हैं।

स्तोत्र का महत्त्व

मेरु पर्वत हर एक दिशा से उत्तर दिशा में पड़ता है। इसलिए जो मेरु पर्वत को प्रत्येक तरफ से देखता है, वह दिशा नहीं भूलता उसी तरह आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि जो पुरुष शान्तिनाथ के गुण रूप मेरु पर्वत की स्तुति करेगा, वह संसार की अन्य उलझनों में उलझ जाने पर भी अपने कर्तव्य मार्ग को नहीं भूलेगा। सबसे श्रेष्ठ मार्ग को अनायास ही प्राप्त करेगा।[36] उत्तराध्ययन में भी स्तोत्रों की महत्ता बतलाते हुए लिखा है[37] कि स्तव स्तुति मंगलपाठ से जीव, दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करता है। अनन्तर ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप बोधिलाभ को प्राप्त करने वाला जीव अन्तकिया व कल्पविमानों में उत्पत्ति को प्राप्त करता है।[38]

स्तवन करने का फल

आचार्य समन्तभद्र ने स्तवन करने का फल बताते हुए कहा है कि हे, स्तुत, आपकी स्तुति करने वाला पुरुष पृथ्वी पर उन समवसरण सभाओं को पाकर अत्यन्त शोभित होता है, जो सभाएं अष्टप्रातिहार्य रूप महालक्ष्मी से शोभित हैं। संगीतमय स्तोत्रों से जिनका वर्णन किया जाता है, श्रेष्ठ पुरुषों के नमस्कार से जो पूज्य हैं और जिन्होंने अपने वैभव से अन्य सभाओं को तिरस्कृत कर दिया है।[39] आगे स्तवन का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र देव को नमस्कार करता है वह समस्त कष्टों को मिटाकर अन्त में जन्म मरण के कष्ट को भी दूर कर अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।[40]

अन्य दर्शनों में स्तवन व भक्ति से भगवान प्रसन्न होकर भक्त को कोई न कोई फल अवश्य देता है, परन्तु जैनदर्शन में ऐसी मान्यता है कि जिनेन्द्र की भक्ति भक्त को कुछ भी देती या लेती नहीं है, क्योंकि जिनेन्द्र देव स्वयं परम वीतरागी हैं। उन्हें न किसी से राग है और न द्वेष। द्वेष का अभाव होने

से वीतरागी किसी की निन्दा से अप्रसन्न या क्षुभित नहीं होते है और न किसी को किसी भी प्रकार का दण्ड देने की व्यवस्था रखते हैं। निन्दा स्तुति और भक्ति ईर्ष्या दोनों के प्रति वह उदासीन हैं। परन्तु विचित्रता यह है कि स्तुति और निन्दा करने वाला स्वतः अभ्युदय और दण्ड को प्राप्त कर लेता है।[41]

समन्तभद्र के स्तोत्र और भक्तितत्व

आचार्य समन्तभद्र वाग्मि नैयायिक और दार्शनिक पंडित थे। भगवद् भक्ति में लीन होकर चौवीसों तीर्थंकरों के गुणों का गान करने के लिए उन्होंने विभिन्न स्तोत्रों की रचना की है। जिनमें स्वयम्भूस्तोत्रम् एवं स्तुतिविद्या दोनों स्तोत्र भक्तितत्व से परिपूर्ण एवं असीम आनन्दोत्पादक हैं। अतः हम आचार्य समन्तभद्र को एक सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि के रूप में भी देखते हैं।

भक्ति शब्द भज्+क्तिन् से बना है। **स्त्रियां क्तिन्**[42] के अनुसार स्त्रीलिंग बनाने के लिए क्तिन् प्रत्यय का विधान आचार्य पाणिनी ने किया है। क्तिन् प्रत्यय भाव अर्थ में होता है, किन्तु वैयाकरणों के यहां कृदन्तीय प्रत्ययों के अर्थ परिवर्तन एक प्रकिया के अंग हैं। अतः वही क्तिन् प्रत्यय अर्थान्तर में भी हो सकता है। इस प्रकार भक्ति शब्द की **भजनं भक्तिः, भज्यते अनया इति भक्तिः भजन्ति अनया इति भक्तिः** इत्यादि व्युत्पत्तियां भी की जा सकती हैं। भक्ति शब्द का प्रयोग सेवा, श्रद्धा, अनुराग, पूजा, स्तुति, स्तवन आदि के रूप में भी होता है।

भक्ति और सेवा

भज् धातु का अर्थ सेवा भी होता है।[43] **अभिधानराजेन्द्र** कोष में **सेवायां भक्तिर्विनयः** लिखकर भक्ति का अर्थ सेवा के साथ विनय भी किया गया है।[44] **आचार्य उमास्वामी** ने तत्त्वार्थसूत्र में विनय के चार भेद किये हैं। उसमें उपचार विनय का सेवा से मुख्य सम्बन्ध है।[45] **आचार्य पूज्यपाद** ने उपचार विनय, आचार्यों के पीछे चलना, सामने आने पर खड़े हो जाना और अंजलि बांधकर नमस्कार करने को कहा है।[46] **निशीथचूर्णि** में भी कहा है कि आचार्यों के सम्मान में खड़े हो जाना, दण्ड ग्रहण करना, पांव पौंछना,

आसन देना आदि जो सेवा है वह ही भक्ति है।[47] आचार्य शान्तिसूरि लिखते हैं कि सुर और सुरपति भक्तिवश से अंजलिबद्ध होकर जो भगवान महावीर को नमस्कार करते हैं, वही सेवा है।[48]

विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्य कुन्दकुन्द ने वैयावृत्य को भी भक्ति कहा है। उनका कथन है कि हे मुने, भक्तिपूर्वक अपनी शक्तिभर जिनभक्ति में तत्पर हो दशभेद वाले वैयावृत्य को सदा करो।[49] यह वैयावृत्य भगवान की सेवा ही है। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि गुणानुराग से संयमियों की आपत्तियों को दूर करना, उनके चरणों को दबाना और जो भी उनका उपग्रह हो सके सब वैयावृत्य कहलाता है।[50] उन्होंने वैयावृत्य में ही देवाधिदेव चरणे परिचरणं को भी लिया है। आचार्य शिवार्य ने भी भगवती आराधना में लिखा है कि अरहन्त भक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्य उपाध्याय, सर्वसाधुभक्ति एवं निर्मल धर्म में भक्ति ये सम्पूर्ण भक्ति के अन्तर्गत है। इसलिए रत्नत्रय धारकों की भक्ति करना सभी धर्म साधकों की भक्ति करना है।[51]

भक्ति और स्तुति

जहां भक्ति का अर्थ सेवा वैयावृत्य आदि है, वहीं स्तुति आराध्य के गुणों की, लघुता पूर्वक प्रशंसा करने में पूर्ण होती है। लोक में अतिशयोक्ति पूर्ण गुणों की प्रशंसा को ही स्तुति कहा गया है। यह परिभाषा जिन में अनन्त गुण पाये जाने से अपूर्ण सी दिखती है, पर इसका समाधान देते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि थोड़े गुणों का उल्लंघन करके बहुत्व कथा वाली स्तुति भगवान जिनेन्द्र पर नहीं घटती है, क्योंकि गुण बहुत हैं, जिनको कहना मात्र भी सम्भव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अपनी लघुता दिखाते हुए भगवान की प्रशंसा करना स्तुति है।[52]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनेन्द्र भगवान भक्ति से प्रसन्न और भक्ति न करने वाले से नाराज नहीं होते क्योंकि वे वीतरागी हैं। वीतरागी देव की चाहे भक्ति की जाये या वैयावृत्य अथवा स्तुति उन्हें कोई राग नहीं होता, फिर भी भक्त की सभी मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इस रहस्य को स्पष्ट

करते हुए **आचार्य समन्तभद्र** कहते हैं – भगवान जिनेन्द्र के गुणों का सतत स्मरण और आराध्यमय हो जाने की चाह हृदय में पवित्रता का संचार करती है और उस पवित्रता से पुण्य प्रसाधक परिणाम बढ़ते हैं।[53] पुण्य प्रकृतियां चक्रवर्ती तक की विभूति देने में समर्थ हैं, फिर भक्त की कामनाएं कितनी हैं। वीतराग भगवान भले ही कुछ न देता हो किन्तु उसके सान्निध्य में वह प्रेरक शक्ति है जिससे भक्त स्वयं सब कुछ पा लेता है।

भक्ति और श्रद्धा

भक्ति के पर्यायवाची शब्दों में श्रद्धा को प्रथम स्थान प्राप्त है। **हेमचन्द्राचार्य** ने प्राकृत व्याकरण में भक्ति को श्रद्धा भी कहा है।[54] आचार्य समन्तभद्र ने **रत्नकरण्डश्रावकाचार** में श्रद्धान और भक्ति को एक ही अभिप्राय में प्रयोग किया है । सम्यग्दर्शन का महत्त्व बताते हुए उन्होंने लिखा है कि जिनेन्द्र के भक्त अप्सराओं की परिषद् में चिरकाल तक रमण करते हैं एवं जिनेन्द्र भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है इत्यादि।[55] आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। [56] आचार्य समन्तभद्र आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[57] आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मदर्शन को ही सम्यग्दर्शन कहा है।[58]

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तादि की सच्ची श्रद्धा को सम्यग्दर्शन अवश्य कहा है, पर मात्र श्रद्धा को ही श्रद्धा नहीं माना क्योंकि श्रद्धा, अन्ध श्रद्धा भी हो सकती है। लौकिकता को श्रद्धा न मानकर उन्होंने परमार्थभूत सच्चे, देव, शास्त्र गुरू के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है, वही सुश्रद्धा है। अतः उन्होंने श्रद्धा के स्थान पर सुश्रद्धा का प्रयोग किया है।[59] क्योंकि सुश्रद्धा से ज्ञान चक्षु सदैव खुले रहते हैं। वैसे श्रद्धा ज्ञानपूर्वक होती है, परन्तु सुश्रद्धा एक विशिष्ट ज्ञानपूर्वक होती है। आचार्य समन्तभद्र ने सर्वज्ञ की परीक्षा में इसी विशिष्ट ज्ञान का परिचय दिया है।[60] समन्तभद्र परीक्षा करने के उपरान्त ही भगवान जैनेन्द्र के भक्त बने थे। वस्तुतः भक्ति में दृढ़ता सुश्रद्धा से आती है। वे जिनेन्द्र देव के ऐसे भक्त थे कि उन्होंने जिन भगवान को छोड़कर अन्य किसी देव को नमस्कार नहीं किया। उन्होंने उसी को प्रज्ञ माना जो भगवान जिनेन्द्र का स्मरण करे और उसी को

उत्तम, पवित्र तथा पण्डित स्वीकार किया जो भगवान जिनेन्द्र के चरणों में सदैव नत रहे।[61] उनका विचार था कि वे तपस्वी, सुजन, सुकृति और तेजपति, भगवान जिनेन्द्र की भक्ति से ही बन सके।[62]

भक्ति और अनुराग

आचार्यों ने अनुराग को भी भक्ति के अन्तर्गत माना है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में लिखा है – अरहन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचन में भाव विशुद्धि युक्त अनुराग ही भक्ति है।[63] आचार्य सोमदेव ने लिखा है कि जिनागम, जिन, तप और श्रुत में परायण आचार्य में सद्भाव विशुद्धि से सम्पन्न अनुराग भक्ति है।[64] यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि राग संसार का कारण है। भगवान जिनेन्द्र राग से छूटने का उपदेश देते हैं। वे स्वयं वीतरागी हैं। इसलिए उनके प्रति राग करना कहां तक हितकर है। आचार्य समन्तभद्र इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं कि पूज्य जिनेन्द्र की पूजा करते हुए अनुराग के कारण जो लेशमात्र पाप का उपार्जन होता है वह बहुपुण्य राशि में उसी प्रकार दोष का कारण नहीं बनता जिस प्रकार बिष की एक कणिका शीत शिवाम्बु राशि को अर्थात् ठण्डे जल से भरे हुए समुद्र को दूषित करने में समर्थ नहीं होती है।[65] अर्थात् जिनेन्द्र में अनुराग करने से लेश मात्र ही सही पाप तो होता है किन्तु पुण्य इतना अधिक होता है कि वह थोड़ा सा पाप उसको दूषित करने की सामर्थ्य नहीं रखता।

आचार्य कुन्दकुन्द ने वीतरागियों में अनुराग करने वाले को सच्चा योगी कहा है।[66] उन्होंने यह भी लिखा है कि आचार्य, उपाध्याय और साधुओं में प्रीति करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है।[67] अर्थात् उनकी दृष्टि में वीतरागी में किया गया अनुराग पाप का कारण नहीं है। पर में होने वाला राग ही बन्ध का हेतु है, वीतरागी परमात्मा पर नहीं हैं। निश्चय से स्व आत्मा ही है। आचार्य योगेन्दु ने कहा है कि मोक्ष में रहने वाले भगवान सिद्ध और देह में तिष्ठने वाले आत्मा में कोई भेद नहीं है।[68] आत्मा ही शुद्ध होकर परमात्मा बन जाता है।[69] परमानन्द स्वभाव वाला भगवान जिनेन्द्र ही परमात्मा है और वह ही आत्मा है।[70] जिनेन्द्र में अनुराग करना अपनी आत्मा में ही अनुराग करना है। आत्मप्रेम ही आत्मशुद्धि है और आत्मशुद्धि से ही

मोक्ष प्राप्त होता है। जिनेन्द्र देव में होने वाला अनुराग ही मोक्ष प्रदाता है। अतः आचार्य पूज्यपाद ने आठ कर्मों का नाश कर आत्म स्वभाव को साधने वाले भगवान सिद्ध से मोक्ष की प्रार्थना की है।[71] जो राग संसार के सुखों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है वह बन्ध का कारण है परन्तु जो अनुराग निष्काम किया जाता है उसमें बन्ध की शक्ति नहीं होती है। वीतरागी की वीतरागता ने ही भक्त को आकर्षित किया है। अतः वीतरागता पर आकर्षित होने वाले वीतरागता प्राप्त करेंगे, क्योंकि वह आकर्षण एकांगी होता है। इसलिए वह बन्ध का कारण नहीं हो सकता है, निष्काम भक्ति या अनुराग मुक्ति का कारण है।

निष्काम अनुराग का फल

जिनेन्द्र देव वीतरागी हैं वे भक्त को कुछ नहीं देते पर उनका भक्त सब कुछ पा लेता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं वीतरागी शुद्धात्मा संसार के किसी भी कार्य का कर्ता या भोक्ता नहीं है।[72] आचार्य समन्तभद्र ने भी लिखा है –

> **न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।**
> **तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः।।**

अर्थात् वीतरागी भगवान को पूजा वन्दना से कोई हर्ष विषाद नहीं है क्योंकि वे सभी रागों से रहित हैं। निन्दा से उनका कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि उनमें से वैरभाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलों से पवित्र करता है।[73]

भगवान वीतरागी आत्मस्वरूप में लीन हैं। उन्हें यह ज्ञात ही नहीं होता कि कौन उनकी भक्ति कर रहा है किन्तु उन्हीं के गुणों के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र बना और पापमल गले। अतः वह तो उन्हें कर्ता कहता है, पर यह सब निमित्तजन्य कर्तृत्व है। आचार्य पूज्यपाद ने भी लिखा है कि जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न तथा कल्पवृक्ष आदि अचेतन हैं फिर भी पुण्यवान् पुरुष को उनके पुण्योदय के अनुसार फल देते हैं। उसी प्रकार सिद्ध भगवान या अरहन्त भगवान रागद्वेष से रहित होने पर भी भक्तों को उनकी भक्ति के अनुसार फल देते हैं।[74]

प्रश्न है कि भगवान के पुण्य गुणों का स्मरण भावों को पवित्र करने में कारण कैसे हैं, इसका उत्तर जैनधर्म के कर्म सिद्धान्त से प्राप्त होता है। कर्म दो प्रकार के होते हैं – एक शुभ एवं दूसरा अशुभ। दोनों ही आस्रव के कारण हैं। दोनों का सम्बन्ध मन, वचन और काय से है। जब क्रिया शुभ होती है तब शुभबन्ध होता है और जब अशुभ होती है तब अशुभ बन्ध होता है।[75] भगवान जिनेन्द्र में अनुराग करना एक शुभ क्रिया है। अतः उससे पाप कर्मों का नाश और शुभ कर्मों का उदय होगा ही।

आचार्य समन्तभद्र भी यही लिखते हैं कि स्तुति के समय स्तुत्य चाहे प्रस्तुत रहे या न रहे, फल की प्राप्ति भी उसके द्वारा होती हो या न होती हो परन्तु साधु स्तोता की स्तुति कुशल परिणाम की कारण अवश्य है। वह कुशल परिणाम अथवा तज्जन्य पुण्यविशेष श्रेयफल का दाता है।[76] यहां कुशल परिणाम का अर्थ पुण्यसाधक परिणाम हैं अर्थात् भक्तिपूर्वक की गयी स्तुति पुण्यवर्द्धक कर्मों को जन्म देती है। पुण्यवर्द्धक कार्य परम्परा से मोक्ष के कारण होते हैं ऐसा भी आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है।[77]

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र रचित स्तोत्रों में काव्य तत्त्वों के साथ साथ भक्ति तत्त्व का भी प्राधान्य है।

सन्दर्भ

1. इन्सा.रि.ए.वाल्यूम, 1.2, 1974पृ.3
2. स्वय. 3.5
3. वहीं, 6.5
4. जैन,हीरालाल,भा.सं.जै.यो.पृ. 122
5. संघवी, सुखलाल, द.चि. 2.177
6. जैन,ही.ला.भा.सं.जै.यो.पृ.123
7. वहीं, पृ. 123
8. शास्त्री, कै.च. जैन सा. इति. पृ. 263
9. दृष्टव्य, सन्दर्भ सूचि
10. स्वय 18.1. 10 क युक्त्य. 2
11. हलायुध, 145
12. वहीं, 145
13. अ. रा. भाग 7
14. अ. को. पृ. 224
15. मूला. गाथा 24
16. आ. सू. गुरूवन्दन पृ.3
17. चेइयवंदणमहाभासं पृ. 150
18. History ofIndian literature p.34
19. वहीं, पृ.34, 35
20. वहीं, पृ. 49
21. युक्त्य. 64

22. स्वय. 70
23. वहीं, 25
24. वहीं, 115
25. वहीं, 5
26. वहीं, 7
27. वहीं, 105
28. वहीं, 128
29. वहीं, 80
30. वहीं, 27
31. युक्त्य. 63
32. स्वय. 116
33. वहीं, 70
34. वहीं, 2
35. अनेकान्त,वर्ष,14
किरण 7पृ.193
36. स्तु. 67
37. उत्तराध्ययन सूत्र
38. वहीं, अ. 29 सूत्र 14
39. स्तु. 10
40. वहीं 11, 12
41. स्वय. 14.4
42. अष्टाध्यायी सूत्रपाठ 3.3.94
43. पाइअसद्दमहण्णव, पृ079644.
पां. भा. पृ. 1365
45. त. सूत्र 9. 23
46. स. सि. पृ.442
47. निशीथचूर्णि, पृ. 130
48. चेइयवंदणमहाभासं, पाद टिप्पण
49. अष्टपाहुड
50. स. ध. पृ. 148
51. भगवती आराधना भाष्य 22
52. स्वय. 18. 1
53. वहीं, 116
54. प्राकृत व्याकरण 2.159
55. स. ध. 41
56. त. सूत्र 1. 2
57. स. ध. 4
58. समयसार गाथा,
59. स्तु. 11
60. स्वय. 130
61. स्तु. 113
62. वहीं, 114
63. स. सि. 6. 24
64. यशस्तिलकचम्पू 19. 215
65. स्वय. 12. 3
66. अष्टपाहुड, गाथा 52
67. समयसार गाथा 235
68. परमात्म प्रकाश 26
69. वहीं, 174
70. वहीं, 197
71. वहीं, 197
72. समयसार गाथा 2. 65
73. स्वय. 12. 2
74. दशभक्त्यादि संग्रह पृ. 59
75. त. सूत्र 6. 3
76. स्वय. 21. 1
77. स्तु. 116

□□□

परिच्छेद द्वितीय

आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्रों का परिचय

समन्तभद्र की उपलब्ध कृतियों में प्रमुख रूप से स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या ये दो पूर्ण स्तोत्र कृतियां हैं, क्योंकि इनमें स्तुति के लक्षण के अनुसार आदि से लेकर अन्त तक जिन के गुणों की उत्कर्षता का भक्ति पूर्वक वर्णन किया गया है। युक्त्यनुशासन और देवागम भी स्तोत्र हैं। जैसा कि युक्त्यनुशासन को वीरस्तुति, वीरस्तोत्र,[1] परमेष्ठीस्तोत्र और परमात्मस्तोत्र[2] के नाम से तथा आप्तमीमांसा या देवागम को देवागमस्तोत्र[3] के नाम से अभिहित किया है। पर ये कृतियां स्तुति ग्रन्थ होते हुए भी इनमें जिनके गुणों की उत्कर्षता का वर्णन कम तथा दार्शनिक विषयवस्तु अनेकान्त, स्याद्वाद, विभिन्न एकान्तों का समीक्षण, प्रमाण, प्रमेय, नय आदि का विवेचन प्रचुरता एवं प्रमुखता से किया गया है।[4] इसलिए इन कृतियों को हम प्रमुख रूप से दार्शनिक कृतियां मानकर उनका विशेष परिचय एवं विवेचन दार्शनिक विषयवस्तु के प्रसंग में आगे स्वतंत्र अध्यायों में करेंगे।

स्वयम्भूस्तोत्र

स्वयम्भूस्तोत्र समन्तभद्र की एक अनुपम रचना है, उसमें पुराण, इतिहास, दर्शन एवं न्याय के जटिल विषयों को स्तुति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में जो पौराणिक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, वे बाद के पुराणों तथा काव्य ग्रन्थों के आधार बने।

समन्तभद्र की अन्य कृतियों की तरह **स्वयम्भूस्तोत्र** नाम भी स्तोत्र के स्वयम्भू पद से प्रारम्भ होने के कारण पड़ा है।[5] इस स्तोत्र के बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रम्[6] और समन्तभद्रस्तोत्रम्[7] नाम भी प्राप्त होते हैं। ग्रन्थ में बृषभ आदि चौवीस तीर्थंकरों के जीवनवृत्त तथा उनके दार्शनिक चिन्तन को सन्दर्भ में रखकर उनकी स्तुति की गयी है। स्वयम्भूस्तोत्रम् में 143 पद्य हैं। प्रथम पांच पद्यों में बृषभनाथ की स्तुति की गयी है। इसके बाद क्रमशः पांच पांच पद्यों में अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, सुविधि, शीतल श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति और कुन्थु जिन की

स्तुति है। तत्पश्चात् बीस पद्यों में अर, पांच पांच पद्यों में मल्लि, मुनिसुव्रत और नमिजिन, दश पद्यों में अरिष्टनेमि, पांच पद्यों में पार्श्व और अन्तिम आठ पद्यों में वीर जिन का स्तवन किया गया है।

स्वयम्भूस्तोत्रम् में वंशस्थ, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पथ्यावक्त्र, अनुष्टुप, सुभद्रा, मालतीमिश्र, वनवासिका, वैतालीय, शिखरिणी, उदगाता और आर्यागीति आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है। उपमा, रूपक आदि अर्थालंकारों और अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। विभिन्न स्तुतियों का विवरण अधोलिखित है

वृषभ

इस स्तोत्र के आदि के पांच पद्यों में वृषभ जिनकी स्तुति की गयी है। प्रथम पद्य में उन्हें उपदेश के विना ही मोक्षमार्ग जान लेने के कारण स्वयम्भू कहा गया है। उन्होंने बिना किसी गुरू के वैराग्य प्राप्त कर अर्हन्त पद की प्राप्ति की थी। वे प्राणियों के हितकारक केवलज्ञान विभूति रूपी नेत्र से युक्त और अज्ञानान्धकार के नष्टकर्ता थे। इस पृथ्वीतल पर वे इस तरह शोभायमान थे, जिसप्रकार अर्थप्रकाशकत्व आदि गुणों से युक्त किरणों के द्वारा अन्धकार को विनष्ट करता हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है। द्वितीय पद्य में उन्हें प्रजापति कहा गया है। तीन लोक की समस्त प्रजा के स्वामी होने के कारण वे प्रजापति* कहलाते थे। उन्होंने सर्वप्रथम अपने ज्ञान के बल से जीवित रहने की इच्छुक प्रजा को कृषि आदि आजीविका के उपयोगी कार्यों में शिक्षित किया था।

तृतीय पद्य में वृषभ को इक्ष्वाकु कुल* का आदि पुरूष तथा प्रभु कहा है। उन्होंने समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन किया। बाद में धनधान्य से परिपूर्ण वसुधा रूपी स्त्री को पतिव्रता स्त्री के समान त्याग कर दीक्षा ग्रहण कर ली। इस पद्य में ऋषभ को अच्युत, मुमुक्षु आत्मवान् और सहिष्णु विशेषण दिये गये हैं। चतुर्थ पद्य में बताया गया है कि उन्होंने दीक्षा लेने के उपरान्त अपनी योगविद्या – समाधि के तेज से समस्त दोषों को समूल

नष्ट कर दिया था। पश्चात् तत्त्वज्ञान के इच्छुक व्यक्तियों के लिए तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन किया । अन्त में वे ब्रह्मपदामृतेश्वर मोक्ष पद के स्वामी हुए। पंचम पद्य में उनको विश्वचक्षु, समग्रविद्यात्मवपु, नाभिनन्दन, जिन आदि कहकर चित्त की पवित्रता की कामना की गयी है।

अजित

अजित जिन को स्वर्ग से अवतीर्ण बताते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि अजित के प्रभाव से उनका बन्धुवर्ग भी सदा अजेय रहता था इसलिए उनके प्रभाव के अनुरूप ही अजित यह सार्थक नाम रखा गया। यही कारण है कि मंगल के रूप में आज भी उनका स्मरण किया जाता है। 6,7 महामुनि अजित भव्य जनों के हृदयमें संलग्न अज्ञान रूप कलंक की शान्ति के लिए प्रभुत्व शक्ति की प्रचुरता से इस तरह प्रगट हुए थे जिस प्रकार मुक्तघनोपदेह–मेघ रूप आच्छादन से मुक्त सूर्य, कमलों के अभ्युदय के लिए प्रकट होता है।तथा सूर्य के आताप से पीडित बड़े बड़े हांथी चन्दन के द्रव की तरह शीतल गंगाह्रद के जल में अपने संताप को दूर करते है।उसी प्रकार धर्मतीर्थ के प्रवर्तक अजित भी भव्य जीवों के संसार के दुःख को दूर करने वाले हैं। अन्त में अजित की ब्रह्मनिष्ठ सममित्र–शत्रु आत्मा रूपी लक्ष्मी के प्राप्त कर्ता अजित, जितात्मा और भगवान बताया गया है।– 8 – 10

संभव

संभव जिनस्तवन में संभव नाम की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि वे शं– शान्ति अथवा सुख के भव उत्पादक हैं। सांसारिक भोग तृष्णा रूप रोगों को दूर करने के लिए वैद्य तथा स्याद्वाद अनेकान्त मत का निरूपण करने वाले होने के कारण वे ही शास्ता हैं। इसलिए इनके मत में ही बन्ध मोक्ष और बन्ध और मोक्ष के हेतु बद्ध और मुक्त आत्मा तथा मुक्ति फल बन सकते हैं, अन्य के मत में नहीं। इस प्रकार संभवनाथ के महत्त्व के प्रतिपादन के बाद स्तवन के अन्त में बताया है कि इन्द्र भी जब आपकी स्तुति करने में असमर्थ रहा है, तो मेरा जैसा अज्ञानी पुरूष स्तवन करने

में कैसे समर्थ हो सकता है। इसलिए स्तोता के लिए सुख संतति को प्रदान करें।–11 –15

अभिनन्दन जिन

अभिनन्दन यह नाम गुणों की अभिवृद्धि होने के कारण अपने नाम की सार्थकता को लिए हुए है। अभिनन्दन ने क्षमा रूपी सखी सहित दयारूपी वधु का आश्रय लिया तथा समाधि को प्रधान लक्ष्य बनाकर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करके निर्ग्रन्थ वृत्ति को धारण किया। इसी स्तवन में बताया गया है कि अभिनन्दन का मत यह प्रतिपादित करता है कि आसक्तपना मनुष्य को ताप उत्पन्न करने वाला है तथा वैषयिक सुख से तृष्णा की वृद्धि होती है। इसलिए अभिनन्दन जिन का मत ही लोक कल्याणकारी है।–16–20

सुमति

सुमति जिनस्तवन में कहा गया है कि सुमति यह नाम उत्तम बुद्धि होने के कारण सार्थक है। मुनि होने के कारण और भी इस नाम की सार्थकता है, क्योंकि आपने स्वयं ऐसे मत का प्रतिपादन किया है जिसमें समस्त किया, कारकों आदि की सिद्धि बन जाती है। अन्य मतों में किया कारक आदि की सिद्धि सम्भव नहीं है। – 21 सुमति का सुयुक्ति नीतितत्त्व एक तथा अनेक रूप है, सत् तथा असत् रूप है एवं विधि निषेध रूप है। सत् कथंचित् असत् है जैसे पुष्प का अस्तित्व वृक्ष पर है, परन्तु आकाश में पुष्प का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार पदार्थ में परस्पर विरोधी सत् और असत् रूपता स्वभाव विद्यमान है। सतासत् दोनों प्रकार के स्वभाव से तत्त्व को च्युत मानना अप्रमाण है। – 22, 23 सर्वथा नित्य पक्ष में उत्पाद और व्यय तथा किया और कारक की व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती और न सत् का विनाश। यह कहना भी नितान्त गलत है कि जलता हुआ दीपक बुझा देने पर उसमें कुछ भी शेष नहीं रहता। इसलिए सत् का नाश होता है, क्योंकि इसका समाधान यह दिया गया है कि दीपक अन्धकार रूप पुद्गल द्रव्य के रूप में अवस्थित रहता है। विधि और निषेध कथंचित् दोनों इष्ट हैं। वक्ता की इच्छा से उनमें मुख्य और

गौण की व्यवस्था होती है। इस प्रकार यह सुयुक्तिनीतितत्त्व की पद्धति सुमतिजिन की बतायी गयी है। – 24, 25

पद्मप्रभ

पद्मप्रभ यह नाम उनके शरीर का वर्ण कमल के समान होने के कारण पड़ा है। अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से युक्त होने के कारण पद्मप्रभ की मूर्ति अत्यन्त सुन्दर थी। सर्वज्ञावस्था से पूर्व उन्होंने सरस्वती और लक्ष्मी को धारण किया था। पश्चात् कर्मों का विनाश कर सर्वज्ञता की प्राप्ति की थी। जिसप्रकार पद्मराग मणि के पर्वत की प्रभा अपने पार्श्वभाग को आलिप्त कर रखती है उसी प्रकार पद्मप्रभ के शरीर सम्बन्धी किरणों के समूह ने मनुष्य और देवों से व्याप्त सभा को आलिप्त कर रखा था। – 26, 28 इनके विहार के समय का अतिशय महान् था। उन्होंने कामदेव के दर्प को दूर करने वाले तथा सहस्रदल कमलों पर चलने वाले अपने चरणकमलों के द्वारा आकाश को पल्लव बनाकर प्रजा की विभूति हेतु ही विहार किया था। ऐसे अतिशय युक्त जिनकी स्तुति करने के लिए जब इन्द्र भी असमर्थ रहा तब मुझ – स्तोता जैसा अल्पज्ञ उनकी स्तुति करने में कैसे समर्थ हो सकता है।– 29, 30

सुपार्श्व

आत्यन्तिक स्वास्थ्य से युक्त होने के कारण सुपार्श्व नाम सार्थक हुआ। सच्चा स्वास्थ्य वही है जो अन्त रहित हो । भोग एवं स्वार्थ स्वास्थ्य नहीं हैं क्योंकि वह नश्वर है। जीव के द्वारा धारण किया शरीर जड़ है, दुर्गन्ध युक्त है और विनश्वर है। अतः शरीर में अनुराग करना व्यर्थ है। – 31, 32 अन्तरंग और बहिरंग कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिंग है ऐसी भवितव्यता की शक्ति अलंघ्य है। अहंकारी व्यक्ति इस भवितव्यता की उपेक्षा कर तथा अन्य सहकारी कारणों से मिलकर भी इसकी शक्ति को टाल नहीं सकता। जीव मरण से डरता है पर उससे छुटकारा नहीं मिलता , मोक्ष चाहता है पर उसकी प्राप्ति नहीं होती। इस सबका कारण भवितव्यता है। फिर भी यह जीव निष्प्रयोजन दुःखी रहता हैं। समन्तभद्र लिखते हैं कि हे, सुपार्श्व, आप सर्वज्ञ हैं, प्रमाता हैं, भव्यों के

नेता हैं एवं माता की तरह उपदेश देने वाले हैं। अतः मैं आपकी स्तुति करता हूं।– 33, 34 एवं 35

चन्द्रप्रभ

चन्द्रमा की किरणों की तरह गौरवर्ण, सुन्दर तथा कान्ति के धारक होने के कारण चन्द्रप्रभ नाम को सार्थक करने वाले बड़े जनों से अभिवन्द्य हैं। ऋषियों के स्वामी होने के कारण ऋषीन्द्र हैं तथा कर्मों के जीतने वाले होने के कारण जिन हैं। उन्होंने अंग रूपी लक्ष्मी के परिवेश से बाह्य अन्धकार और ध्यान रूपी अग्नि से अन्तरंग अन्धकार नष्ट कर दिया है।–36, 37 जिसप्रकार सिंह की गर्जनाओं से मतवाले दिग्गज भी मद रहित हो जाते हैं उसी प्रकार चन्द्रप्रभ के वचन रूपी सिंहनादों के द्वारा अपने मत को सिद्ध करने वाले प्रवादी भी गर्व रहित हो जाते हैं।–38 वे केवलज्ञानरूपी चक्षु से युक्त थे। उनका शासन समस्त दुःखों का क्षय करने वाला है एवं उनके वचन समस्त दोष रहित न्यायरूप किरणों की माला से युक्त पवित्र है।–39, 40

सुविधिनाथ

सुविधि द्वारा प्रतिपादित तत्त्व तत् अतत् स्वभाव से युक्त, कथंचित् तद् अतद् रूप, विधि निषेध रूप प्रमाण से सिद्ध है। अन्यत्व या अनन्यत्व रूप में सर्वथा एकान्त मानने पर शून्यता का दोष आता है। गौण और मुख्य अर्थ के प्रतिपादन के लिए नित्य अनित्य आदि के साथ स्यात् निपात् का प्रयोग करना चाहिए। यही कर्म रूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले सुविधि जिन के वाक्य का लक्षण है।–41–45

शीतलनाथ

शीतल जिन के वचन शीतल–शान्ति स्वरूप होने के कारण शीतल नाम को सार्थक करते हैं। उन्होंने वैषयिक सुखों की अभिलाषा रूप अग्नि की दाह से मूर्च्छित अपने मन को ज्ञानामृत रूप जल के द्वारा शान्त किया था। –46, 47 ये अन्य लौकिक प्राणियों की अपेक्षा विशिष्ट हैं। लौकिक जन तो

दिन में काम करके रात्रि में सोते हैं, आप अप्रमत्त हो आत्म साधना के मार्ग में जागृत रहते हैं। आप केवलज्ञान से युक्त जन्म मरण से रहित हैं। इसके विपरीत अन्य देव अंशमात्र ज्ञान होने पर विनाश को प्राप्त हुए हैं।–48–50

श्रेय

श्रेयस्तवन में श्रेय नाम की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि नाम के अनुरूप श्रेय ने प्रजा को कल्याणकारी मोक्षमार्ग में हितकारी उपदेश दिया है और इस प्रकार मेघों के आवरण से रहित सूर्य के समान प्रकाशवान वे अकेले ही हैं। प्रमाण और नय रूप उनका मत है। कथंचित् विधिरूप और कथंचित् तादात्म्य से प्रतिषेधरूप प्रमाण का विषय है। इन विधि और प्रतिषेध में एक प्रधान और दूसरा गौण होता है। मुख्य के नियम का हेतु नय है और वह नय दृष्टान्त का समर्थन करने वाला है।–51, 52 विवक्षित पदार्थ मुख्य और अविवक्षित पदार्थ गौण कहलाते हैं, अविवक्षित अभाव रूप नहीं होता। मुख्य और गौण की इस विधि से पदार्थ शत्रु मित्र और अनुभव शक्तियों से युक्त होते हैं। वादी और प्रतिवादी के विवाद में दृष्टान्त की सिद्धि होने पर साध्य सिद्ध हो जाता है परन्तु दृष्टान्त भूत ऐसी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती जो सर्वदा एकान्तवाद का नियमन करे क्योंकि अनेकान्त मत में सभी साध्य, साधन और दृष्टान्त समाहित हैं। एकान्त दृष्टि के निषेध की सिद्धि न्याय रूप वाणों के द्वारा होती है। अर्हन्त स्तुति करने योग्य इसलिए हैं कि वे मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर कैवल्य रूप विभूति के सम्राट हो गये हैं।– 53–55

वासुपूज्य

कल्याणकारी अभ्युदय क्रियाओं में पूज्य होने के कारण वासुपूज्य कहलाते हैं। इनके वीतराग होने के कारण पूजा या निन्दा कोई अर्थ नहीं रखते, फिर भी पुण्य गुणों का स्मरण मन को पाप रूपी अंजन से पवित्र रखता है। पूजन में होने वाली अल्प हिंसा दोष का कारण नहीं है, क्योंकि वह अल्प मात्रा का पाप बहुत बड़ी पुण्य राशि में उसी प्रकार दोष में समर्थ नहीं हो सकती जिस प्रकार कि बिष की एक कणिका शीतल और आह्लादकारी

जल से युक्त समुद्र में दोष उत्पन्न नहीं कर सकती ।–57–58 अन्तरंग कारण की समर्थता बताते हुए कहा गया है कि बाह्य वस्तु पुण्य पाप आदि रूप उपकार अपकार की उत्पत्ति का निमित्त होती है। वह अन्तरंग में वर्तने वाले गुण दोषों की उत्पत्ति के अभ्यन्तर मूल हेतु की सहकारी कारणभूत होती है। केवल अन्तरंग कारण भी अकेला जीवादि किसी द्रव्य का परिणाम भी गुण दोष की उत्पत्ति में समर्थ नहीं है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों की पूर्णता द्रव्यगत स्वभाव है अन्य प्रकार से घटादि विधि भी घटित नहीं होती है।–59–90

विमल जिन

विमल स्तवन में बताया गया है कि परस्पर निरपेक्ष नित्य क्षणिकादि नय स्व औ़र पर का नाश करने वाले होते हैं। यही नय परस्पर सापेक्ष होकर स्व और पर का उपकार करते हैं। जिस प्रकार एक एक कारक अपने सहायक अन्य कारकों की अपेक्षा करके कार्य की सिद्धि के लिए समर्थ हाते हैं। उसी प्रकार सामान्य और विशेष से उत्पन्न तथा गौण एवं मुख्य से कल्पित नय अर्थ की सिद्धि के लिए समर्थ होते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी पर स्व और पर को प्रकाशित करने वाला ज्ञान रूप लक्षण से युक्त प्रमाण होता है। उसी प्रकार परस्पर अपेक्षा रखने वाले अभेद और भेद ज्ञान से प्रसिद्ध सामान्य और विशेष की समग्रता विद्यमान है।–61–63 विशेषण विशेष्य का स्वरूप बताते हुए स्तुतिकार कहते हैं कि वाच्यभूत विशेष्य का वह वचन जिससे विशेष्य नियमित होता है विशेषण कहलाता है और जो नियमित होता है उसे विशेष्य कहते हैं। यहां विशेषण और विशेष्य में, सामान्य के प्रसंग से वचने के लिए स्यात् पद का प्रयोग किया जाता हैं, जिससे विवक्षित विशेषण विशेष्य से अविवक्ति विशेषण विशेष्य का परिहार हो जाता है। प्रस्तुत स्यात् पद का फल कहा गया है कि स्यात्पदरूपी सत्य से चिह्नित विमल द्वारा प्रतिपादित नय रस से अनुलिप्त लोह धातुओं के समान इष्ट गुणों से युक्त होते हैं।–64,65

अनन्तजिन

अनन्त रागादि के कारण मोह को जीतने के कारण अनन्तजिन् कहे जाते हैं। कामदेव के दर्प को विनष्ट कर इन्होंने सर्वज्ञ पद की प्राप्ति की थी।

उनके प्रभाव से भक्त जनों को सुभगत्व की प्राप्ति होती है तथा उनके दोषी व्यक्तियों का क्विप् प्रत्यय की तरह विनाश हो जाता है।–66–70

धर्मजिन

निर्दोष धर्म रूपी तीर्थ का प्रवर्तन करने के कारण विद्वानों द्वारा इन्हें सार्थक धर्म नाम से अभिहित किया गया । उन्होंने तप के द्वारा कर्मरूपी वन को नष्ट कर एवं शाश्वत सुख को प्राप्त कर शंकर नाम को प्राप्त किया था। वे देह के ममत्व से रहित देव और मनुष्यों को मोक्षमार्ग के उपदेष्टा थे। उनके द्वारा देव मानव आदि को उपदेश एवं अन्य प्रवृत्तियां, विहार आदि विना इच्छा के ही हुए थे। उनका स्वभाव मानवातिकान्त था इसलिए ये परम देवता और सभी के कल्याणकर्ता थे।–71–75

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ के इस स्तवन में उनके गृहस्थ जीवन से लेकर दीक्षोपरान्त तक के जीवनवृत्त का संकेत प्राप्त होता है कि वे शत्रुओं के विजेता, प्रजा के रक्षक और अतुल पराकमी राजा थे। वे कल्याणकों की परम्परा से युक्त थे। उन्होंने शत्रुओं को भय उत्पन्न करने वाले चक से समस्त राजाओं को जीतकर चकवर्ती पद की प्राप्ति की थी। पश्चात् समाधि चक्र से दुर्जय मोह चक को जीता था।–76, 77 जो शान्तिजिन गृहस्थावस्था में राजाओं में श्रेष्ठ सभी राज वैभव का सुखोपभोग करने वाले तथा राजलक्ष्मी से युक्त थे, वही वीतराग अवस्था में आत्माधीन होते हुए देव और असुरों की महती सभा में अर्हन्त लक्ष्मी से सुशोभित हुए। शान्तिजिन के राजा होने पर राज समूह बद्धांजलि हुआ, मुनि होने पर धर्मचक अधीन हुआ, पूज्य होने पर देवचक अधीन हुआ तथा उनके ध्यानोन्मुख होने पर क्षय को प्राप्त कृतान्तचक – कर्मों का समूह, नत हुआ था। इस प्रकार शान्तिजिन जिन्होंने शान्ति प्राप्त कर ली है, वे शान्तिविधाता, कर्मशत्रुअ। ५ जता– जिन, भगवान और शरण प्रदाता हैं।–78–80

कुन्थुजिन

कुन्थु – सूक्ष्म प्राणी आदि समस्त जीवों पर एक मात्र दया का ही विस्तार होने के कारण उनको कुन्थुजिन कहा गया है। गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती थे

पश्चात् जन्म, जरा और मरण के विनाशभूत मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए उन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। सांसारिक भोगों को क्षणभंगुर तथा मिथ्या समझकर ही उन्होंने त्यागा था। बाद में आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को छोड़कर आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए अत्यन्त कठिन अनशन आदि बाह्य तप का आचरण कर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में लीन हुए। परिणामस्वरूप रत्नत्रय रूपी अग्नि से घातिया कर्म की चार कर्म प्रकृतियों का विनाश कर अनन्तचतुष्टय और अनन्तवीर्य से युक्त लोकालोक के ज्ञाता तथा परमागम के विनेता हुए। उनकी विद्या विभूति इतनी विशाल थी कि लोक पितामह आदि उसकी एक कणिका को भी प्राप्त नहीं कर सकते।यही कारण है कि आर्य, जन्म से रहित अपरिमित स्तुति के योग्य आपकी स्तुति करते हैं।–81–85

अरजिन

अरजिन की स्तुति में समन्तभद्र लिखते हैं कि अल्प गुणों का उल्लंघन कर उनका अधिकता से कथन करना स्तुति है। यद्यपि अर जिन के गुणों की स्तुति करना अशक्य है तथापि पुण्यकीर्ति के धारक मुनीन्द्र के नाम का उच्चारण मात्र भी जब पवित्र करता है तब मैंने भी उनके सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस किया है। चक्रवर्ती होते हुए भी उन्होंने सम्पूर्ण राज्य को मोक्ष प्राप्ति के लिए त्याग दिया था। उनके सौन्दर्य को देखने के लिए इन्द्र ने भी सहस्र नेत्र बनाये थे। उनहोंने मोह और काम को जीतकर तृष्णारूपी नदी निर्दोष ज्ञान रूपी नौका के द्वारा पार किया था। मोह के विनष्ट होने पर उनकी शरीर की कान्ति से बाह्य अन्धकार और ध्यान के तेज से अन्तरंग तम दूर हुआ था।–86–95 अरजिन की पूजा और वचनों के अतिशय के वर्णन में बताया गया है कि उनकी केवलज्ञानरूपी ज्योति प्राणियों को नम्रीभूत कर देती है। उनके वचन सभी भाषाओं में परिणमनशील स्वभावी होने के कारण समवसरण में व्याप्त होने वाला उनके वचन रूपी अमृत सभी को सन्तुष्टि प्रदान करता है। उनका प्रतिपादन अनेकान्त दृष्टि से युक्त होने के कारण यथार्थ है। सर्वथा एकान्त रूप से स्वीकृत तत्त्व सदोष है।–96–101

स्यात् निपात का अर्थ और महत्त्व का कथन करते हुए स्तुतिकार ने लिखा है कि सर्वथा रूप नियम का त्यागी और यथास्वरूप दृष्टि का अपेक्षक स्यात् शब्द अनेकान्त मत के प्रवर्तक के मत को छोड़कर अन्य किसी एकान्त मत में नहीं है। अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनों से युक्त होने के कारण अनेकान्त स्वरूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त स्वरूप और विवक्षित नय से अनेकान्त एकान्त स्वरूप है। इस तरह अरजिन दमतीर्थ के नायक और वरद हैं। उनकी स्तुति पापों को नष्ट करने वाली है।–102–105

मल्लिजिन

मल्लिजिन महर्षि थे।उन्हें समस्त पदार्थों को जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। उनका शरीर स्वर्णमय था। स्यात् शब्द से युक्त उनकी वाणी भव्यों को प्रसन्न करने वाली है। उनके विहार के समय निर्मद हुए एकान्तवादी विवाद नहीं करते थे एवं पृथ्वी विकसित कमलों से युक्त हरी भरी हो जाती थी। उनके चारों तरफ हमेशा शिष्य समुदाय विद्यमान रहता था।उनके शुक्ल ध्यान रूप परम तप की अग्नि से अनन्त अष्टकर्म रूप पाप दग्ध हो गये थे। इसलिए वे जिनसिंह, कृत्यकृत्य और अशल्य कहे जाते हैं।–106–110

मुनिसुव्रत

मुनियों के उत्तम व्रतों की स्थिति को प्राप्त कर लेने के कारण वे मुनिसुव्रत कहलाये और मुनियों में श्रेष्ठ होने के कारण मुनि बृषभ कहे जाते हैं। तप के कारण उनके शरीर की आभा अत्यधिक बढ़ गयी थीं उनका शरीर चन्द्रमा की कान्ति की तरह निर्मल रज रहित तथा सुगन्धित एवं श्वेत वर्ण के रक्त से सुशोभित था। उन्होंने बताया है कि संसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाला है और यही सर्वज्ञता का चिह्न है। आठ कर्मों को नष्ट कर उन्होंने अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति की थी। अतः मुनिसुव्रत जिन ही संसार से पार कराने में सहायक हो सकते हैं।–111–115

नमिजिन

इस स्तवन में स्तुति, स्तोता आदि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि स्तुति, स्तोता के कुशल परिणाम के लिए होती है। इसलिए

स्तुति के समय स्तुत्य न भी रहे तो भी कल्याण के मार्ग में कोई अन्तर नही पड़ता। नमि श्रीमन्, शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थिर चित्त वाले सासारिक बन्धनों के नष्ट कर्ता, मोक्षपद के प्राप्त कर्ता तथा केवलज्ञान के धारण कर्ता होने से स्तुत्य हैं। वे संसार के ज्येष्ठ गुरू हैं उनके द्वारा सापेक्षदृष्टि से प्रतिपादित सप्तभंग रूप तत्व की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है। उसमें बताया गया है कि अनेक नयों की विवक्षा और अविवक्षा से, नियम का त्याग नहीं करने वाले, सदा एक दूसरे की अपेक्षा से रहने वाले अपरिमित विशेषों से युक्त तत्त्व, विधि, निषेध, अवक्तव्य, विधि अवक्तव्य, निषेध अवक्तव्यरूप से सात प्रकार का है।–116–118 नमि को सच्चा अहिंसक सिद्ध करते हुए बताया गया है कि संसार में अहिंसा ही परब्रह्म है। वह अहिंसा आश्रम विधि में सम्भव नहीं है क्योंकि किंचित् भी आरम्भ पाया जाता है वहां अहिंसा की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग करने के कारण नमि जिन अहिंसा के सच्चे पालन कर्ता हैं। इस प्रकार नमि जिन पूर्ण अहिंसक, यथाजातलिंग के विरोधी वेष में अनासक्त, शान्ति के निलय और शरणभूत हैं।–119, 120

अरिष्टनेमि

अरिष्टनेमि ऋषि, कर्मों के भेत्ता, खिले हुए कमलों के समान विशाल नेत्र वाले तथा हरिवंश के प्रधान थे। निर्दोष, दमतीर्थ के नायक, शील के समुद्र, अजर, जिनकुंजर, लोकालोक के प्रकाशक उन्होंने केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष को प्राप्त किया था। मुमुक्षुओं, सुधी, मन्त्रमुखर आदि महर्षियों द्वारा पूज्य उनके शरीर, पाद, नख और अंगुलि आदि का सौन्दर्य अनुपम था। चक्र और चक्र की कान्ति से शोभित स्कन्ध वाले उनके शरीर का वर्ण नील मेघ के समान और व्यक्तित्व समुद्र की तरह गम्भीर था।–124, 125

बान्धव गरुड़केतु और हलभृत ने अपने भाइयों के साथ अरिष्टनेमि के चरणों में प्रणाम किया था। जिस स्थान पर उन्होंने प्रणाम किया था, वह उर्जयन्त पर्वत पृथ्वी का ककुद, विद्याधरों की स्त्रियों से सेवित शिखरों से अलंकृत एवं तट भाग मेघों से घिरा हुआ था। यह पर्वत इन्द्र के द्वारा लिखे गये अरिष्टनेमि के चिह्नों को धारण करने से तीर्थ स्थान है। आज भी वह पर्वत ऋषियों के द्वारा सेवित है। अरिष्ट नेमि के केवलज्ञान से युक्त होने

पर उन्हें बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियां अलग अलग और दोनों प्रकार से न बाधक हैं और न उपकारक। इस प्रकार नमिजिन की स्तुति कर, स्तोता स्वयं को प्रसन्नचित्त मानता है।–126–130

पार्श्वनाथ

समन्तभद्र ने पार्श्वके इस स्तवन में उनकी योगावस्था से लेकर दीक्षा पर्यन्त तक का वर्णन किया है। इसमें उन घटनाओं का भी संकेत है, जो पार्श्व के तपस्या काल में घटीं थीं और अन्त में उनके उग्र वंश का भी उल्लेख किया गया है। पार्श्व जब योगावस्था में लीन थे, उस समय उनके शत्रु ने – जिसने मेघों को वश में कर रखा था–तमाल वृक्ष के समान नील वर्ण, इन्द्र धनुषों रूपी डोरियों से युक्त भयंकर आंधी और वर्षा के साथ मेघों से उपद्रव करवा दिया था। इस भीषण स्थिति में भी महामना पार्श्व विचलित नहीं हुए थे। पार्श्व पर उपसर्ग समाप्त नहीं हुआ था कि इसी बीच धरणेन्द्र नामक नागकुमार ने विजली के समान चमकते हुए बृहद् पीले फणामण्डल रूपी मण्डप से इस तरह वेष्टित कर दिया था, जिस तरह कि काली सन्ध्या के समय बिजली से युक्त मेघ पर्वत को वेष्टित कर लेता है।–131, 132 पार्श्व ने अपने योग बल से मोह का नाश कर अर्हन्त पद को प्राप्त कर लिया था। इस तरह पार्श्व के समस्त कर्मों का नाश और उन्हें ईश्वर के रूप में देखकर वनवासी तपस्वी अपनी साधना को छोड़कर धर्मोपदेशक पार्श्व की शरण में आ गये थे। इस प्रकार प्रभाव से युक्त पार्श्व सत्यविद्याओं तथा तपस्याओं के प्रणेता केवलज्ञान के धारक, उग्रवंशरूपी कुल के चन्द्रमा और मिथ्यामार्गियों कुदृष्टियों के विभ्रम के नष्टकर्ता थे।–133–135

वीरजिन

इस स्तवन में सर्वप्रथम वीर की कीर्ति का उपमालंकार से वर्णन करते हुए बताया गया है कि जिस प्रकार आकाश में नक्षत्र समूह में स्थित चन्द्रमा कुन्द पुष्प की शोभा की तरह सफेद कान्ति से सुशोभित होता है उसी प्रकार वीर, गुणों से उत्पन्न कीर्ति के द्वारा पृथ्वी पर सुशोभित हुए। उनका शासन भव को नष्ट करने वाला होने से इतना प्रभावशाली है कि इस कलिकाल में भी जयवन्त होकर कुशासनों का नष्टकर्ता है। उन मुनीश्वर

का समग्र प्रतिपादन स्यात् पद से युक्त, दृष्ट और इष्ट प्रमाणों से विरोध रहित निर्दोष होने के कारण स्याद्वाद कहलाता है। इसके विपरीत जितने भी मत स्यात् पद से रहित– अस्याद्वाद है। वीरजिन ग्रन्थिक सत्वों के नमन से रहित, तीनों लोकों के हितकारक केवलज्ञान आदि गुणों से युक्त थे। इनके विहार के वर्णन में कहा गया है कि जिस प्रकार पराक्रमी हांथी कठिन मार्ग से भी बलशाली होता हुआ बिना रुकावट के बढ़ता जाता है, उसी प्रकार दोषोपशमन कर्ता, शास्त्रों के रक्षक, वीर ने भी अभयदान से युक्त विहार किया था। अन्त में वीर शासन का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि वीर का शासन एकान्तवादों को विकल करने वाला तथा नयों और स्यात् अस्ति आदि आभूषणों से युक्त सभी ओर से कल्याणकारक है।–136–143

जिनशतक का परिचय

जिनशतक[10] अपरनाम स्तुतिविद्या[11] या जिनशतकालंकार[12] समन्तभद्र का एक श्रेष्ठ काव्य कौशल से परिपूर्ण स्तुति ग्रन्थ है। इसमें चित्रकाव्य और बन्ध रचना का अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया गया है। यह शतक काव्य शैली का एक उत्कृष्ट काव्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ में चौबीस जैन तीर्थंकरों की स्तुति चित्रबन्धों के माध्यम से की गयी है। यह कृति कला एवं भाव पक्ष दोनों ही दृष्टियों से अपूर्व है। मुरजादि चक्रबन्ध की रचना के कारण चित्रकाव्य का उत्कर्ष इस स्तोत्र काव्य में पूर्णतया वर्तमान है।

संस्कृत साहित्य के समीक्षकों की मान्यता है कि चित्रकाव्य का विकास महाकवि माघ से प्रारम्भ हुआ है परन्तु जिनशतक के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि चित्रकाव्य का उद्भव एवं विकास महाकवि माघ से सैकड़ों वर्ष पूर्व हो चुका था। चित्र, श्लेष और यमक का समावेश वाल्मीकि रामायण में भी पाया जाता है।[13]अतः यह सम्भव है कि दाक्षिणात्य भाषाओं के विशिष्ट सम्पर्क के कारण समन्तभद्र ने चित्र, श्लेष और यमक का पर्याप्त विकाश कर उक्त काव्य की रचना की हो ।

जिनशतक में कवि ने अपने काव्य रचना कौशल अर्थात् काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए काव्य रचना के इच्छुक आचार्यों को विविध आयाम

प्रस्तुत किये हैं। इस स्तुति ग्रन्थ के आधार पर यदि यह कहा जाये कि समन्तभद्र चित्रालंकार के जनक थे तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इस कृति में 116 अनुष्टुप पद्य हैं। इसमें लगभग अट्ठारह पद्य अर्द्ध या एक पाद अथवा पूर्ण पद्य के रूप में दुहराये गये हैं। इस प्रकार इसके पद्यों की संख्या एक शतक के लगभग शेष रह जाती है। इसलिए आप्तमीमांसा की तरह इस ग्रन्थ की रचना भी एक शतक के रूप में की गयी जान पड़ती हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम पन्द्रह श्लोकों में बृषभ जिन की स्तुति की गयी है। पश्चात् दो श्लोकों में अजित, तीन में सम्भव, चार में अभिनन्दन, क्रमशः दो दो में सुमति और पद्मप्रभ, एक में सुपार्श्व, सात में चन्द्रप्रभ, चार में पुष्पदन्त, दो में शीतल, पांच में श्रेयांस, दो में वासुपूज्य, पांच में विमल, एक में अनन्त, ग्यारह में धर्म, चौदह में शान्ति, चार में कुन्थु, पांच में अर, एक में मल्लि, दो में मुनिसुव्रत, चार में नमि, दो में नेमि, तीन में पार्श्व और अन्तिम पन्द्रह श्लोकों में वर्द्धमान जिन की स्तुति की गयी है। ये स्तुतियां मुरजबन्ध, अर्द्धभ्रम, युग्मकयमक आदि विभिन्न चित्रालंकारों में की गयीं हैं। इस ग्रन्थ का महत्त्व मात्र चित्रालंकारों के माध्यम से की गयीं स्तुतियों के ही कारण नहीं है वल्कि दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी है। सभी दृष्टियों से इसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में किया जायेगा।

अलंकृत भाषा में रचे गये इस ग्रन्थ में तीर्थंकरों की बढ़े ही कलात्मक ढंग से स्तुति की गयी है। कहीं श्लोक के एक चरण को उलट कर रख देने से दूसरा चरण[14] पूर्वार्द्ध को उलट कर रख देने से उत्तरार्द्ध[15], पूरे श्लोक को उलट कर रख देने से दूसरा श्लोक[16] बन जाता है। कहीं कहीं चरण के पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध में भी ऐसा ही क्रम रखा गया है।[17] कहीं एक चरण में कमशः दो अक्षर हैं वे ही दूसरे चरण में हैं। पूर्वार्द्ध में जो अक्षर हैं वे ही उत्तरार्द्ध में हैं और पूर्ववर्ती श्लोक में जो अक्षर हैं वे ही उत्तरवर्ती श्लोक में हैं परन्तु अर्थ उन सबका एक दूसरे से प्रायः भिन्न है और उन अक्षरों को सटाकर तथा अलग से रखकर भिन्न भिन्न शब्दों तथा पदों की कल्पना द्वारा संगठित किया गया है।[18] कितने ही श्लोक ऐसे हैं जिनमें पूर्वार्द्ध के

विषम संख्यांक अक्षरों को उत्तरार्द्ध के समसंख्यांक अक्षरों के साथ कमशः मिलाकर पढ़ने से पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के विषम संख्यांक अक्षरों को पूर्वार्द्ध के समसंख्यांक अक्षरों के साथ कमशः मिलाकर पढ़ने उत्तरार्द्ध हो जाता है। ये श्लोक मुरज या मुरज बन्ध कहलाते हैं क्योंकि इनमें मृदंग के बन्धनों जैसी चित्राकृति को लिए हुए अक्षरों का बन्धन रखा गया है। ये चित्रालंकार थोड़े अन्तर के कारण अनेक भेदों को लिए हुए हैं और अनेक श्लोकों में समाविष्ट किये गये हैं। कुछ श्लोक तो ऐसे भी कलापूर्ण हैं जिनके प्रथमादि चार चरणों के चार आद्य अक्षरों को अन्तिमादि चरणों के चार अन्तिम अक्षरों के साथ मिलाकर पड़ने से प्रथम चरण बन जाता है। इसी तरह प्रथमादि चरणों के द्वितीयादि अक्षरों को अन्तिमादि चरणों के उपान्त्यादि अक्षरों के साथ साथ कमशः मिलाकर पढ़ने से द्वितीयादिक चरण बन जाते हैं, ऐसे श्लोक अर्द्धक्रम कहलाते हैं।[19] कुछ श्लोक चकाकृति के रूप में अक्षर विन्यास सहित हैं। उनके कोई कोई अक्षर चक में एक बार लिखे जाकर भी अनेक बार पढ़ने में आते हैं।[20] उनमें से कुछ में ऐसी विशेषता है कि चक के गर्भवृत्त में लिखा जाने वाला जो आदि अक्षर है, चक की चार महा दिशाओं में स्थित चारों आरों के अन्त में पड़ता है।[21]

श्लोक संख्या 111 और 112 में यह विशेषता और अधिक है। उनकी छह आरों और नव वलयों वाली चक रचना करने पर गर्भ में अथवा केन्द्रवृत्त में स्थित जो एक अक्षर– न या र हैं, वही छहों आरों के प्रथम चतुर्थ तथा सप्तम वलय में भी पड़ता है। इसलिए चक में 19 बार लिखा जाकर 28 बार पढ़ा जाता है। श्लोकों में भी वह दो दो अक्षरों के अन्तराल से 28 बार प्रयुक्त हुआ है। कुछ चकवृत्त ऐसे भी हैं जिनमें आदि अक्षर को गर्भ में नहीं रखा गया है बल्कि गर्भ में वह अक्षर रखा गया है जो प्रथम तीन चरणों में से प्रत्येक के मध्य में प्रयुक्त हुआ है।[22] इन्हीं में कवि और काव्य के नामों को अंकित करने वाला 116 वां चक्रवृत्त श्लोक है। कुछ श्लोक ऐसे भी हैं जो एक से अधिक अलंकारों को साथ में लिए हुए हैं। जैसे 84 श्लोक आठ प्रकार के चित्रालंकारों से अलंकृत हैं।[23]

इस ग्रन्थ में कुछ श्लोक ऐसे हैं जो दो दो अक्षरों से बने हैं– दो व्यंजनाक्षरों से ही सारा शरीर निर्मित हुआ है।[24] एक श्लोक में प्रत्येक पाद भिन्न प्रकार के एक एक अक्षर से बना है और वे अक्षर हैं क्रमशः य, न, म, त।[25] एक अन्य श्लोक में एक मात्र तकार व्यंजन से ही बना है।[26] इस प्रकार यह ग्रन्थ शब्दालंकार, अर्थालंकार और चित्रालंकार के अनेक भेद प्रभेदों से अलंकृत है। इस ग्रन्थ के टीकाकार नरसिंह ने इस ग्रन्थ को **समस्तगुणगणोपेता सर्वालंकारभूषिता** कहकर **योगिनामपि दुष्करा** कहा है।[27]

स्तुतिविद्या का अन्तरंग परिचय

समन्तभद्र कहते हैं कि स्तुतिविद्या की सिद्धि से पापों पर विजय प्राप्त होती है। अतः वीतराग प्रभु के चरणों के सम्मुख होकर स्तुति करने में प्रवृत्त हूं। जिनेन्द्रदेव गुणों के समुद्र हैं। वे अत्यन्त ही पवित्र गम्भीर एवं श्री सम्पन्न संसार के सार स्वरूप हैं। अतः उनके गुण रूपी समुद्र में स्नान करो और उनके गुणों को पूर्णतया अपनाओ तभी आत्मकल्याण होगा।–1, 2

भक्त और भगवान

अनन्तसुख, अनन्तज्ञान सहित इन्द्रादिक से सेवित समस्त कर्ममल रहित, कृतकृत्य, सर्वज्ञ, हितोपदेशी, सिद्धपद को प्राप्त करने वाले भगवान भक्ति से सम्मुख आये हुए का कल्याण करते हैं अर्थात् उनके सम्मुख पहुंचा हुआ भक्त आराधना से आत्मविकास करने में समर्थ होता है। अतः समन्तभद्र भी भगवान की भक्ति से आत्म विकास करने की इच्छा करते हैं।–3, 4

ऋषभजिन

हे, ऋषभ, आपका हृदय लोककल्याण की भावना से पूर्ण, शोक रहित एवं नम्रीभूत भक्त के सांसारिक कष्टों का नाश करने वाला है। अतः केवलज्ञान संयुक्त समवसरण में विराजमान, अष्टप्रातिहार्यों से युक्त, देवेन्द्र विद्याधर एवं चक्रवर्तियों के साथ विराजते हुए गमन के समय आकाश में अधर विहार करते हैं।–5,6 निर्विकार जितेन्द्रिय ऋषभजिन के सम्मुख भक्तिवश

उपस्थित हुई मनोहर नारियां निर्विकार हो जाया करती हैं। वे तीनों लोकों, तीनों कालों के समस्त ज्ञेयों को अलोकाकाश सहित जानते हैं। यद्यपि वे उदासीन हैं, रागद्वेष रहित हैं, फिर भी जो आपकी सेवा या ध्यान विशुद्ध मन से करता है, वह अनन्त मंगल को प्राप्त करता है। जो अहंकारी, रागीद्वेषी कुदेवादि की सेवा करता है, उसका अमंगल होता है। अतः आप ही पूज्य ईश्वर हैं।–7,8,9 समन्तभद्र लिखते हैं कि हे, स्तुत, आपके स्तवन से मनुष्य तीर्थंकर होता है। आपके ही समान समवसरण सभा को पाकर सुशोभित होता है अन्य कुदेवादिक की आराधना से उक्त फल प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है। जो भक्तिपूर्वक आपको नमस्कार करता है वह समस्त कष्टों को जीतकर अन्त में जन्म मरण के कष्टों से रीहत मोक्ष पद को प्राप्त करता है। जिन जीवों ने पुण्यबन्ध कर लिया है या पुण्यबन्ध करने में लगे हुए हैं वे ही मोक्षमार्ग प्राप्त कर सकते हैं। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद समवसरण सभा में आप चार मुखों से सुशोभित होते हैं। जो व्यक्ति आपकी स्तुति करता है, उसे ऐसी वाक्शक्ति प्राप्त होती है, जिसके बल से वह दिव्यध्वनि खिराने में समर्थ होता है। इसलिए मैं भी आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूं।–10–15

अजितजिन

समन्तभद्र ने अजितजिन की इस स्तुति में उन्हें अविनाशी, अजर, क्षमादि गुणों से युक्त बताया है।–16, 17

सम्भवजिन

चक्रवर्तियों आदि प्रधान नायकों द्वारा पूज्य, जिनेन्द्र, आप अपने दिव्य तेज से मेरी रक्षा कीजिए। मेरा आधार पवित्र एवं उत्कृष्ट है। मैं संसार से भयभीत होकर आपकी शरण में आया हूं। मुझे कभी अन्त को प्राप्त न होने वाला तेज प्रदान कीजिए।–18, 19, 20

अभिनन्दनजिन

इस स्तवन में भी स्तोता ने प्रभु से अपने समान भगवान बनाने की प्रार्थना की है।–21–25

सुमतिजिन

स्तुतिकार प्रार्थना करता है कि जो व्यक्ति कर्मों के नाश करने के इच्छुक हैं वे आपकी उपासना करते हैं और आप उनका हित करते हैं। अतः हे दाता मुझे भी मोक्ष लक्ष्मी प्रदान कीजिए। आप आर्जव धर्म से युक्त हैं, तपाये हुए सुवर्ण के समान गौरवर्ण हैं , आप मेरे दुःखों का नाश कीजिए।–26

पद्मप्रभजिन

पद्मप्रभजिन को विभिन्न विशेषणों से सम्बोधित करते हुए समन्तभद्र लिखते हैं कि आपकी पूजा बड़े बड़े गणधर, देवादि नहीं कर पाये हैं, पर मैं जो नमस्कारादि क्रिया कर रहा हूं वह धृष्टता मात्र है।–27, 28

सुपार्श्वजिन

आप स्तुति करने वाले एवं निन्दा करने वाले दोनों को समान रूप से पवित्र बनाते हैं। अतः आप ही आश्रयणीय हैं।

चन्द्रप्रभजिन

चन्द्रप्रभ सबके रक्षक, अजेय, अति विशाल, अक्षय, अमेय एवं प्रमाण के विषय हैं। सूर्य के प्रकाशमान रहते हुए भी प्रकाशित रहते हैं। अतः चन्द्रमा की अपेक्षा विशिष्ट हैं। चन्द्रप्रभ अर्द्धचन्द्र चिह्न से विभूषित होने पर भी, चन्द्रमा इनसे हीन है। ये सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान हैं क्योंकि सूर्य का प्रकाश अन्य कारणों से ढक जाता है परन्तु प्रभु का सिद्धान्त रूपी सूर्य का प्रकाश किसी भी प्रवादी से आच्छादित होने वाला नहीं हैं।–30–36

शीतलजिन

विरोधाभास अलंकार में शीतलनाथ जिन की स्तुति करते हुए समन्तभद्र ने उन्हें ज्ञानावरणादि कर्मों का घातक होकर भी सबका रक्षक तथा शीतल होकर भी सभी को अग्नि की तरह पवित्र करने वाला बताया है।–41, 42

श्रेयोजिन

श्रेयोजिन संसार के नेता हैं क्योंकि जरा रहित हैं। मन, वचन, काय से भक्ति करने वालों का कल्याण करते हैं। एकान्तवादों के समीक्षक और सुन्दर होने के कारण तीनों लोकों की जनता उन्हें नमस्कार करती थी।–43–47

वासुपूज्य

वासुपूज्य जिन का देवों ने अभिषेक किया था, तीनों लोकों के जीवों ने उनकी सेवा की थी। अतः वे ईश्वरों में श्रेष्ठ ईश्वर हैं, हमारी रक्षा करें। जो उनको नमस्कार करता है वह पुण्यवान, उच्च, एवं सौन्दर्यवान् होता है।वे जिन एकमुख होकर भी चतुर्मुख हैं। 48,49

अनन्तजिन

अनन्तजिन समस्त एकान्त और असत्यवादों के नाशक हैं। चक्रवर्ती इन्द्र आदि के द्वारा सहज स्वाभाविक रूप से पूज्य हैं।–55

धर्मनाथ

धर्मनाथ जिन के जन्म के सभय इन्द्र ने मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक किया था, उनका शरीर दुग्ध के समान शुभ्र वर्ण था। वे सर्वार्थसिद्धि विमान से चयकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए थे। उन्होंने कर्मों का नाश कर अनन्त चतुष्टय लक्ष्मी को प्राप्त करने के बाद मोक्ष प्राप्त किया था और भक्ति करने वालों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर मोक्ष प्रदान किया।–56–66

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ जिन ने चक्रवर्ती पद पाकर षट्खण्ड भरतक्षेत्र पर विजय प्राप्त की , फिर समस्त परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर रूप धारण कर वन में तपस्या करने चले गये। यद्यपि शान्तिनाथ का शरीर परमौदारिक था फिर भी क्षमावान थे। उनकी सुन्दरता एवं सौम्यता गौरान्वित करने वाली थी। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद साढ़े चार योजन समवसरण में विराजमान उन शान्तिनाथ ने कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान् होकर समस्त प्रकार

के ऋतु सम्बन्धी, प्राणी सम्बन्धी, नय सम्बन्धी विरोधों को नष्ट कर दिया था एवं समस्त प्राणियों को संसार से छूटने का उपदेश दिया था।67—80

कुन्थुजिन

जन्म मरण से रहित, अत्यन्त शुद्ध, सभी रोगों से रहित कुन्थु जिन की वृद्धावस्था में प्रसन्नता, ज्ञान देने एवं मुक्ति के लिए प्रार्थना की गयी है।—81—84

अरजिन

अरजिन कुगति निवारक, भक्तों के रक्षक, इष्टफल प्रदाता सर्वश्रेष्ठ हैं।—85—89

मल्लिजिन

मल्लिजिन भव्यों के जन्ममरणादि रोगों के नाशक अनन्त पदार्थों के ज्ञाता, दिव्यध्वनि एवं केवलज्ञान के धारक हैं। अतः उन्हें सभी भव्य नमस्कार करते हैं।—90

मुनिसुव्रतनाथ

मुनिसुव्रतजिन भय रहित हैं, अनन्तगुणों के धारक हैं, केवलज्ञान सहित हैं। अतः पाप परिणति को दूर करें।—91, 92

नमिजिन

नमिजिन पूर्ण ज्ञानी हैं, दयालु हैं, अनेकान्त के उपदेष्टा हैं, अजेय हैं तथा समस्त संसार के असंख्यात लोगों से पूज्य हैं। अतः वे पूर्ण ज्ञानी एवं मोह रहित बनावें।—93—96

नेमिजिन

नेमि जिन उत्कृष्ट एवं सम्पूर्ण चारित्र के धारक है, पूज्य एवं ज्ञानवान हैं। आर्यों में श्रेष्ठ हैं। इन्द्र अहमिन्द्र आदि के द्वारा पूज्य हैं। अतः आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वे नेमि जिन मोक्ष सुख प्रदान करें।—97, 98

पार्श्वजिन

पार्श्वजिन समस्त कर्मों के विजेता, सबको विजय प्रदान कराने वाले, पापों के नाशक, अज्ञान रूप अन्धकार को मिटाने वाले, विस्तृत, अपरिमित, अक्षय केवलज्ञान से संयुक्त हैं। अतः हमारे अज्ञान अन्धकार का विनाश करें।–99–101

वर्द्धमान

वर्द्धमानजिन की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने उन्हें केवलज्ञान संयुक्त, सभी के द्वारा पूज्य, तीनों लोकों का गोष्पद की तरह देखने वाले, शारीरिक मानसिक व्याधियों के नाशक, अनेक गणधरों द्वारा नमस्कृत बतलाते हुए उनसे रक्षा की प्रार्थना की है।–102–116

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतकम् ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करके उनसे प्रार्थना की है कि वे ससार से पार उतारे।

सन्दर्भ

1. स्तोत्र युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य। – युक्त्य. टीका, 19
2. इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठीस्तोत्रे प्रथम प्रस्तावः। – वहीं, 19
   श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे प्रयोजकत्वात्। – वहीं,
3. आप्त.भाष्य, 1. 2 अ.स. पृ. 2
4. जैन, नरेन्द्रकुमार, समन्तभद्र अवदान, पृष्ठ 57 – 99
5. स्वय. 1
6. आरा–जैन सि. भवन, पुष्पिकावाक्य, पाण्डुलिपि संख्या क. 34
   दिल्ली– दि.जैन स.म. पुष्पिकावाक्य, पाण्डु. सं. लृ. 7,क, और लृ.7,ख
7. स्व. मुद्रित प्रति– सं. पं. पन्नालाल, पु. वा. पृ. 154
8. स्वय. 1. 1. 2 पृष्ठ 154
9. दृष्टव्य, आदिपुराण 3.191–213
10. वाल्मीकि रामायण
11. स्तुतिविद्या 1
12. वहीं, टीका, 116

13. वहीं,, 116
14. जिनशतक श्लोक संख्या 10, 83, 88, 95,
15. वहीं, 57, 96, 98
16. वहीं, 86, 87
17. वहीं, 85, 93, 94
18. वहीं, 5, 15, 25, 52, 11, 12, 16, 17, 37, 38, 46, 47, 79, 77, 93, 94,, 106, 107
19. वहीं, 3, 4, 18, 19, 20, 21, 27, 36, 43, 44, 56, 90, 92
20. वहीं, 26, 53, 54 आदि
21. वहीं,, 22, 23, 24
22. वहीं. 110, 113, 114, 115, 116
23. वहीं, 84
24. वहीं, 51, 52, 55, 85, 93, 94, 97, 100, 109
25. वहीं, 14
26. वहीं, 13
27. वहीं, टीका 1, 3
28. वहीं, 1

□□□

परिच्छेद तृतीय

स्वयंभूस्तोत्र और स्तुतिविद्या का काव्यमूल्यों की दृष्टि से विश्लेषण

आचार्य समन्तभद्र ने स्तोत्रों की रचना काव्य कौशल दिखाने के लिए नहीं की, अपितु भक्ति रस में निमज्जन कर स्तोत्र रूप में प्रभु के प्रति उनके भावों की अभिव्यक्ति है। फिर भी उनकी रचनाओं में काव्यशास्त्र की विधाओं का समावेश पाया जाता है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से अपेक्षित विश्लेषण के लिए उनकी दो कृतियां – स्वयम्भूस्तोत्र और जिनशतक या स्तुतिविद्या विशेष उल्लेखनीय हैं। यहां उनका ही काव्यमूल्यों की दृष्टि से विश्लेषण प्रस्तुत है।

काव्य वैभव

रसगंगाधर के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्वाचार्यों के काव्य लक्षणों का समन्वय करते हुए काव्य का लक्षण किया है– **रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्**[1] अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द समूह काव्य है। वह रमणीयता चाहे अलंकार से प्रकट हो या शब्द शक्तियों से, मात्र सुन्दर शब्दों से या सुन्दर अर्थ से काव्य, काव्य नहीं कहलाता है किन्तु दोनों के संयोग से ही काव्य कहलाता है।

समन्तभद्र के काव्य भक्तिपरक होते हुए भी उनके काव्यों में काव्य वैभव स्वतः ही दृष्टिगोचर होता है। स्वयम्भूस्तोत्र में जहां शब्दालंकार की छटा द्रष्टव्य है वहीं स्तुतिविद्या में चित्रालंकार की योजना आचार्य की अप्रतिम काव्य कौशल का प्रतीक है। अगर आचार्य समन्तभद्र को चित्रालंकार का जनक या प्रथम आचार्य कहें तो कोई अतिशयोकित नहीं होगी।

चित्रालंकार के अन्तर्गत मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, अतिबन्ध आदि पर आचार्य समन्तभद्र से पूर्व किसी कवि ने कलम तक नहीं चलायी। परम्परा के अनुसार छठवीं शताब्दी के आचार्य दण्डी ने अपने काव्यालंकार में चित्रालंकारों की परिभाषाएं एवं कुछ उदाहरण अवश्य प्रस्तुत किये हैं।[2]

महाकवि भारवि ने अपने किरातार्जुनीयम् महाकाव्य में,[3] महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवधम् महाकाव्य में[4] तथा महाकवि हरिश्चन्द्र ने अपने धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य में[5] श्लेष यमक तथा चित्रालंकारों में रचनाएं की हैं परन्तु यह भी सत्य है कि आचार्य समन्तभद्र से पूर्व किसी भी कवि ने स्तुतिविद्या सरीखे चित्रालंकार एवं शब्दालंकार प्रधान काव्यात्मक स्तोत्र की रचना करने का साहस तक नहीं किया है। यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि समन्तभद्र से पूर्व चित्र, श्लेष, यमक आदि के बीजसूत्र अवश्य ही उपलब्ध थे।

समन्तभद्र के स्तुतिविद्या काव्य में शाब्दी क्रीड़ा की विचित्र रमणीयता समाविष्ट है। कवि ने स्तोत्र काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की गम्भीरता का अपूर्व समन्वय बनाये रखने की सफल चेष्टा की है। शब्द संहति, अलंकार वैचित्र्य, कल्पना सम्पत्ति एवं तार्किक प्रतिभा का समवाय एकत्र प्राप्त है। प्रबन्धकाव्य न लिखने पर भी कतिपय श्लोकों में वातावरण की अपूर्व सृष्टि समाहित रहने के कारण परिस्थिति की भावमयता अभिव्यक्त हुई है, जिसमें प्रबन्धात्मकता का चमत्कार पाया जाता है।

प्रबन्धात्मकता

समन्तभद्र ने अपने मुक्तकों में उपमानों, शब्द परिच्छित्तियों एवं संकेतों द्वारा पौराणिक आख्यानों को उपस्थित कर प्रबन्धात्मकता का समावेश किया है। यथा –

विहाय यः सागरवारिवाससं
वधूमिवेमां वसुधा वधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्
प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।[6]

संसार के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए ऋषभदेव ने निष्ठापूर्वक प्रेम करने वाली लावण्यमयी नायिका के समान समुद्रान्त पृथ्वी का परित्याग किया और अपने व्रत नियमों पर अटल रहे।

उपर्युक्त श्लोक में भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए कवि ने वसुधा को सती वधू का और समुद्र के जल को वस्त्र का जो बिम्ब प्रदान किया है, वह प्राचीन साहित्य में मार्मिक है। यहां **सहिष्णुरच्युतः** पद शब्द परिच्छित्ति है। इस परिच्छित्ति से पौराणिक उपाख्यान निष्पन्न होता है। जब भगवान आदि तीर्थंकर ने दीक्षा ग्रहण की थी उस समय स्वामिभक्ति से प्रेरित नमि, विनमि आदि अनेक राजाओं ने दीक्षाधारण की थी, पर क्षुधा तृषा आदि का कष्ट न सह सकने के कारण वे भ्रष्ट हो गये थे। इस पौराणिक आख्यान की अभिव्यंजना **प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः** द्वारा होती है। मुक्तक काव्य का रचयिता यदि संकेतात्मक शैली में शब्द परिच्छित्तियों का प्रयोग करना चाहता है, आत्मनिष्ठ होने पर भी उस काव्य में वास्तविक और व्यक्त जीवन की घटनाएं भावात्मक रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं। तथ्य यह है कि समन्तभद्र ने मुक्तकों के भीतर मर्मपूर्ण मानव जीवन का स्वरूप निहित कर काव्य संवेदन के आयाम को विकसित किया है।

इसी प्रकार शान्तिजिनस्तवन में **विधाय रक्षां परतः प्रजानां चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण एवं यस्मिन्नभूद्राजनि राजचक्रं** पदों से भी पौराणिक आख्यान एवं घटनाएं निस्सृत होती हैं।[7] कवि ने उक्त पदों का प्रयोग मुक्तकों में प्रबन्धात्मकता का निर्वाह करने के लिए ही किया है। अतः प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के स्तवन में उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं का उद्घाटन कर वस्तुवर्णनों के अभाव में भी इतिवृत्तात्मकता का न्यास किया है। इसका परिणाम यह है कि मुक्तक स्तवनों में प्रबन्धात्मकता का रस प्राप्त होता है और पाठक वर्ण्य के साथ साधारणीकरण की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि प्रतिभाशाली कवि उपमानों, शब्द परिच्छित्तियों एवं साभिप्राय प्रयुक्त पदों में इतिवृत्तात्मकता संकेतों का व्यवहार करता है। फलतः मुक्तक काव्य भी प्रबन्धात्मकता को प्राप्त हो जाता है। यथा– आदिनाथ के जीवन पर प्रकाश डालते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि आदिनाथ ने प्रथम प्रजापति के रूप में देश, काल और प्रजा की परिस्थिति के तत्त्वों को जानकर जीने की इच्छा रखने वाले प्रजाजनों को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य एवं शिल्प आदि की शिक्षा दी थी और अन्त में ममत्व रहित होकर तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ हुए –

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजा।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरदमुतोदयो ममत्वतो निर्विवदे विदांवरः।।[8]

इसी आदिनाथ स्तोत्र में आये हुए **निर्दयभस्मसात्किया**[9] पद से सम्भवतः आचार्य ने अपनी भस्मक किया का संकेत किया है। उसी तरह **आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथ रूजां प्रशान्त्ये**[10] द्वारा सम्भवनाथ जिनको वैद्य का रूपक देकर अपनी जीवन की घटनाओं की ओर संकेत किया है। **यस्यांग लक्ष्मी परिवेशभिन्नं तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं**[11] पद से राजा शिवकोटि के शिवालय में घटित हुई घटना का संकेत प्राप्त होता है। **स्वपक्षसौस्थित्य मद्रावलिप्ता वाक्सिंहनादर्विमदावभूवु:**[12] के द्वारा यह संकेत मिलता है कि समन्तभद्र ने शास्त्रार्थ द्वारा जैनसिद्धान्त का प्रचार किया एवं अपनी चातुरी से अन्य वादियों को मद रहित कर दिया था।

चकेण यः शत्रुभयंकेण जित्वा नृपः सर्व नरेन्द्रचकम्।[13]
विधाय रक्षां परतः प्रजानां राजा चिरं योऽप्रतिमप्रतापः।।[14]

उपर्युक्त द्वारा सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ के चकवर्ती पद का होना, षट्खण्ड पर विजय प्राप्त करना एवं राजकाल में प्रजा की रक्षा करके उसे अत्यन्त सुखी एवं समृद्ध बनाने की सूचना मिलती है।

मल्लिनाथ एवं अरिष्टनेमि के स्तवन के बीच आए हुए महर्षि या ऋषि शब्द उक्त दोनों तीर्थकरों का बालब्रह्मचारी होना सिद्ध करते हैं।[15]

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः।
बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चचाल योगतः।।
बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिगरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा।।[16]

उक्त पद्यों के द्वारा पार्श्वनाथ के मुनि जीवन की घटना पर स्पष्टतः प्रकाश डाला गया है कि जब पार्श्वनाथ मुनि अवस्था में तप कर रहे थे तब उनके पूर्वभव के बैरी कमठ ने उन पर अनेक प्रकार के उपसर्ग किये थे। पद्मावती और धरणेन्द्र ने उनके उपसर्ग का निवारण किया था।

इस प्रकार स्तोत्र काव्य में प्रबन्धात्मक बीजसूत्र सर्वत्र विद्यमान हैं। आचार्य समन्तभद्र ने वैदिक मन्त्रों के समान ही प्रबन्धगर्भित स्तोत्रों की रचना करके दार्शनिक एवं काव्यात्मक क्षेत्र में नए चरण चिह्न उपस्थित किये हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र की अलंकार योजना

समन्तभद्र ने जहां भक्तिपरक रचनाएं की हैं वहीं उन्होंने अलंकार के क्षेत्र में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों की अनूठी योजना की है। कवि ने विशेषतः उपमालंकार का व्यवहार प्रायः समस्त स्तोत्र में किया है। भावोत्कर्षव्यंजना एवं धातुओं में रूपानुभूति, गुणानुभूति और कियानुभूति के रूप में भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में इनके उपमान सशक्त हैं। यह सत्य है कि भाषा में भावाभिव्यक्ति की क्षमता का आगणन तभी होता है जब उसमें अनेक प्रकार के अलंकार मिलकर उसके अंग बन जाते हैं। इस प्रकार भावनाओं की सूक्ष्मता और संश्लिष्टता के साथ भाषा भी स्वतः अलंकृत और संश्लिष्ट हो जाती है।

उपमा – उपमेय में उपमान योजना का मनोविज्ञान यह है कि जब कवि अपने मनोगत भाव या आवेग को व्यक्त करना चाहता है तब उसका आलम्बन खोजता है, कभी वह प्रकृति के चेतन रूपों और तत्त्वों में उसे मिल जाता है और कभी भौतिक जड़ पदार्थों में। कोई विषय या भाव ऐसा नहीं है जो उपमान योजना के द्वारा अधिक प्रभाव और सुन्दरता के साथ ग्रहण न कराया जा सके। काव्य में उपमान योजना ज्ञानबोध के साथ चारुत्व की भी सृष्टि करती है। यदि उपमान योजना में सुन्दरता, सरलता, चमत्कार और विषयबोध कराने की क्षमता नहीं है, तो काव्य में उसका कोई भी महत्त्व नहीं होता। उपमान योजना का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है –

प्रथम स्तवन में आदिनाथ के लिए चन्द्रमा का उपमान प्रयुक्त किया है।[17] चन्द्रमा अन्धकार का विनाशक होता है और आदिनाथ अज्ञान के । इस उपमान में सादृश्य और साधर्म्य दोनों हैं।

1. **विराजितं येन विधुन्वता तमः क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः**[18]

कवि अजितनाथ का स्तवन करते हुए उपमानों का प्रयोग कर अपने आराध्य का महत्त्व तो प्रतिपादित करता ही है, साथ ही अप्रस्तुत वर्ण्य विषय का व्याख्यान भी। प्रयुक्त उपमानों में रूपसाम्य और गुणसाम्य दोनों ही धर्म पाये जाते हैं।

2. **येन प्रणीतं पृथुधर्मतीर्थं ज्येष्ठं जनाः प्राप्य जयन्ति दुःखम्।**
गांगं ह्रदं चन्दनपंकशीलं गजप्रवेका इव धर्मतप्ताः।। [19]

जिन्होंने उस महान् और ज्येष्ठ धर्मतीर्थ का प्रणयन किया है। जिसका आश्रय पाकर भव्यजन दुःख सन्ताप पर उसी प्रकार विजय प्राप्त करते हैं जिस प्रकार ग्रीष्मकालीन सूर्य सन्ताप से संतप्त हुए बड़े बड़े हांथी चन्दन लेप के समान शीतल गंगाह्रद को प्राप्त कर सूर्य के समान सन्ताप जन्य दुःख को मिटा डालते हैं।

यहां गंगा जल का उपमान चन्दन लेप है और धर्मतीर्थ का उपमान गंगा जल है। जन का उपमान गज है। इस प्रकार इस श्लोक में संसार आताप की शान्ति के लिए धर्मतीर्थ का सामर्थ्य विभिन्न उपमानों द्वारा दिखलाया गया है।

प्रयुक्त उपमानों में प्रभाव साम्य की दृष्टि से अर्थवत्ता निहित है और प्रभाव साम्य की योजना गुण प्रकिया के साम्य के आधार पर की है। जगत् के अनन्त रूपों और व्यापारों के बीच व्याप्त सम्बन्धों का विश्लेषण कर कवि समन्तभद्र ने अप्रस्तुतों का व्यवहार किया है। कवि, अजितनाथ के धर्मतीर्थ को अत्यन्त शान्तिप्रद संसार ताप नाशक सिद्ध करने के लिए गंगा जल, चन्दन लेप जैसे सजातीय अनुभूति उत्पादक उपमानों का प्रयोग कर अनिर्वचनीय अनुभूति उत्पन्न करना चाहता है। वह अपने हृदय में उत्पन्न भावों को पाठकों के हृदय में संक्रमित कर धर्मतीर्थ की यथार्थ अनुभूति जाग्रत करना अभीष्ट समझता है। अतएव इन उपमानों को भावोद्दीपक मानना संगत है।

समन्तभद्र चन्द्रप्रभ की स्तुति करते समय उनकी रूपाकृति की मनोरम झांकी उपस्थित करने के लिए चन्द्रमा का उपनाम प्रस्तुत करते हैं यथा –

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम्।।[20]

चन्द्रकिरण के समान गौरवर्ण से युक्त चन्द्रप्रभ जिन जगत में द्वितीय चन्द्रमाके समान दीप्तिमान हैं । जिन्होंने अपने अन्तःकरण के कषाय बन्धन को जीतकर अकषाय पद प्राप्त किया है और ऋद्धिधारी मुनियों के स्वामी तथा महात्माओं द्वारा वन्दनीय हैं।

इस श्लोक में चन्द्रमरीचिगौरं उपमान है। इस उपमान द्वारा चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के गौरवर्ण शरीर की आकृति का सुन्दर अंकन किया है। इस उपमान द्वारा अभिव्यक्त वाच्य चन्द्रप्रभ के असाधारण गुणों की भी व्यंजना करता है। आराध्य के रूप सौन्दर्य के साथ उनके महिमामंडित व्यक्तित्व का विश्लेषण भी उक्त उपमान द्वारा सम्भव है। इसी तरह अन्य पद्यों में भी उंन्होंने उपमालंकार का खुलकर प्रयोग किया है। सम्भवजिन की स्तुति करते हुए कहा है –

त्वं शम्भवः सम्भवतर्शरोगैः संतप्यमानस्य जनस्य लोके ।
आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथानाथरुजां प्रशान्त्यै।।[21]

हे, शम्भव जिन, सांसारिक रोगों से प्रपीड़ित जनसमूह के लिए आप इस लोक में उसी प्रकार आकस्मिक वैद्य हुए हो जिस प्रकार कि अनाथों के रोगों की शान्ति के लिए कोई चतुर वैद्य अचानक आ जाता है।

इसी प्रकार पद्माकराणामिव पद्मबन्धु, मातेव बालस्य हितानुशास्ता, तमस्तमोरिवरश्मिभिन्नम्, भवांश्चकाशे भुवनत्रयेस्मिन्नेको यथा वीतघनो विवस्वान्, नयास्तव स्यात्पदसत्य लांछिता रसोपविद्धा इव लौहधातवः, शिवाय संस्पर्श इवा भूताम्बुधेः, व्योमनीव शशलांछनो मतः, मुनिद्रया मूर्तिरिवा शान्तिम्, व्यग्रे यथा वियति दीप्तरूचिर्विवस्वान्, साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत्, मुनिपरिषदिनिर्बभो भवानुहुपरिधत्यपरिवीतसोमवत्, त्वमिदं तलामलकइवद्विवेदियः, सोमइव व्योम्निकुन्दशोभातिशया आदि पदों में[22] उपमान योजना के द्वारा कवि ने दार्शनिक तत्त्वों को भी उपमाओं द्वारा सरस बनया है।

रूपक – स्वयम्भूस्तोत्रम् में उपमा के समान रूपक अलंकार की छटा भी द्रष्टव्य है। प्रस्तुत अप्रस्तुत का निषेध रहित आरोप कर इस अलंकार की योजना की गयी है। यह सादृश्यगर्भ वर्ग का अभेद प्रधान अर्थालंकार है। उपमान उपमेय के परस्पर तिरोभूत हो जाने से या विषयी के द्वारा विषय को रूपवत् स्वीकार करने से चमत्कार उत्पन्न होता है।[23] कवि समन्तभद्र ने जिन के प्रवचन को सिंह का रूपक और एकान्तवादियों को मदोन्मत्त गज का रूपक देकर आराध्य के उपदेश की महत्ता प्रदर्शित की है यथा –

स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ता वाक्सिंहनादैर्विमदा बभूवुः।
प्रवादिनो यस्य मदार्द्रगण्डा गजा यथा केसरिणो निनादैः।।[24]

जिन के प्रवचन रूप सिंहनादों को सुनकर के अपने पक्ष की सुस्थिति का घमण्ड रखने वाले प्रवादि जन उसी प्रकार से निर्भय हुए हैं जिस प्रकार मद झरते उन्मत्त हांथी, केसरी सिंह की गर्जना को सुनकर निर्मद हो जाते हैं।

कवि ने मोह योद्धा का ससैन्य वर्णन कर तीर्थंकर अरनाथ के साथ उसके युद्ध का वर्णन किया है। इस प्रसंग में रूपक की योजना नैसर्गिक और चमत्कार पूर्ण है। यथा –

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसंविदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः।।[25]

क्रोध, मान, माया लोभादि की सेना से युक्त मोहरूपी योद्धा को अरजिन ने रत्नत्रय के दिव्य अस्त्रों द्वारा पराजित कर दिया था। यहां मोह की कषायभटसाधन और संविदुपेक्षास्त्रै में रूपक की योजना की गयी है। यद्यपि यह रूपक शास्त्रीय है, फिर भी तो शत्रु पराजय के दृश्य को पूर्ण रूप से उपस्थित करता है।

अभिनन्दन जिन की स्तुति आरम्भ करते समय रूपक की योजना सरस रूप में की है। कवि कहता है कि –

गुणाभिनन्दादभिनन्दनो भवान् दयावधूं क्षान्तिसखीमशिश्रियत्।
समाधितन्त्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थ्यगुणेन चायुजत्।।[26]

अनन्त ज्ञानादि गुणों का अभिनन्दन करने के कारण आप अन्वार्थक नाम वाले हैं। आपने क्षमा सखी से युक्त, दयावधू को आश्रय दिया है। आपने शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के लिए अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग किया है।

प्रस्तुत पद्य में क्षान्तिसखि और दयावधू में रूपक है। इस रूपक द्वारा अभिनन्दन जिन के विवाह का अर्थ प्रस्फुटित होता है। उनका विवाह दया क्षमा के साथ हुआ है। कवि को एक ही नायिका के साथ विवाह करना अभीष्ट है। अतः क्षान्ति सखि से युक्त दया के साथ विवाह की बात कही गयी है। दूसरी बात यह है कि क्षमा के अभाव में दया का कुछ भी महत्त्व नहीं है। अतएव कवि समन्तभद्र ने अपने भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए उक्त तर्कों की योजना की है।

इसी प्रकार तर्ष रोग, तृष्णामया, वाग्मृतम्, भव्यपयोरुहाणां, वाक्सिंहनादैः, भव्यकुमुदवतीनाम्, तृष्णार्चिषा, दोषेशः, जन्मज्वरतरुः, जन्मनिगलं, कलमेषेन्धनः, शीलजलधिः, जिनकुंजरः, चरणारविन्दम् आदि पदों में[27] रूपक की योजना कर कवि समन्तभद्र ने अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया है। उक्त पदों में समागत रूपक वर्ण्य विषय का सांगोपांग स्वरूप तो उपस्थित करते ही हैं, पर उनके द्वारा रसपेशलता भी उत्पन्न होती है, जहां कवि को अपने आराध्य के सम्बन्ध में जिस प्रकार के गुणों या तथ्यों की व्यंजना करनी होती है, वहां कवि वैसे ही सटीक रूपक प्रस्तुत कर देता है।

उत्प्रेक्षा – 'भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा' के अनुसार कवि ने उत्प्रेक्षालंकार का भी अच्छा गुम्फन किया है। अतिशयोक्तिमूलक उत्प्रेक्षा की योजना करते हुए लिखा है कि –

शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरारिलेप।
नरामराकीर्णसभां प्रभा वा शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम्।।[29]

हे, प्रभो, प्रातःकालीन सूर्य किरणों की छवि के समान रक्तवर्ण की आभा वाले आपके शरीर के किरणों के विस्तार ने मनुष्य और देवताओं से युक्त समवसरण सभा को इस प्रकार आलिप्त किया है, जैसे चन्द्रकान्तमणि पर्वत की प्रभा को अपने पार्श्वभाग को व्याप्त करती है।

इस पद्य में पद्मप्रभ तीर्थंकर की रक्तवर्ण कान्ति द्वारा समवसरण सभाके व्याप्त किये जाने की उत्प्रेक्षा पद्मकान्तमणि के पर्वत की प्रभा से की है। रक्त वर्ण की शरीर कान्ति की वास्तविक अवधारणा करने के लिए कवि ने बालार्करश्मि उपमान की योजना की है। यतः प्रातःकालीन सूर्य किरणें लाल होने पर तेजस्वी भी होती हैं और वे दाह उत्पन्न नहीं करती। पद्मप्रभ के शरीर की कान्ति रक्तवर्ण की होने पर भी तेजस्वी और शन्तिप्रद हैं। आलिलेप क्रियापद भी साभिप्राय है। दिव्यरक्त कान्ति ने समवसरण सभा को आलिप्त तो किया ही पर उक्त कान्ति से सभा स्थित देव मानवों को चिरशान्ति और सुख प्राप्त हुआ। कवि शरीर कान्ति के कथन द्वारा दिव्यध्वनि की और संकेत करता है।

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिजिन की स्तुति करते हुए कवि मल्लिनाथ के शरीर के रूप का वर्णन करता हुआ उत्प्रेक्षा करता है।

यस्य च मूर्तिः कनकमयीवस्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा[30]

सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करने वाला भामण्डल बनाए हुए जिन मल्लिनाथ का शरीर ऐसा लगता है मानों सुवर्ण निर्मित ही हो। इस पद्य से कवि ने मल्लिनाथ के शरीर को पीतवर्ण स्पष्ट किया है।

अर्थान्तरन्यास

विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का समर्थन कर अर्थान्तरन्यास की योजना की गयी है।[31]

जनोऽतिलोलोऽप्यनुबन्धदोषतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते।
इहाप्यमुत्राप्यनुबन्धदोषवित् कथं सुखे संसजतीति चाब्रवीत्।।[32]

हे, अभिनन्दन जिन, आपने बताया कि अनुबन्ध दोष से अर्थात् परमाशक्तिवश विषय सेवन में अति लोलुपी हुआ भी मनुष्य इस लोक में राजदण्डादिक का भय उपस्थित होने पर कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होता है

फिर भी मनुष्य इस लोक तथा परलोक में होने वाले विषयासक्ति के दोषों को भले प्रकार जानता है, वह कैसे विषयसुख में आसक्त हो सकता है। श्री वासुपूज्य जिन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि –

शिवासु पूज्योभ्युदयक्रियासु त्वं वासुपूज्यस्त्रिदशेन्द्रपूज्यः।
मयापि पूज्योल्पधिया मुनीन्द्र दीपार्चिषा किं तपनो न पूज्यः।।[33]

हे, वासुपूज्य, जिन आप शिव रूप अभ्युदय क्रियाओं में पूज्य हैं, त्रिदशेन्द्र पूज्य हैं और अल्प बुद्धि के द्वारा भी पूज्य हैं, क्या दीपशिखा के द्वारा सूर्य की पूजा नहीं होती।

विषमालंकार का उदाहरण

त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलवोद्धवक्षताः।
ततः स्वनिःश्रेयशभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन शीतलेड्यसे।।[34]

हे, शीतलनाथ, जिन, कहां तो आप उत्तम ज्योति, अजन्मा और निर्वृत्त, कहां वे दूसरे तपस्वी लेशमात्र ज्ञान के मद से नाश को प्राप्त हुए हैं। इसलिए अपने कल्याण की भावना में तत्पर बुद्धिश्रेष्ठों में पूजे जाते है।

स्वभावोक्ति – जिस वस्तु की जो क्रिया है उसका उसी रूप वर्णन करके स्वभावोक्ति का चमत्कार दिखाया गया है।[35] समन्तभद्र ने दर्शन के सिद्धान्तों को अत्यन्त सुन्दरता के साथ स्वभावोक्ति रूप में चित्रित किया है। दृष्टव्य है –

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः।।[36]

अर्थात् इन्द्रिय विषय सुख बिजली की चमक के समान चंचल और तृष्णारूपी रोग को बढ़ाने वाली है। तृष्णा की अभिवृद्धि निरन्तर ताप उत्पन्न करती है। वह ताप जगत् को अनेक दुःख परम्परा से पीड़ित करता रहता है।

तृष्णार्चिशा परिदहन्ति न शांतिरासामिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्तमित्यात्मवानविषयसौख्यपरांगमुखोभूत्[37]

तृष्णारूप अग्निज्वालाएं स्वभाव से ही सन्तापित करती हैं। इनकी शान्ति अभिलषित इन्द्रिय विषयों की सम्पत्ति से नहीं होती। वह उल्टी बुद्धि होती है कयोंकि वस्तु स्थिति ऐसी ही है। सेवन किये हुए इन्द्रिय विषय शरीर के सन्ताप मिटाने में मात्र निमित्त हैं। यह सब जानकर, हे, आत्मवान्, विषय सौख्य से परांगमुख हुए हो।

विभावना – विना कारण के कार्योत्पत्ति को विभावना कहते हैं।[38] यथा–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ, विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितांजनेभ्यः।।[39]

हे, नाथ, पूजा वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नही है क्योंकि आप वीतरागी हैं, फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पाप मलों से रहित करता है या पवित्र बनाता है।

व्यतिरेकालंकार – उपमेय में गुणाधिक्य का आरोप कर उपमानों में न्यून गुण का समावेश करके कवि ने चन्दन, चन्द्रकिरण, गंगाजल और मुक्ताओं की हारयष्टि की शीतलता का निषेध कर शीतलनाथ तीर्थंकर के वचनों को सिद्ध किया है। शीतलनाथ के गुणों का उत्कर्ष यहां प्रस्तुत है और गुणतत्त्व ही इस उत्कर्ष का आधार है। अतः तीर्थंकर की अमृत वाणी को शीतलता का चरम साधन मानकर उपमान के साधारण धर्म से आधिक्य दिखलाया गया है।

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गांगमम्भो नच हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेनघ वाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्।।[40]

हे, अनघ, निरवद्य निर्दोष शीतलनाथ, जिन, आप प्रत्यक्ष ज्ञानी मुनि की प्रशम जल से आप्लावित वाक्यरश्मियां, संसार ताप के मिटाने के हेतु उतनी शीतल हैं जितनी न तो चन्द्र किरणें शीतल हैं न चन्दन ही। न गंगा जल शीतल है और न मुक्तामणियों की हारयष्टि ही। आशय यह है कि शीतल जिन की अमृत वाणी संसार के समस्त तापों का शमन करने वाले भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अधिक शीतल एवं सुखद है।

अधिकालंकार

कवि समन्तभद्र ने अपने आराध्य के गुणाधिक्य का निरूपण करते हुए अधिकालंकार की घोषणा की है। इस अलंकार के कई उदाहरण शीतलनाथ, सुपार्श्वनाथ एवं पुष्पदन्त की स्तुति में प्राप्त होते हैं। कवि ने बताया है कि कितने ही तपस्वी जन सन्तान, धन एवं लोकोत्तर वैभव की कामना करते हैं, पर आप समभावी हैं। अतः जन्म जरा आदि को दूर करने की इच्छा से अपनी समस्त प्रवृत्तियों का दमन करते हैं। यहां कवि ने आराध्य में अन्य तपस्वियों की अपेक्षा गुणाधिक्य का नियोजन किया है। कुछ तपस्वी सांसारिक सुखों की इच्छा करते हैं । वे दिनरात श्रम कर क्षणभंगुर भौतिक वस्तुओं का चयन करते हैं पर शीतलनाथ तीर्थंकर दिनरात वीतरागता की प्राप्ति में सजग हैं।[41]

अधिकालंकार का प्रयोग केवल गुणाधिक्य के वर्णन द्वारा ही नहीं किया जाता है और जहां काव्य चमत्कार का अभाव रहता है वहां गुणाधिक्य का वर्णन करने मात्र से अलंकार की स्थिति उत्पन्न नहीं होती। कवि समन्तभद्र ने अपने अधिकालंकार के प्रयोग में शब्द लालित्य और कल्पना द्वारा चमत्कार का पूर्णतया पालन किया है। यथा –

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि।।[42]
अपत्य वित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत्।।[43]

कितने ही तपस्वी जन, सन्तान, धन तथा उत्तम लोक की तृष्णा के वशीभूत हुए कर्म करते हैं। आप समभावी हैं। आपने अपने पुनर्जन्म और जरा को दूर करने की इच्छा से मन, वचन काय तीनों की प्रवृत्ति को रोका है।

उदाहरणालंकार – उदाहरणालंकार के संयोजन द्वारा कवि समन्तभद्र ने अपने आराध्य के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। इस अलंकार के कई पद्य स्वयम्भूस्तोत्रम् में हैं। कवि की यह विशेषता है कि वह आराध्य के

जीवनवृत्त को संकेत रूप में उपस्थित कर देता है, जिससे वातावरण मूर्तिमान हो जाता है।

कवि पार्श्वनाथ स्तवन में जिन गुणों का स्तवन करता है उनमें उपसर्ग जीतने का दृश्य भी आया है। कवि कहता है कि धरणेन्द्र ने उपसर्ग से रक्षा करने के लिए विद्युत रंग समान पीतवर्ण के अपने बड़े फणों को मण्डलाकार रूप में वेष्टित कर दिया । उस समय का वह दृश्य ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कृष्ण सन्ध्या के समय विद्युत सहित मेघ पर्वत को वेष्टित कर रहे हों। यहां उत्प्रेक्षा की सम्भावना नही है कयोंकि कवि ने धरणेन्द्र के मण्डलाकार फणों को, विद्युत सहित मेघ और पार्श्वनाथ के नीलवपु की काली सन्ध्या से युक्त पर्वत का उदाहरण प्रस्तुत कर जीवन घटनाओं की चमत्कारपूर्ण आवृत्ति की है। यथा –

बृहत्फणामंडलमंडपेन यं स्फुरत्तडित्पिंगरुचोपसर्गिणम्।
जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसंध्यातडिदम्बुदो यथा।।[44]

उदाहरणालंकार की योजना शीतलनाथ के स्तवन में भी आयी है कवि ने बताया है कि विष वैद्य, विष से मूर्च्छित स्वविग्रह को मन्त्रोचारण और मन्त्रस्तवन से विष रहित कर देता हैउसी प्रकार शीतलनाथ तीर्थंकर ने विषय तृष्णा मोह अज्ञान से मूर्च्छित आत्मा को अपनी आत्मानुभूति द्वारा जाग्रत कर लिया है। यहां विषवैद्य के उदाहरण द्वारा शीतलनाथ की सजगता का निरूपण किया है। यथा

सुखाभिलाशानलदाहमूर्च्छितंममनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः।
व्यदिध्यपस्त्वं विषदाहमोहितंमयथाभिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रहम्।।[45]

अतिशयोक्ति – कवि आराध्य के गुण वैभव का अनेक दृष्टियों से वर्णन करता है। वह उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण आदि अलंकारों के संयोजन द्वारा अपने आराध्य का मूर्तिमान रूप उपथित करना चाहता है। उसकी दृष्टि में आराध्य के असाधारण गुण हैं। वह अपनी साधारण कल्पनाओं द्वारा उन गुणों को मूर्तिमान नहीं कर पाता। असाधारण सौन्दर्य की अभिव्यंजना न तो अरविन्द द्वारा सम्भव है, न सुधाकर द्वारा और न

रतिपति पुष्पधन्वा के द्वारा ही। आराध्य के सौन्दर्य का वर्णन करके सभी तृप्ति का अनुभव करते हैं। पर यह तृप्ति, अतृप्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। जब कवि की अपनी कल्पनाएं अक्षम प्रतीत होने लगती हैं तो वह अतिशयोक्ति अलंकार पर उतर आता है और उसी के द्वारा आराध्य की महनीयता प्रकट करने लगता है।

कवि समन्तभद्र अपने आराध्य से निवेदन करता है कि आपके अलौकिक दिव्य सौन्दर्य को दो नेत्रों के द्वारा देखने पर भी जब इन्द्र को तृप्ति नहीं हुई और वह असमंजस में पड़ गया तो उसने अपनी हार्दिक अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए अपने सहस्र नेत्र बनाए और आपके लावण्य का पान कर आश्चर्य चकित हुआ। वस्तुतः कवि ने यहां विकिया द्वारा इन्द्र ने सहस्र नेत्रों की रचना की। यह लोकातिशायिनी उक्ति की योजना कर अतिशयोक्ति अलंकार प्रस्तुत किया है।

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्वयक्षः भाकः सहस्राक्षो बभूव बहुविस्मयः।।[46]

वस्तुतः कविता का विषय हृदय की अनुभूति है। अनुभूति की अवस्था में समस्त स्नायुमण्डल तदनुकूल रूप धारण कर लेता है और कवि भाषा में अपूर्व प्रवाह और लालित्य उत्पन्न कर देता है। अनुभूति के क्षणों में हृदय की प्रधानतः दो अवस्थायें होती हैं –

1.उल्लास और 2. विह्वलता। कवि जब उल्लसित होता है तब वह गाता है। यही कारण है कि स्तवन मुक्तकों में कवि की तन्मयता चरम सीमा पर पहुंच जाती है एवं मुक्तक गुलदस्ते के समान सौन्दर्य और गन्ध को विकीर्ण करने लग जाते हैं। कवि समन्तभद्र के मुक्तकों में हृदय को विह्वल बनाने की पूर्ण क्षमता है।

यमक

अर्थालंकारों के साथ कवि समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में शब्दालंकारों का भी चमत्कार पूर्ण प्रयोग किया है। यथा –

तव जिन भ्रासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः।
दोशकषासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभवः।।[47]

हे, वीर, जिन, आपका शासन माहात्म्य कलिकाल में भी जय को प्राप्त है। उसके प्रभाव से गुणों में अनुशासन प्राप्त शिष्य जनों का भव विनष्ट हुआ है। इतना ही नही किन्तु जो दोष रूप चाबुकों का निराकरण करने में समर्थ हैं और अपने ज्ञानादि तेज से जिन्होंने आसन विभवों को अर्थात् लोक के प्रसिद्ध नायकों को निस्तेज किया है वे भी आपके इस शासन माहात्म्य की स्तुति करते हैं।

इस पद्य में विभवः शब्द एवं अनुशासन, शासन, कृशासन, कृशा सन् आदि शब्दों से यमकालंकार की छटा द्रष्टव्य है।

अनुप्रास – प्रस्तुत स्तोत्र के स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले आदि पद्य से अन्त तक सर्वत्र अनुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है। यथा – **सरस्वतीमेव समग्रशोभां सर्वज्ञलक्ष्मीज्वलितां विमुक्तः।**[48] आदि पद्य में कवि ने स,स,स,श और त,त आदि की आवृत्ति द्वारा अपूर्व माधुर्य उत्पन्न किया है। अर्थ में माधुर्य तो है ही, अनुप्रास की छटा ने संगीत माधुर्य भी उत्पन्न कर दिया है।

इस प्रकार स्वयम्भूस्तोत्रम् में आचार्य समन्तभद्र की अलंकार योजना श्रेष्ठ है।

स्वयम्भूस्तोत्रम् की रस योजना

सहृदयों की चित्तवृत्तियों में अनन्त रूप से परिव्याप्त रहने वाले संस्कारों को ही भाव कहा जाता है। मानवीय संस्कार ही अनुकूल परिस्थितियों में प्रबुद्ध हो रस अथवा आनन्द के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। रस रूप में परिणत अथवा पर्यवसित होने वाले भावों के उद्दीपक हेतु परक मनोविकारों को विभाव कहते हैं। ये आलम्वन और उद्दीपन दो रूपों में विभक्त है। आलम्वन विभाव स्थायी भाव को अंकुरित और उद्दीपन से पल्लवित करता है। जो अन्तस्थ भावों का शारीरिक चेष्टाओं आदि के द्वारा अनुभव कराते हैं

तथा रत्यादि स्थायी भावों का अनुगमन करते हैं, वे अनुभाव हैं। इस प्रकार आलम्वन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त,व्यभिचारी भावों

से परिपुष्ट तथा अनुभवों द्वारा व्यक्त हृदय का स्थायी भाव ही रस कहलाता है।[49]

काव्य सरस मार्मिक अनुभूतियों की रसात्मक अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण काव्यात्मक उपकरणों से विभूषित होने पर भी यदि काव्य रस गर्भ निर्भर नहीं है तो उस काव्य का काव्यत्व सहृदयों को प्रभावित नहीं कर सकता। रस और सुन्दर भाव संवेगों का अन्योन्य सम्बन्ध है। अतएव काव्य में रस का होना अपरिहार्य है। रस से अभिव्यक्त काव्य अपूर्वता, चारूता और उत्तरोत्तर नवीनता को प्राप्त करता है। समस्तश्रेष्ठ कवियों ने अपने काव्य को कलात्मक, कल्पना और भावप्रवण बनाने के लिए नवरसों का समाहार किया है। इस समवाय से काव्य में भावभंगिमा तथा आस्वादन में अपूर्वता का संचार होता है। समन्तभद्र का स्वयम्भूस्तोत्रम् एक सरस काव्य ग्रन्थ है। भक्त भगवान की भक्ति में लीन होकर ही अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति प्रदान कर पाता है। समन्तभद्र ने चौवीस तीर्थंकरों की भक्ति में लीन होकर, आनन्द विभोर होकर स्तोत्र काव्य की रचना की है। सरस एवं भावपूर्ण रचना होने के कारण ही उक्त स्तोत्र समस्त सहृदयों का प्रिय बना हुआ है। इस स्तोत्र का अंगीरस शान्त है परन्तु कहीं कहीं अंग रूप में अन्य रस भी हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र की काव्य योजना

मानव की रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यंजना का सबसे अधिक प्राचीन वरिष्ठ एवं व्यापक रंगमंच काव्य है। काव्य अपनी विशद एवं पूर्ण अभिव्यंजना के लिए अथवा अपनी अभिव्यक्ति को दूसरे हृदय में प्रतिष्ठापित करने के लिए जिन अनेक चित्र संगीतमय इंगितायासों का आश्रय ग्रहण किया जाता है उनमें नाद सौन्दर्य की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण छन्द हैं।[50] छन्द वास्तव में बंधी हुई लय के भिन्न भिर्न्न ढांचों (पैटर्न्स) का योग है, जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय– स्वर के चढ़ाव उतार स्वर के छोटे छोटे ढ़ांचे ही हैं, जो किसी छन्द के चरण के भीतर व्यस्त रहते हैं।[51] मात्रा, वर्ण, रचना, विराम और यति सम्बन्धी नियम जिस काव्य रचना में पाये

जायें वह वाक्य रचना छन्द है। **छन्दयति आह्लादयति असून्** अर्थात् जिससे हृदय का आह्लादन या प्रसादन हो, वही छन्द है। अतएव स्पष्ट है कि छन्द में प्रसादिकता या उसकी अनुरंजनकारिणि स्फूर्ति वर्तमान रहती है। काव्य में प्रसाद गुण का संचार कराने वाला उपादान छन्द है।

छन्द शब्द का अर्थ बन्धन या छादन भी है, वह लय की गति और उसके अविराम स्वर प्रवाह को समय की सुनिश्चित इकाईयों में बांधकर भावों को अधिक प्रेषणीय बनाता है। अतः छन्द बन्धन लयात्मक सुन्दरता की रक्षा के हेतु स्वीकार किया गया है।

छन्दशास्त्र से सम्बन्धित उपर्युक्त सभी विशेषताएं समन्तभद्र कृत स्वयम्भूस्तोत्र में पायी जाती हैं। उन्होंने प्रस्तुत स्तोत्र में निम्नलिखित छन्दों का प्रयोग किया है –

क्रम	स्तवन नाम	श्लोकसंख्या	छन्दनाम
1.	आदिनाथ	1–5	वंशस्थ
2.	अजितनाथ	6–10	उपजाति
3.	सम्भवनाथ	11, 14	इन्द्रवज्रा
12	उपेन्द्रवज्रा	13, 15	उपजाति
4.	अभिनन्दननाथ	16–20	वंशस्थ
5.	सुमतिनाथ	21–24	उपजाति
		25	उपेन्द्रवज्रा
6.	पद्मप्रभ	26–30	उपजाति
7.	सुपार्श्वनाथ	31–35	उपजाति
8.	चन्द्रप्रभ	36–40	उपजाति
9.	पुष्पदन्त	41–45	उपजाति
10.	शीतलनाथ	46–50	वंशस्थ
11.	श्रेयांसनाथ	51,54,55	उपजाति
		52,53	उपेन्द्रवज्रा

क्रम	स्तवन नाम	श्लोकसंख्या	छन्दनाम
12.	वासुपूज्य	56,58,59	उपजाति
		57	उपेन्द्रवज्रा
		60	इन्द्रवज्रा
13.	विमलनाथ	61–65	वंशस्थ
14.	अनन्तनाथ	66–70	वंशस्थ
15.	धर्मनाथ	71–75	रथोद्धता
16.	शान्तिनाथ	76–80	उपजाति
17.	कुन्थुनाथ	81–85	वसन्त तिलका
18.	अरनाथ	86–103	पथ्यावक्त्र
		104,105	सुभद्रिकामालती मिश्रयमक
19.	मल्लिनाथ	106–110	वनवासिका छन्द
20.	मुनिसुव्रतनाथ	111–115	वैतालीय छन्द
21.	नमिनाथ	116–120	शिखरिणी
22.	नेमिनाथ	121–130	उद्‌गता
23.	पार्श्वनाथ	131–135	वंशस्थ
24.	महावीर जिन	136–143	स्कन्धछन्द,आर्यागीति

स्तोत्र होने के कारण समन्तभद्र ने गेय तत्त्व एवं संगीत उत्पन्न करने के लिए विविध छन्दों का व्यवहार किया है।

शब्दशक्तियां एवं गुण

शब्दशक्ति की अपेक्षा यदि विचार किया जावे तो स्तोत्र में अभिधा शक्ति का ही बाहुल्य है एवं गुण माधुर्य है।

स्तुतिविद्या में अलंकार

स्वयम्भूस्तोत्र की तरह स्तुतिविद्या भी समन्तभद्र का अलंकारिक ग्रन्थ है। इसमें आचार्य ने चित्रालंकार के माध्यम से चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की है। यद्यपि स्तुतिविद्या चित्रालंकार प्रधान स्तुतिपरक काव्य ग्रन्थ है, फिर भी इसमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकार स्पष्टतः दिखाई देते हैं।

भावों को सजाने व उन्हें रमणीय बनाने के लिए अलंकारों का प्रयोग आवश्यक होता है। प्रत्येक कवि भावों में सजीवता और प्रभविष्णुता लाने के लिए अलंकारों का नियोजन करता है। समन्तभद्र ने भी श्लेष, यमक, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि के साथ साथ चित्रालंकारों के नियोजन में सर्वाधिक कौशल दिखाया है। चित्रकाव्य में शब्दों की रम्य कीड़ा रहने पर भी संवेदनाओं की मार्मिक अभिव्यंजना सम्भव है अतः स्तुतिविद्या में काव्य सौन्दर्य के हेतु, चित्रों की सुन्दर योजना की है। इस ग्रन्थ में लगभग अट्ठाईस चित्र उपलब्ध होतें हैं। उनमें मुरजबन्ध, अर्थकम गतप्रत्यागतार्थ, चकबन्ध, अन्तरपाद मुरजबन्ध, एकाक्षरान्तरित मुरजबन्ध, अनुलोम प्रतिलोमेकबन्ध, सर्वतोभद्र, गतप्रत्यानतपादबन्ध, अनुलोम प्रतिलोम श्लोक युगलबन्ध, इष्टपाद वलयबन्ध, नामगर्भ चकबन्ध, महायमकबन्ध आदि प्रधान हैं।

एकाक्षरशाब्दी कीड़ा

यहां उदाहरणार्थ एकाक्षर द्वारा गुम्फित पद्य प्रस्तुत कर समन्तभद्र की शाब्दी कीडा का चमत्कार उपस्थित है –

> **ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः।**
> **ततोतातिततोतोते ततता ते ततोततः।।**[62]

हे, भगवन्, आपने ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञानादि विशेष गुणों को प्राप्त किया है तथा आप परिग्रह रहित स्वतन्त्र हैं। अतः आप पूज्य और मान्य हैं। आपने ज्ञानावरणादि कर्मो के विस्तृत अनादिकालिक सम्बन्ध को नष्ट कर दिया है। अतः आपकी विशालता प्रभुता स्पष्ट है। आप तीनों लोकों के स्वामी हैं।

उपर्युक्त पद्य का प्रणयन केवल तकाराक्षर द्वारा किया गया है। छन्दशास्त्र के अनुसार 'त' वर्ण को अशुभ माना जाता है, पर जब इस वर्ण का प्रयोग देवस्तुति या मंगलत्व में किया जाता है तो उसका अशुभत्व दूर हो जाता है।[63] ऐसा प्रतीत होता है कि कवि समन्तभद्र उक्त सिद्धान्त से परिचित थे। उनका यह 'त' वर्ण श्रुतिमधुर न होने पर भी कोमला वृत्ति की

सर्जना करता है। काव्यशास्त्र की शिक्षा के अनुसार कवि किसी भी पद्य के आरम्भ में श्रुत्यनुप्रास हेतु 'त' वर्ण का प्रयोग उसी समय करता है, जब उसे अपने आराध्य या उपास्य में विशेष गुणों का विवेचन करना अभिप्रेत होता है।[54] अतः उक्त पद्य में काव्यशास्त्र के नियमों का प्रयोगात्मक व्यवहार पाया जाता है।

साहित्यशास्त्र में य, न, म, ये वर्ण मधुर माने गये हैं साथ ही इनमें शुभत्व की भी योजना की गयी है। जहां कवि को विशेष अभिप्राय से कुछ कहना अभीष्ट होता है, वहां वह उक्त तीन वर्णों द्वारा पद्य का गुम्फन करता है इस गुम्फन से मधुरा और कोमला वृत्तियों का नियोजन होता है, पर जब कवि को आराध्य या नायक में ओज का भी समावेश करना पड़ता है तब वह अन्तिम पद में 'त' वर्ण की योजना कर काव्य प्रणयन करता है।[55] कवि समन्तभद्र ने आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के स्तवन में य, न, म और त चार वर्णों की रचना कर एक साथ सौन्दर्य, माधुर्य, तेज एवं ओज का समावेश किया है। जहां तक प्राचीन और अर्वाचीन आलोचना का प्रश्न है, वहां तक यह माना जा सकता है कि समन्तभद्र ने कवि रूप का बड़ी कुशलता से निर्वाह किया है। उनका उक्त पद्य में वर्णित उपास्य सुन्दर है, सुखद है, तेजस्वी है और है कर्मबन्धनों को तोडने वाला वीर। इसी कारण कवि ने उक्त चारों व्यंजन वर्णों द्वारा चित्र की योजना की है। यथा –

येयायायायेयाय नानानूनाननानन।
ममाममाममामामि ताततीतितितीतितः।।[56]

हे, भगवन्, आपका मोक्षमार्ग उन्हीं जीवों को प्राप्त हो सकता जो पुण्यबन्ध के सम्मुख है अथवा जिन्होंने पुण्यबन्ध प्राप्त कर लिया है। आप सुन्दर हैं, समवसरण में आपके चारों ओर दिव्यमुख प्रतिभासित होते हैं तो भी आप सांसारिक बड़ी बड़ी व्याधियों को नष्ट कर देते हैं। हे, प्रभो, अन्तरंग और बहिरंग से सुन्दर दिखने वाले स्वामिन् मेरे भी जन्म मरण के रोग को नष्ट कर दीजिए।

चन्द्रप्रभ और शीतल जिन की स्तुति करते हुए मुरजबन्धों की योजना में व्यतिरेक और श्लेष अलंकार की दिव्यआभा का मिश्रण उपलब्ध होता है।कवि चित्र रचना में जितना प्रवीण है, श्लेष द्वारा उभय तीर्थंकरों के गुणों के वर्णन में भीउतना ही सजग एवं कुशल है। मुरजबन्ध का ऐसा अर्थपूर्ण उदाहरण क्वचित् कदाचित् ही उपलब्ध होगा। यथा –

प्रकाशयन खमुद्भूतस्त्वमुद्घांककलालयः।
विकाशयन् समुद्भूतः कुमुदं कमलाप्रियः।।[67]

हे, प्रभो, आप इन्द्र रूप हैं क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होते ही आकाश को प्रकाशित करता है उसी प्रकार आप भी समस्त लोकाकाश और अलोकाश को प्रकाशित करते हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार मृग लांछन से युक्त हैं, उसी प्रकार आप भी मनोहर अर्द्धचन्द्र से युक्त हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार षोडश कलाओं का आलय स्थान है उसी प्रकार आप भी केवलज्ञान आदि अनेक कलाओं के आस्पद हैं। चन्द्रमा जिस प्रकार कुमुदों को विकसित करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार आप भी पृथ्वी के समस्त प्राणियों को आनन्दित करते हैं चन्द्रमा जैसे कमलाप्रिय–कमलशत्रु होता है वैसे आप भी कमलप्रिय केवलज्ञानादि लक्ष्मी के प्रिय हैं।

श्लेष के समान की उपर्युक्त पद्य में व्यतिरेक अलंकार भी है। इस अलंकार के प्रकाश में उपमान चन्द्रमा की अप्रेक्षा उपमेय, चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के गुणों का उत्कर्ष दिखलाया गया है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक गुणवान् और महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार उक्त मुरजबन्ध में वर्णजन्य संगीतात्मकता के साथ अर्थवत्ता भी समाहित है। यह पद्य शब्द के अर्थ को विचित्र ध्वनि तरंग द्वारा विस्तृत करता है। आराध्य के गुणानुवर्णन में अस्फुट भावावलि को भाषा के उक्त चमत्कार द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास निहित है। यहां रस सत्ता के भीतर जो स्पन्दनमयी अभिव्यंजना पायी जाती है, वह भावों को होम्योपैथिक औषधि के समान उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अनिर्वचनीय शक्तिशाली बनाती है। वर्णों में झंकृति ही प्रत्युत स्पंदन है, जो हृदय की और हृदयस्थित सुकुमार भावनाओं को उद्वेलित करता है।

श्रेयोजिन की स्तुति में अर्धभ्रम चित्र का प्रयोग विहित है। इसमें ओष्ठ स्थानीय वर्णों का अभाव है और चतुर्थपाद के समस्त वर्णों को अन्त के तीन पदों में समाविष्ट कर दिया गया है। साहित्य शिक्षा की दृष्टि से इस प्रकार के पद्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। कवि ने ओष्ठ स्थानीय वर्णों का अभाव निम्नलिखित चार कारणों से प्रभावित होकर किया है –

1. ओष्ठ वर्णों की गणना अशुभाक्षरों से की गयी है। अतः उसका वर्जन मुक्तक काव्य में अत्यावश्यक है।

2. कोमला, मधुरा और परुषा इन तीनों वृत्तियों में ओष्ठ्य वर्ण अनावश्यक है। मुक्तक काव्य का रचयिता जिन अमूर्त भावों को मूर्त रूप देकर प्रवाह उत्पन्न करना चाहता है, ओष्ठ्य वर्ण उस प्रवाह में व्यवधायक है।

3. 'म' जैसे ओष्ठ्य वर्णों की गणना दग्धाक्षरों में है। मुक्तक काव्य में घटना या कथ्य का आधार न रहने से ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग श्लाघ्य नहीं है। काव्य की भाषा संगीत और चित्र धर्म को उत्पन्न करती है। मुक्तक के गुणों में संगीत तत्त्व प्रधान है। ओष्ठ्य वर्ण संगीत के सर्जन में बाधक हैं। अतएव मुक्तक काव्य का रचयिता ओष्ठ्य वर्णों का त्याग करता है।

4. भावों के संक्रमण में भी ओष्ठ्य वर्ण बाधक हैं। कवि की काव्यानुभूति स्वानुरूप वर्ण, स्वानुरूप चित्र और स्वानुरूप झंकार लेकर ही आत्माभिव्यक्ति करती है। जब कोई विशेष वर्णावलि भावों के संक्रमण में अवरोधक होती है तो कवि उन अवरोधक धर्मों का तिरस्कार कर भाव संक्रमण करने वाले वर्णों का ही संयोजन करता है। यही कारण है कि कवि समन्तभद्र ने श्रेयो जिन की स्तुति में ओष्ठ्य स्थानीय वर्णों का त्याग किया है।[58]

हरतीज्याहिता तान्तिं रक्षार्थायस्य नेदिता।
तीर्थादे श्रेयसे नेताज्यायः श्रेयस्ययस्य हि।।[59]

कवि ने कुछ ऐसे पद्यों का भी प्रणयन किया है, जिनको विपरीत क्रम से पढ़ने पर भिन्नार्थक अन्य श्लोक भी बन जाते हैं। स्वयं समन्तभद्र ने ऐसे

अनुलोम प्रतिलोम क्रम से पढे जाने वाले पद्यों का प्रयोग किया है। यथा –

रक्ष माक्षर वामेश शमी चारूरुचानुतः।
भो विभोनशनाजोरुनम्रेन विजरामय।।[60]

प्रतिलोम कम से पढ़ने पर उक्त पद्य का रूपान्तर निम्न प्रकार है –

यमराज विनम्रेन रुजोनाशन भो विभो।
तनु चारुरुचामीश शमेवारक्ष माक्षर।। – स्तुतिविद्या, 87

शाब्दी के साथ नादानुकृति का भी समन्तभद्र ने पूर्ण ध्यान रखा है। ऐसा एक भी पद्य नही है, जिसमें नादानुकृति का अभाव हो, विधायक कल्पना द्वारा आराध्य की शरीराकृति के साथ उनके आन्तरिक गुणों का विवेचन भी किया गया है। कवि ने अपनी स्तुतिविद्या में अमूर्त कहे जाने वाले भावों की यमक और श्लेष द्वारा मूर्त रूप में अभिव्यंजना की है।

वस्तुतः कवि समन्तभद्र भाषा, शब्द और नादानुकृति के ही कवि नहीं हैं, उन्होंने अपने मुक्तकों में उस अर्थ और चित्र सम्पत्ति की भी अभिव्यंजना की है, जिसे प्राप्त करके कविता सौन्दर्य को प्राप्त करती है। इस प्रेरणा की अभिव्यक्ति के लिए समन्तभद्र ने चित्रों और श्लेषों का संयोजन किया है । कवि का विश्वास है कि चित्रों के सतत अभ्यास से चित्त चांचल्य अविरूद्ध हो जाता है और रसानुभूति आत्मानुभूति के रूप में परिणत होने लगती है।

कवि ने अभिनन्दन तीर्थंकर कीं स्तुति में भावों की अभिव्यंजना करते हुए लिखा है –

नन्दनं त्वाप्यनष्टो न नष्टोनत्वाभिनन्दन।
नन्दनस्वर नत्वेन नत्वेनः स्यान्न नन्दनः।।[61]

हे, मधुर भाषिन् अभिनन्दन प्रभो, आपकी उज्ज्वल भक्ति का अवलम्बन लेकर कोई भी भक्त अपने दुष्कर्मों का क्षय कर उच्च अवस्था को प्राप्त करता है। वह आत्मा से परमात्मा बन जाता है। जिस प्रकार लोहा पारस

मणि के स्पर्श से स्वर्ण बनता है, उसी प्रकार हे, प्रभो, आपके भक्ति प्रसाद से आराधक कर्मों का विनाश कर मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त स्तुतिविद्या में कवि ने अर्थालंकार के अन्तर्गत व्यतिरेक, उपमा, विरोधाभास, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, अनन्वय, परिसंख्या, काव्यलिंग आदि अलंकारों के द्वारा काव्य सौन्दर्य उत्पन्न किया है।

उपमालंकार – पुष्पदन्त जिन की स्तुति करते हुए कवि कहता है कि

शोकक्षयकृदव्याधे पुष्पदन्त स्ववत्पते।
लोकत्रयमिदं बोधे गोपदं तव वर्तते।।[62]

अर्थात् हे, शोक का क्षय करने वाले, हे, व्याधियों से रहित, हे, आत्मज्ञानियों में श्रेष्ठ, पुष्पदन्त भगवान आपके विश्व प्रकाशी केवलज्ञान में तीनों लोक गोष्पद के कीचड़ में चिह्नित हुए गाय के खुर के समान जान पड़ते हैं।

इसी प्रकार कुन्थु जिन की स्तुति में श्लोक कमांक 84 एवं महावीर जिन की स्तुति करते समय श्लोक कमांक 105 में उपमा की छठा द्रष्टव्य है।

विरोधाभास

शाब्दी कीड़ा के चतुर खिलाडी समन्तभद्र की विरोधाभास योजना द्रष्टव्य है –

एतच्चित्रं पुरोधीर स्नपितो मन्दरे शरैः।
जातमात्रः स्थिरोदार क्वापि त्वममरेश्वरैः।।[63]

हे, शीतल नाथ जिन, यह आश्चर्य की बात है कि आप पृथ्वी के पृथ्वीगत प्राणियों के पक्ष – ज्ञानावरणादि कर्मों के घातक होकर भी पालक हैं। रक्षक हैं और शीतल शीत गुण युक्त विशिष्ट ठण्डे पक्ष मे शीतलनाथ दशम तीर्थंकर होकर भी पावक अग्नि पक्ष म पवित्र करने वाले है।

यह श्लेष मूलक विरोधाभास है। श्लोक कमांक 49 धर्मनाथ स्तुति में श्लोक कमांक 63, 68, 82, 115 में भी विरोधाभास की योजना है।

रूपक

काममेत्य जगत्सारं जनाः स्नात महोनिधिम्।
विमलात्यन्तगम्भीरं जिनामृतमहोदधिम्।।[64]

कवि ने जिनेन्द्र देव एवं क्षीरोदधि में अभेद प्रदर्शित कर रूपक की योजना की है – हे, भव्य जीवो, तुम उस जिनेन्द्र रूपी क्षीर सागर को प्राप्त कर यथेष्ट स्नान करो– कर्ममल धोकर अपने आपको पवित्र बनाओ, जो कि तीनों लोकों में श्रेष्ठ है। विमल है, कर्ममल और कर्दम आदि से रहित है। अत्यन्त – विनाश रहित, यथा गम्भीर है – धीर वीर और गहरा है।

इसी प्रकार स्तुतिविद्या के श्लोक कमांक 67, 87 तथा115 के पूर्वार्द्ध में रूपक अलंकार है।

उत्प्रेक्षा

श्रेयो जिन चरण कमलों के सौन्दर्य के सम्बन्ध में कवि उत्प्रेक्षा करता हुआ कहता है –

आलोक्य चारु लावण्यं पदाल्लातुमिवोर्जितम्।
त्रिलोकी चाखिला पुण्यं मुदा दातुं ध्रुवोदितम्।।[65]

हे, प्रभो, हर्ष पूर्वक पुण्य प्रदान करने के लिए हमेशा प्रकाशमान और विस्तृत आपके चरण कमलों के मनोहर सौन्दर्य को देखकर उनसे उसे लेने के लिए ही मानों ये तीन लोक के जीव आपको नमस्कार करते हैं। श्लोक कमांक 64, 71 में भी उत्प्रेक्षा अलंकार द्रष्टव्य है।

सन्देह

धर्मनाथ जिन के सौन्दर्य का सन्देहालंकार में चित्रण करता हुआ कवि कहता है –

कुत एतो नु सन्वर्णो मेरोस्तेपि च संगतेः।
उत कीतोथ संकीर्णो गुरोरपि तु समतेः।।[66]

हे, भगवन्, हम लोगों को अबतक सन्देह था कि मेरु पर्वत का ऐसा सुन्दर रूप कहां से आया, क्या आपकी संगति से अथवा आपका जन्माभिषेक होने से या मूल्य देकर खरीदा गया, किसी सुन्दर वस्तु को उसमें मिला दिया, परन्तु अब हमें निश्चय हो गया कि मेरु का वह सुन्दर रूप आपकी संगति आज्ञा से हो गया है।

अनन्वयालंकार

कवि शान्तिनाथ तीर्थंकर से स्व समान बनाने के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है –

स्वसमान समानंद्या भासमान स मानघ।
ध्वंसमानसमानस्तत्रासमानसमानतम्।।[67]

हे, स्व समान, हे, शोभायमान, हे निष्पाप, हे शान्तिनाथ जिन आप मुझे समृद्धि सम्पन्न ज्ञानदर्शनादिरूप आत्म सम्पत्ति से पूर्ण कीजिए। मैं आपके चरणों में आनत हूं – मेरा मानसिक उद्वेग यद्यपि नष्ट नहीं हुआ है तथापि नष्ट मान के समान हो रहा है। अतः मुझे अपने ही समान समृद्ध कीजिए।

परिसंख्यालंकार

सर्वत्र सम्भव होने वाली वस्तु का किसी एक रूप में ही नियम कर देना परिसंख्या अलंकार है।[68] कवि समन्तभद्र भक्ति में लीन होकर अपने सम्पूर्ण आंगोपांगों को भगवद्मय ही चाहते हैं –

प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं परं भवभिदी यत्राासिते ते पदे।
मांगल्यं च स यो रतस्तव मते गीः सैवयात्वा स्तुते
ते ज्ञा ये प्रणता जनाः क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते।।[69]

हे, देवाधिदेव, बुद्धि वही है जो आपका स्मरण करे, आपका ध्यान करे। मस्तक वही है जो आपके चरणों में नत रहे जन्म वही सफल और श्रेष्ठ है जिसमें संसार परिभ्रमण का नष्ट करने वाले आपके चरणों का आश्रय लिया गया हो। पवित्र वही है, जो आपके मत में अनुरक्त हो। वाणी वही है जो कि आपकी स्तुति करे और बुद्धिमान वे ही हैं, जो आपके चरणों में नत रहें।

काव्यलिंग

कवि स्वयं को आराध्य के प्रति समर्पित करता हुआ कहता है,

> **सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्च्चनं चापि ते**
> **हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोक्षि संप्रक्षते।**
> **सुस्तुत्यां व्यसनं शिरो नतिपरं सेवेदृशी येन ते**
> **तेजस्वी सुजनोहमेव सुकृति तेनैव तेजःपते।।**[70]

हे, भगवन्, मेरी श्रद्धा केवल आपके के ही मत में है। मैं स्मरण भी आपका ही करता हूं। पूजन भी आपकी ही करता हूं। मेरे हांथ केवल आपके सामने जोड़ने के लिए ही हैं। मेरे कान आपकी कथा सुनने के लिए ही हैं। आंखें केवल आपका रूप देखती हैं। मुझे मात्र आपकी स्तुति करने का ही व्यसन है। मेरा मस्तक केवल आपको ही नमस्कार करने में तत्पर है। अतः हे, तेजःपते, मैं तेजस्वी और पुण्यवान हूं।

श्लेषालंकार

इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण श्लोक संख्या 31 है।

व्यतिरेकालंकार

इसकी छठा श्लोक कमांक 30, 32, 33 एवं 34 में द्रष्टव्य है।

यमकालंकार

शब्दालंकारों में यमक के सभी प्रकारों पर कवि ने काव्य कौशल दिखाया है। उक्त अलंकार निम्नलिखित कमांकों के श्लोकों में दृष्टव्य हैं – 11,,12, 15, 16, 25, 28, 37, 46, 47, 72, 76, 77, 81, 100,106 एवं 107।

मुक्तक काव्यों के द्वारा चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति करने वाले समन्तभद्र ने शब्दालंकार अर्थालंकार के साथ चित्रालंकार का अपूर्व एवं अनूठा कौशल दिखाया है। चित्रों के माध्यम से आराध्य में लीनता प्राप्त करना कवि का लक्ष्य रहा है।

चित्रालंकारों में सर्वाधिक कौशल मुरजबन्ध का दर्शनीय है। अतः उसी पर विचार करेंगे। अलंकार चिन्तामणि के रचयिता ने मुरजबन्ध की परिभाषा करते हुए लिखा है कि –

पूर्वार्धं मूर्ध्वं पंक्तो तु लिखित्वार्द्ध परं त्वतः।
एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत्कविः।।[71]

पहले श्लोक के पूर्वार्ध को पंक्ति के आधार में लिखना, उत्तरार्द्ध को भी पंक्ति आकार में उसके नीचे लिखना। इस अलंकार में प्रथम पंक्ति के प्रथम अक्षर को द्वितीय पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ और द्वितीय पंक्ति के प्रथम अक्षर को प्रथम पंक्ति के द्वितीय अक्षर के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए यही कम श्लोक के अन्तिम अक्षर तक जारी रखना चाहिए। स्तुतिविद्या में मुरजबन्ध की योजना निम्नलिखित कमांक के श्लोकों में द्रष्टव्य है – 2, 6, 7, 8, 29, 30, 31, 32, 33, 34, 35, 39, 40, 41, 42, 45, 49, 58, 59, 60,61, 62,,63, 65, 67, 68, 69, 70, 71, 73, 74, 75, 76, 77, 78, 80, 82, 89, 101,102,103,104,105।

अन्तरपादमुरज

यह प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद में होता है। यह स्तुतिविद्या के 48, 64, 66 और 100 श्लोकों में देखा जा सकता है।

इष्टपादमुरज

इस अलंकार में चारों पदों का अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यह इष्टपादमुरज स्तुतिविद्या के श्लोक क्रमांक 50, 89, 91 में हैं।

अर्धभ्रम

यह श्लोक संख्या 4, 18, 19, 20, 21, 27, 36, 43, 44, 56, 90, 92 में द्रष्टव्य है।

रीति

जब हम किसी कवि के काव्य पर रीति की दृष्टि से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि कवि अपने काव्य में अपने व्यक्तित्व के अनुसार रीति का

अनुसरण करता है अर्थात् रीति का प्रयोग कवि के व्यक्तित्व पर अवलम्बित होता है। कवि समन्तभद्र ने कहीं कहीं समास बहुल भाषा का प्रयोग कर माधुर्यपूर्ण वर्णों के द्वारा रचना में लालित्य का समावेश किया है।

काव्यशास्त्रीय विवेचकों में सर्वप्रथम भरत हैं जिन्होंने श्लेष, प्रसाद आदि काव्यगुण स्वीकार किये परन्तु छठवीं शताब्दी के दण्डी ने उन्हें वैदर्भ मार्ग का गुण माना है।[72] समन्तभद्र दण्डी से पूर्व के एवं भरत के बाद के हैं क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने वालों ने भरत का समय विक्रम पूर्व 500 शताब्दी से लेकर प्रथम शताब्दी के मध्य माना है।[73] समन्तभद्र का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी तक माना गया है। अतः यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र के सामने भरत का नाट्यशास्त्र रहा हो। यहां हम अधिक साहित्यशास्त्रीय विवेचन में न पडकर यह विचार करेंगे कि समन्तभद्रने अपने स्तोत्रों में भाषा के जिस मार्ग को अपनाया है या आधुनिक आलोचकों की दृष्टि से किस किस रीति में रचना की है। स्वयम्भूस्तोत्र तथा स्तुतिविद्या में कवि समन्तभद्र ने भक्ति रस में अवगाहन करते हुए ललित पदावली में माधुर्यपूर्ण रचना की है। अतः इनके ग्रन्थों में वैदर्भी रीति को ही स्थान प्राप्त है परन्तु स्तुतिविद्या की रचना एक व्यंजन वर्णों में की गयी है।इस दृष्टि से गौडीरीति प्रधान है। समन्तभद्र ने अपनी भस्मक व्याधि के शमनार्थ भारत भ्रमण किया था। अतः देश में प्रचलित भक्ति मार्ग में सभी रीतियों को अपनाया है।

गुण

काव्य गुणों की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र ने वीतराग भक्ति निर्वेद भाव प्राप्त करने के लिए की है। अतः शान्तरस पूर्ण है। शान्तरस पूर्ण रचना का मुख्य गुण माधुर्य होता है। इसलिए समन्तभद्र के स्तोत्रों में माधुर्य गुण की प्रधानता है।

छन्द

स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतक में कवि समन्तभद्र ने अनुष्टुप प्रभाषिका छन्द एवं शार्दूलविक्रीडित छन्दों का प्रयोग किया है।

समन्तभद्र : भारवि और माघ

भारवि कृत किरातार्जुनीयम् और माघ कृत शिशुपालवधम् के अनेक पद्य समन्तभद्र कृत स्तुतिविद्या के पद्यों की तरह हैं, जिससे यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि भारवि और माघ की रचनाओं पर समन्तभद्र का प्रभाव पड़ा है। इस दृष्टि से समन्तभद्र साहित्य सर्जना की चित्रात्मक विधा के अप्रतिम आद्य कवि सिद्ध होते हैं। स्तुतिविद्या के कतिपय पद्यों से निम्न प्रकार किरातार्जुनीयम् और शिशुपालवधम् के पद्य मेल खाते हैं।

माघ	समन्तभद्र
एकाक्षरपाद दाददो दुददुददादी दादादो दुददीददोः। दुददादं दददे दुददे ददाददददो ददः।। — शिशुपालवधम् 19.114	**एकाक्षरपाद** ततोतिता तु तेतीतस्तोतृतोतीतितोतृतः। ततो तातितततोतोते ततता ते ततोततः।। — स्तुतिविद्या, 13
द्वयाक्षर वररो विवरो वैरिविवारी वारिरारवः। विववार वरो वैरं वीरो रविरिववोर्वरः।। — शिशुपालवधम् 19.100	**द्वयाक्षर** वीरावारर वारावी वररोरुरुरारव। वीरावाररवारावी वारिवारिरि वारि वा।। — स्तुति0 85
चक्रबन्धः सत्यं मानविशिष्टमाजिरमसादालम्ब्य0 इत्यादि — शिशुपालवधम् 19.120	**चक्रबन्धः** नष्टाज्ञानमलोन शासनगुरो नम्रं जनं पा0 इत्यादि — स्तुति0 111
सर्वतोभद्र स का र ना ना र का स का य सा द द सा य का र सा ह वा वा ह सा र ना द वा द द वा द ना	**सर्वतोभद्र** पा रा वा र र वा रा पा रा व मा व मा व रा ना मा ना म म ना मा ना र क्ष म र्द्ध र्द्ध म क्ष र
मुरजबन्ध सा से ना ग म ना र म र से ना सी द ना र ता ता र ना द ज ना म तत धी र ना ग म ना म या — शिशुपालवधम् 19.29	**मुरजबन्ध** श्री म जिज न प दा भया शं प्र ति प द्या न सां ज ये काम स्था न प्र दा ने शं स्तु ति वि द्यां प्र साद्र ये स्तुति0 1

माघ	समन्तभद्र
प्रतिलोमानुलोमपाद	**अनुलोमप्रतिलोम**
नानाजावक्वजानाना सा जनोपघनोजला परा हानिराय तान्वियाललयान्विता।। – शिशुपालवधम् 19.40	नतपाल महाराज गीत्यानुत मयाक्षर। रत मामतनुत्यागी जराहा मलपातन।। – स्तुति० 57

इत्यादि ।

भारवि	समन्तभद्र
एकाक्षरपाद	
न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु नुन्नो नुन्नोननुन्नेनो नानेनानुन्ननुननुत। – किरातार्जुनीयम् 14	ततोतिता० आदि – स्तुति० 13
प्रतिलोमानुलोमपाद	
वेत्रशाककुजे शैले लेशैजे कुकशास्त्रजे इत्यादि – किरा० 18	यमराज विनम्रेनरुजोनाशन भो विभो इत्यादि – स्तुति० 87

सर्वतोभद्र, अर्धभ्रम, द्वयक्षर, गोमूत्रिकाबन्ध इत्यादि चित्रालंकारों के अनेक श्लोक भारवि के समन्तभद्र के समान हैं ।

देवाकानिनिकावादे वाटिका स्वत्वकादि वा।
काकारेममरे काका निस्वमव्यव्यमस्वनि।। – किरातार्जुनीयम्, 25

अर्धभ्रम

ससस्वरसिदेनित्यं सदरामर्धनाशिनी। त्वराधिककसननादे रमकत्वमकर्षति।। – किरातार्जुनीयम् 27	अतमः स्वनतारक्षी तमोहा वन्दनेश्वरः। महाश्रीमानजो नेता स्वव मामभिनन्दन।। – स्तुति० 21

द्वयक्षर

चारचंचुश्चिरारेचि चंचच्चीरस्चारुचः। चचाररुचिरश्चारू चारेराचारचंचुरः।। – किराता० 15.38	नेतानतनुते नेनोनितान्तं नाततो नुतात्। नेता न तनुते नेनो नितान्तं ना ततो नुतात्। – स्तुति० 52

भारवि	समन्तभद्र
गोमूत्रिकाबन्ध	
नासुरोऽयं वा नानो धर संस्योन राक्षसः ना सुखो यं नवामोगो धरिणत्वो हि राजसः।	स्नातस्वमलगम्भीरं जिनामितगुणार्णवम्। पूतश्रीमज्जगत्सारं जनायातक्षणच्छिवम्
— किराता0 15.12	— स्तुति0 2

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र की प्रतिभा प्रबन्धकाव्य तथा मुक्तक काव्य रचना में सक्षम थी। उनके स्तोत्रों में अलंकार, रस, गुण आदि का यथेष्ट समावेश है। समन्तभद्र ने संस्कृत काव्य को निम्नलिखित तत्त्व प्रदान किये हैं।

1. चित्रालंकार का प्रारम्भ और उसका समुचित विचार।
2. श्लेषों और यमकों द्वारा काव्य शैली का उदात्रीकरण।
3. शतक काव्य रचना का सूत्रपात।
4. स्तवनों में बाह्य चित्रण की अपेक्षा अन्तरंग चित्रण का बाहुल्य।
5. मुक्तक काव्यमें संगीत, माधुर्य प्रवाह लयादि समस्त गुणों का समन्वय।
6. काव्य में दर्शन भावना का नियोजन।
7. नादानुकृति द्वारा भावतरंगों में प्रेषणीयता का समावेश समन्तभद्र के उक्त काव्यतत्वों का भतृहरि, भारवि, माघ आदि कवियों के काव्यों में संवर्द्धन और विकास हुआ है। समन्तभद्र दक्षिण के थे और दक्षिण में ही चित्रश्लेष और यमक का प्रादुर्भाव होने के कारण भारवि ने उक्त तीनों रूपों का पर्याप्त प्रयोग किया है। भारवि के किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के कई पद्यों के पद समन्तभद्र के तुल्य हैं। मालावार निवासी वासुदेव कवि ने यमक और श्लेष सम्बन्धी रचनाएं दक्षिण भारत में ही निबद्ध की थीं। इन रचनाओं पर पुरातन तमिल का प्रभाव तो है ही पर समन्तभद्र का भी प्रभाव माना जा सकता है। कवि कुंजर ने अपने राघव पाण्डवीय काव्य में श्लेष और चित्रों की पर्याप्त योजना की है। कई चित्र तो समन्तभद्र के स्तुतिविद्या के समान ही हैं और नकार, मकार और यकार वर्णों से निर्मित चक्र, मुरज, भेरी, परशु आदि चित्रों की तुलना स्तुतिविद्या के पद्यों के साथ की जा सकती है।

संस्कृत काव्य के विकास में समन्तभद्र द्वारा प्रथित काव्य विधायें अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं।

सन्दर्भ

1. रसगंगाधर, 1.1
2. काव्यालंकार, 3, 79–117
3. किराता0 15.12,,24,15,27
4. शिुपालवधम् 19. 27, 29,46,72,120
5. धर्मशर्माभ्युदय, 19.86,78,84,84,98,99, 101, 102, 104
6. स्वयं0 3
7. वहीं, 2
8. वहीं, 2
9. वहीं,
10. वहीं, 3
11. वहीं, 8.2
12. वहीं, 8. 3
13. वहीं, 16.2
14. वहीं,
15. वहीं,
16. वहीं, 23. 1, 2
17. वहीं, 1, 3
18. वहीं, 1, 3
19. वहीं, 1, 3
20. वहीं, 8–1
21. वहीं, 11
22. वहीं, 26,35,37,51,65,70,72 76,84,88,111, 129 एवं 136
23. वाग्भटालंकार, 4.64
24. स्वय0 38
25. स्वयं0 90
26. वहीं, 16
27. वहीं, 11,13,97,26,38,40,82,99, 93,117, 121, 122,, 126
28. साहित्यदर्पण, 10. 40
29. स्वयं0 28
30. वहीं, 107
31. साहित्यदर्पण, 10. 61
32. स्वयं0 19
33. वहीं, 56
34. वहीं, 50
35. साहित्यदर्पण, 10. 91
36. स्वयं0 13
37. वहीं, 82
38. वाग्भटालंकार, 4. 96
39. स्वयं0 57
40. वहीं, 46
41. वहीं
42. वहीं, 48
43. वहीं, 49
44. वहीं, 132
45. वहीं, 47
46. वहीं, 89
47. वहीं, 137
48. वहीं, 27
49. काव्यप्रकाश, 4. 43
50. झा, साहित्यसाधना की पृष्ठभूमि पृष्ठ 43
51. शुक्ल, रामचन्द्र, काव्यमें रहस्य पृष्ठ 135

52. स्तुति0 13
53. अलंकार चिन्तामणि, परि0 1, 86
54. स्तुति0 13
55. अलंकार चिन्तामणि, 85
56. स्तुति0 14
57. वहीं, 31
58. अलंकार चिन्तामणि, 85
59. स्तुति0 43
60. वहीं, 89
61. वहीं, 24
62. स्तुति0 39
63. वहीं, 41
64. वहीं, 42
65. वहीं, 45
66. वहीं, 65
67. वहीं, 79
68. साहित्य दर्पण, 10, 81
69. स्तुति0 113
70. वहीं, 114
71. अलंकार चिन्तामणि, 2.149, 150
72. काव्यादर्श, 40, 41, 42
73. काव्यप्रकाश, भूमिका, पष्ठ 19

❑❑❑

तृतीय अध्याय

रत्नकरण्डश्रावकाचार परिशीलन

परिच्छेद प्रथम

रत्नकरण्डश्रावकाचार का परिचय एवं विषयवस्तु

रत्नकरण्डश्रावकाचार आचार्य समन्तभद्र कृत ही है, इसमें अब कोई सन्देह नहीं रह गया है। दक्षिण भारत में उपलब्ध ताड़पत्रीय पांडुलिपियों एवं विभिन्न आचार्यों के द्वारा रत्नकरण्डकम् के किये गये उल्लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि वह समन्तभद्र की ही कृति है। सर्वप्रथम मि0 बी0 लेविस राईस ने **इन्सक्रिप्सन ऐट श्रवणवेल्लगोल** नामक पुस्तक में रत्नकरण्डकम् को आयित वर्मा का लिखा हुआ बताया था। परन्तु बाद में उक्त पुस्तक के द्वितीय संस्करण में मि0 राईस ने अपने मत में परिवर्तन करके उसे समन्तभद्र कृत ही माना है।[1]

जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय नामक निबन्ध में प्रो0 हीरा लाल जी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार को समन्तभद्र की कृति मानने में सन्देह व्यक्त किया था।[2] जिसका समाधान डॉ. दरबारी लाल जी कोठिया ने तर्क और प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि रत्नकरण्डकम् समन्तभद्र की ही कृति है।[3] प्रो. हीरा लाल जी के खण्डन में डॉ. कोठिया द्वारा उपस्थित किये गये सभी तर्कों को यहां विस्तार भय से देना उचित नहीं है, फिर भी यहां उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

प्रो. हीरा लाल जी के शब्दों में कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार को उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करने के लिए जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह उन्हीं ग्रन्थकार की रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें जो दोष का स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं

सकता। मैं समझता हूं रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का कर्ता उस रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है, जो आराधना के कर्ता शिवभूति या शिवार्य की रचना कदापि नहीं हो सकती।

1. डॉ. कोठिया की दृष्टि में उपर्युक्त मत ठीक नहीं है। रत्नमाला रत्नकरण्डक निर्माता के शिष्य की तो मालूम नहीं पड़ती, क्योंकि दोनों ही कृतियों में शताब्दियों का अन्तराल है, जिससे दोनों के कर्ताओं में साक्षात् गुरु शिश्य सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट ही नहीं, अत्यन्त असम्भव है।[4]

2. रत्नकरण्डक में आये दोष के भी स्वरूप[5] का भी समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों से समर्थन होता है।[6] इसलिए रत्नकरण्डक में आये दोष के स्वरूप को उनके अन्य ग्रन्थों से भिन्न मानना ठीक नहीं है। समन्तभद्र का रत्नकरण्डक से भिन्न अभिप्राय बतलाने के लिए जो यह कहा गया था कि केवली में उन्होंने सुख दुःख की वेदना स्वीकार की है, उसका भी उपर्युक्त विवेचन से समाधान हो जाता है, क्योंकि समन्तभद्र ने स्पष्टतः स्वयम्भूस्तोत्र कारिका 18 के द्वारा सुख दुःख, केवली में स्वयं अभाव घोषित किया है और **शर्म शाश्वतमवाप शंकरः** – 71 **विषयसौख्यपरांगमुखोभूत्**–82 कहकर तो उनके अभाव को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है।[7]

3. आप्तमीमांसाकार ही रत्नकरण्डक के कर्ता हैं, यह अन्तः परीक्षण द्वारा भी प्रकट होता है। उदाहरण के लिए रत्नकरण्डक के **अदृष्टेष्टविरोधकम्**.....इत्यादि[8] की तुलना युक्त्यनुशासन के दृष्टागमाभ्याम्[9] आप्तमीमांसा के युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्य[10] एवं स्वयम्भूस्तोत्र के दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः[11] से की जा सकती है। इसी तरह अन्य कई विषयों एवं कारिकाओं में भी परस्पर समानता है।[12]

4. साहित्यकारों ने समन्तभद्र के लिए 'देव' और योगीन्द्र पद प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पद के वाच्य पार्श्वनाथ चरित में स्वामी समन्तभद्र विवक्षित है। वादिराज के पूर्व अन्य योगीन्द्र समन्तभद्र का साहित्य में अस्तित्व नहीं है।

5. आचार्य प्रभाचन्द्र वादिराज के प्रायः समकालीन हैं। अतः जहां प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डक को स्वामी समन्तभद्र कृत बतलाया गया है और आराधना कथाकोश में उन्होंने उनका 'योगीन्द्र' पद से उल्लेख किया है। वहां उनके ही प्रायः समकालीन वादिराज ने रत्नकरण्डक को 'योगीन्द्र' कृत बतलाया है। इसलिए वादिराज का भी प्रभाचन्द्र की तरह 'योगीन्द्र' पद से स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित है, क्योंकि रत्नकरण्डक को स्वामी समन्तभद्र से भिन्न योगीन्द्र कृत बतलाने वाला वादिराज का पोषक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्र के स्वामी समन्तभद्र कृत बतलाने वाले उल्लेखों के पोषक एवं समर्थक बीसियों प्रमाण हैं।

6. रत्नकरण्डक के उपान्त्य पद्य में अकलंक, विद्यानन्द और सर्वार्थसिद्धि की कल्पना अशास्त्रीय और असंगत है। इसलिए उक्त कल्पना रत्नकरण्डक को विद्यानन्द के बाद की रचना सिद्ध नहीं कर सकती है। विद्यानन्द से पूर्व 7–8वीं शताब्दी के न्यायावतार में रत्नकरण्डक का 'आप्तोपज्ञ' पद्य पाया जाता है। अतः वह विद्यानन्द के बाद की रचना कदापि नहीं है। इस तरह रत्नकरण्डक आचार्य समन्तभद्र की ही कृति हैं।[13]

रत्नकरण्डकम् का परिमाण

रत्नकरण्डकम् श्रावक के आचार का प्रतिपादक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे रत्नकरण्डश्रावकाचार भी कहा जाता है। इसका दूसरा नाम उपासका–ध्ययन भी है। इस ग्रन्थ के समन्तभद्र कृत होने न होने के सम्बन्ध में विद्वानों ने विस्तार से विचार विमर्श किया है। पाण्डुलिपियों के कारण ग्रन्थ के परिमाण के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण स्थिति रही है। दक्षिण और उत्तर भारत की पाण्डुलिपियों की प्रतियों के अवलोकन से यह भ्रान्तिपूर्ण स्थिति समाप्त हो जाती है। रत्नकरण्डकम् पर पण्डित प्रभाचन्द की संस्कृत टीका तथा अज्ञातकर्तृक कन्नड टीका उपलब्ध है। यह कन्नड टीका ही उपर्युक्त भ्रान्ति का कारण बनी। प्रभाचन्द की टीका संक्षिप्त है तथा उसमें ग्रन्थान्तरों के पद्य या गद्य के उद्धरण नहीं हैं। कन्नड टीकाकार ने विभिन्न ग्रन्थों के

पचास पद्य अपनी टीका में उदाहरण के रूप में, कहीं उक्तं च तथा कहीं विना इसके उद्धृत किये हैं। रत्नकरण्डकम् की संस्कृत टीका की जो पाण्डुलिपियां ताड़पत्रों पर कन्नड अथवा देवनागरी लिपि में लिखी मिलती हैं, उनमें मूलग्रन्थ में 150 श्लोक हैं और टीकाकार ने उन्हें पांच परिच्छेदों में विभाजित किया है। कन्नड टीकायुक्त पाण्डुलिपियों या उसके आधार पर लिखी गयीं मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों में ग्रन्थ को सात परिच्छेदों में विभाजित किया गया है तथा मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों में वे सभी उन्चास या पचास श्लोक शामिल कर लिए गये हैं, जो कन्नड टीका में टीकाकार ने दिये हैं। इस प्रकार रत्नकरण्डकम् की पाण्डुलिपियों के इस परीक्षण से अधिक श्लोकों की समस्या का समाधान हो जाता है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में नागार्जुन और मातृचेट के ग्रन्थ अध्यर्द्ध शतक के रूप में प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नकरण्डकम् की भी अध्यर्द्ध शतक के रूप में रचना की गयी है।[14]

रत्नकरण्डश्रावकाचार की विषयवस्तु का विश्लेषण

रत्नकरण्डश्रावकाचार में श्रावकों के लिए धर्म का प्रतिपादन किया गया है। श्रावकाचार विवेचक अन्य आचार्यों की तरह समन्तभद्र ने भी सर्व प्रथम ऐसे समीचीन धर्म के कथन करने की प्रतिज्ञा की है, जो संसारी जीवों को संसार से निकालकर उत्तम सुख रूप मोक्ष का मार्ग बताता है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग कहे गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्म के तीनों अंगों का पौराणिक कथानकों के उदाहरणों और उनकी चरित्र मीमांसा के साथ विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में पापमल से रहित केवलज्ञान सहित वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके धर्म का महत्त्व एवं धर्म का लक्षण बताया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, धर्म हैं। इनके प्रतिकूल असत् दर्शन, असत् ज्ञान और असत् चारित्र संसार के कारण कहे हैं। तत्पश्चात् परमार्थभूत आप्त आगम और तपस्वियों का त्रिमूढता रहित, अष्टमद रहित और अष्ट अंग सहित श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहा गया है। 1–4

समन्तभद्र के पूर्ववर्ती आचार्यों ने मोक्षस्वरूप या मोक्षमार्ग के रूप में सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन आदि को ही स्वीकार किया है यथा आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त रागद्वेश रहित सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। यह मोक्षमार्ग लब्धबुद्धि भव्यों को ही प्राप्त होता है।[15] जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व, उनका अधिगम ज्ञान और समभाव चारित्र है।[16] उमास्वामी ने भी तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ में सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहकर17 सम्यग्दर्शन को श्रद्धान रूप बताया है।[18]

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपने श्रावकाचारों में मोक्षमार्ग के रूप में या सच्चा सुख प्रदान करने वालों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही स्वीकार किया है। जैसे आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग को यथाशक्ति निसेवित करना चाहिए[19] तथा जीव अजीव आदि तत्त्वों का विपरीत अभिनिवेश दूर कर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है[20] और आत्मा का स्वरूप हैं। सोमदेव आदि आचार्यों ने भी अपने श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में रत्नत्रय का निरूपण किया है[21] तथा सम्यग्दर्शन को समन्तभद्र की ही तरह आप्त, आगम और पदार्थों के श्रद्धान रूप तीन मूढ़ताओं से रहित एवं अष्ट अंग सहित होना स्वीकार किया है।[22] वसुनन्दि ने भी आप्त आगम और तत्त्वों का निर्मल श्रद्धान जो शंका आदि दोषों से रहित हो, उसे सम्यक्त्व कहा है।[23]

आप्त के सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र से पूर्व किसी अन्य जैन आचार्य ने विचार नहीं किया है। समन्तभद्र लिखते हैं कि जो निर्दोष, सर्वज्ञ और आगमेशि हो उसे ही आप्त कह सकते हैं, अन्य को नही। वस्तुतः आप्त पुरुष वही हो सकता है, जिसमें क्षुत्, पिपाषा, जरा, आतंक, जन्म, मृत्यु, भय, स्मय, रागद्वेष एवं मोह नही होते। वे आप्त परमेष्ठी, परमज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त, सार्व– सर्वहितकर तथा शास्ता कहे जाते हैं। ऐसा शास्ता ही राग के विना, अपना प्रयोजन न होने पर भी जीवों के लिए कल्याण का उपदेश ठीक वैसे ही देता है, जैसे शिल्पी के कर स्पर्श से बजता हुआ मृदंग किसी भी प्रकार की अपेक्षा नहीं करता।[24]

सोमदेव ने भी आप्त का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जो सर्वज्ञ हैं, सभी लोकों का स्वामी है, सभी दोषों से रहित है एवं जो सभी प्राणियों का हित करने वाला है, उसे आप्त कहते हैं।[25]

समन्तभद्र ने तो आप्तमीमांसा में विस्तृत रूप में आप्तकी मीमांसा की है। किसी भी आचार्य ने किसी भी व्यक्ति विशेष को स्वीकार नहीं किया है, बल्कि आप्तता के लिए कसौटी प्रस्तुत की है। जिसके फलस्वरूप आगे के आचार्यों ने यहां तक कह दिया है कि युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः, अर्थात् जिनक वचन युक्तियुक्त हों उन्हें ही आप्त मानना चाहिए।[26]

शास्त्र का लक्षण करते हुए कहा गया है कि सच्चाशास्त्र वही हो सकता है, जिसमें निम्न विशेषताएं हों– 1. आप्तोपज्ञ 2. अनुल्लंघ्य 3. दृष्ट और इष्ट से अवरोधक 4. तत्वोपदेशकर्ता 5. सबका हितकारक 6. कुमार्ग का नाश करने वाला। सच्चा गुरु वही हो सकता है, जो विषयाशा की अधीनता से रहित, निरारम्भ, अपरिग्रही और ज्ञान ध्यान और तप रूपी तीनों रत्नों का धारक हो।[27] अनन्तर सम्यग्दर्शन के असंशय, अनाकांक्षणा, निर्विचिकित्सिता, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य और प्रभावना आठ अंग बताये गये हैं सम्यग्दर्शन के लिए इनका होना अत्यन्त आवश्यक है। इन अंगों में क्रमशः अंजन चोर, अनन्तमती, उद्दायन राजा, रेवतीरानी, जिनेन्द्रभक्त, वारिषेण, विष्णु और वज्रनाभ व्यक्तियों ने प्रसिद्धि पायी थी।[28]

सम्यग्दर्शन के लक्षण में उसे त्रिमूढ़ता और आठ मद से रहित होना भी बताया गया है। त्रिमूढताओं के अन्तर्गत लोकमूढता, देवमूढता एवं पाखण्डिमूढता का उल्लेख कर उदाहरणों सहित उन पर विचार किया गया है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप वपु ये आठ मद कहे गये हैं। इसी प्रसंग में बताया गया है कि जो व्यक्ति घमण्ड में आकर धर्म में स्थित अन्य धार्मिकों का तिरस्कार करता है, वह अपने धर्म का ही तिरस्कार करता है क्योंकि धार्मिकों के विना धर्म नहीं हो सकता है। पुण्य और पाप के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि पाप का निरोध हो तो अन्य सम्पत्तियों से क्या प्रयोजन है और यदि पाप का आस्रव है तो भी अन्य सम्पत्ति से कोई प्रयोजन नहीं। सम्यग्दर्शन का वैशिष्ट्य

बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चाण्डाल भी देवों के द्वारा पूज्य है और धर्म के प्रभाव से कुत्ता भी देव और देव भी कुत्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टि को भय, आशा, स्नेह और लोभ से भी कुदेव, कुगुरू और कुशास्त्र की विनय नहीं करना चाहिए।[29]

सम्यग्दर्शन के महत्त्व एवं उसकी उत्कृष्टता का कारण बताया गया है कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन कर्णधार के समान प्रमुख है। इसलिए वह सबसे प्रमुख है क्योंकि वह सम्यग्ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति आदि में बीज रूप है। जिस तरह बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं बन सकती है उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदि की उद्भूति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन युक्त मोह रहित गृहस्थ मिथ्यादृष्टि मोही मुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ है। सम्यग्दर्शन का इतना अधिक महत्त्व बताया गया है कि तीनों लोकों में देहधारियों को सम्यग्दर्शन के समान अन्य कोई कल्याणकारी नही है। उसके प्रभाव से अव्रती होने पर नरक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्रीपर्याय, निन्दनीय कुल, अंगों की विकलता, अल्पायु एवं दरिद्रता को प्राप्त नहीं होता। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ओज, तेज, विद्या, वीर्य आदि से युक्त महाकुल में उत्पन्न और इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर परमोत्कृष्ट तीर्थंकर पद तक की प्राप्ति होती है और अन्त में मोक्ष पद को प्राप्त करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का लक्षण उसकी विशेषतायें और उसका महत्त्व प्रतिपादित कर प्रथम परिच्छेद समाप्त किया गया है।[30]

सम्यग्ज्ञान के स्वरूप पर विचार करते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि वस्तु स्वरूप का अन्यून, अनतिरिक्त, याथातथ्य, विपरीतता रहित तथा सन्देह रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[31]

सम्यग्ज्ञानी पुण्यपुरुषों के चरित और पुराण की व्याख्या करने वाले प्रथमानुयोग को, लोक अलोक, काल परिवर्तन आदि का विवेचन करने वाले करणानुयोग को, मुनियों एवं गृहस्थों के आचार का प्रतिपादन करने वाले चरणानुयोग को तथा जीव अजीव, पुण्य पाप, बन्ध मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले द्रव्यानुयोग को जानता है।[32]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि सम्यक्त्व आश्रयी व्यक्ति को आत्मा के हित के लिए आगम की आम्नाय और प्रमाणनय रूपयुक्ति के योग से प्रयत्नपूर्वक वस्तु स्वरूप का विचार कर सम्यग्ज्ञान की उपासना करना चाहिए। यद्यपि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होता है फिर भी दोनों में दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य का भेद है। अतः वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित जानने का अध्यवसाय करना चाहिए।[33]

सोमदेव ने उपासकाध्ययन में लिखा है कि जो सब वस्तुओं को ठीक रीति से जैसा का तैसा जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वह मनुष्यों का तीसरा नेत्र है। जैसे जन्म से अन्धे मनुष्य को लाठी सम विशम स्थान को बतालाकर उसे चलने और रुकने में मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुष को हितकारक कार्यों में लगाता है। ऐन्द्रियज्ञान दृष्ट पदार्थों का ज्ञान कराता है किन्तु आगम दृष्ट और अदृष्ट प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों का ज्ञान करा देता है। अतः मन मत्सर रहित है तो उसे तत्वज्ञान होना दुर्लभ नहीं है। तत्वों के जान लेने के बाद भी यदि मनुश्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है तो जैसे उल्लूको प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ होता है।[34] नेमिचन्द्र सूरि ने द्रव्यंग्रह में लिखा है कि संशय विमोह और भ्रम से रहित वस्तु के स्वरूप को पहचानना सम्यग्ज्ञान है।[35]

जैनसिद्धान्त ग्रन्थों में ज्ञानमीमांसा का विस्तृत विवेचन किया गया हैं। मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र की आराधना आवश्यक है क्योंकि तीनों का मिला हुआ स्वरूप ही मोक्षमार्ग है।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि मोह तिमिर के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के लाभ से जिस साधु को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है वह रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को धारण करता है। रागद्वेष की निवृत्ति से हिंसादि की निवृत्ति स्वतः हो ज़ाती है। धन की अपेक्षा न रखने वाला

कौन पुरुष राजा की सेवा करेगा। हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह को पाप की प्रणाली समझना चाहिए, इनसे विरत होना ही सम्यग्दृष्टि का चारित्र है। सर्वसंग विरत अनगारों के लिए सकल चारित्र तथा ससंग (परिग्रहयुक्त) गृहस्थों को विकल चारित्र कहा हैं[36]

समन्तभद्र के पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को आत्मस्वरूप कहा है। यथा ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन ये जीव के अनन्य स्वभाव हैं, इनमें निश्चल और अनिन्द्रय अस्तित्व चारित्र है।[37] जिसे जानता है वह ज्ञान है और जिसे देखता है, वह दर्शन है। ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता हे। जीव के ये ज्ञानादि तीनों भाव अक्षय और अभेद्य होते हैं।[38]

जीव के चारित्र है, दर्शन है, ज्ञान है, यह व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र है। वह शुद्ध स्वरूप है।[39] साधु पुरुष को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही नित्य आराधना करना चाहिए। निश्चय से ये तीनों तथा आत्मा एक ही हैं।[40]

स्वामी कार्तिकेय ने लिखा है कि सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म दो प्रकार का होता है एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थों का और दूसरा परिग्रह रहित मुनियों का ।[41] वसुनन्दि ने भी सागार और अनगार के भेद से धर्म–चारित्र दो प्रकार का बताया हैं।[42] सोमदेव ने लिखा है कि अधर्म कार्यों से निवृत्ति और धर्म कार्यों में प्रवृत्ति होने को चारित्र कहते हैं। वह दो प्रकार है सागार और अनगार। सागार का चारित्र देशचारित्र और अनगार का चारित्र सर्वचारित्र कहलाता है। जिनका चित्त श्रेष्ठ विचारों से युक्त है वे ही चारित्र का पालन कर सकते हैं, जिनमें स्वर्ग या मोक्ष किसी को भी प्राप्त कर सकने की योग्यता नहीं है, वह न तो देशचारित्र को पाल सकता है और न ही सर्वचारित्र को ही पाल सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति का शास्त्रज्ञान मुख की खाज खुजलाने के समान है और जो ज्ञान रहित हैं उसका चारित्र धारण करना कुरूप व्यक्ति के द्वारा धारण किये गये आभूषणों के समान है। सम्यग्दर्शन से अच्छी गति मिलती है।

सम्यग्ज्ञान संसार में यश फैलता है। सम्यक्चारित्र से सम्मान प्राप्त होता है। तीनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्वों में रुचि का होना सम्यग्दर्शन है। तत्वों का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है और समस्त कियाओं को छोड़कर अत्यन्त उदसीन हो जाना सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र अग्नि है। सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यक्त्व रषौषधि है। इन सबके मिलने पर आत्मारूपी पारद धातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है।[43]

नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है कि रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मा के परिणाम हैं। आत्मा के सिवाय ये अन्य द्रव्य में नहीं होते इसलिए उन तीनों से युक्त आत्मा ही मोक्ष का कारण है।[44]

इसके उपरान्त रत्नकरण्ड श्रावकाचार में गृहस्थों के विकल चारित्र के पांच अणुव्रत, तीनगुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह अवान्तर भेद बताये गये हैं।–51

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन स्थूल पापों से विरत होने को अणुव्रत कहते हैं। अहिंसाणुव्रत आदि इसके पांच भेद हैं।–52

मन, वचन, काय के कृतकारित, अनुमोदना रूप संकल्प से त्रस जीवों का घात नहीं करना अहिंसाणुव्रत है। इसके छेदना, बांधना, पीड़ा देना, अधिक भार लादना और आहार रोकना ये पांच अतिचार बताये गये हैं।–53, 54

जो न स्वयं झूठ बोलता है और न बुलवाता है और न प्राणघातक सत्य ही बोलता है, न बुलवाता है, उसे सत्याणुव्रत कहते हैं। इसके मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेख और न्यासापहार ये पांच अतिचार हैं।–55, 56

दूसरे की रखी, गिरी, भूली हुई वस्तु को न स्वयं ग्रहण करना और न दूसरे को लेने देना अचौर्याणुव्रत है। इसके चौर्य प्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृशसन्मिश्र, हीनाधिक विनिमान ये पांच अतिचार हैं।–57, 58

पाप के भय से पर स्त्रियों के प्रति न स्वयं गमन करना और न दूसरों को गमन करवाना स्वदार सन्तोष नाम का अणुव्रत है। इसके अन्य विवाह करण, अनंग क्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृषा और इत्वरिका गमन ये पांच अतिचार हैं।—59, 60

धन धान्यादि परिग्रह का परिमाण कर उससे अधिक की इच्छा नहीं रखना परिमित परिग्रह अथवा इच्छा परिमाण नाम का अणुव्रत कहा गया है। इसके भी अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवाहन ये पांच अतिचार बताये गये हैं।—61, 62

उपर्युक्त अणुव्रतों का यह फल बताया गया है कि अतिचार रहित पांच अणुव्रत रूपी निधियां स्वर्गलोक का फल देती हैं। जिसमें आठ गुण अवधिज्ञान एवं दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों और हिंसा आदि पांच पापों के धारण से क्या फल मिलता है, इसके उदाहरण में पौराणिक नामों को गिनाते हुए बताया है कि अहिंसा आदि अणुव्रतों के पालन से क्रमशः मातंग, धनदेव, वारिषेण, नीली और जय उत्तम पूजा के अतिशय को प्राप्त हुए थे तथा हिंसा आदि अव्रतों के सेवन से क्रमशः धनश्री, सत्यघोष, तापस, कोतवाल और श्मश्रुनवनीत को दुर्गति आदि फल भुगतने पड़े थे।—63—65

अणुव्रतों के पालन के साथ साथ मद्य त्याग, मांस त्याग, मधु त्याग इन तीनों को जोड़ देने से अष्ट मूलगुण कहे जाते हैं। चतुर्थ परिच्छेद में गुणव्रतों का निरूपण है। इसमें गुणव्रतों की सार्थकता बताते हुए कहा गया है कि गुणों में वृद्धि करने के कारण गुणव्रत कहे जाते हैं। इनके दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत भोगोपभोग परिमाण व्रत भेद किये गये हैं।—66, 67

दिशाओं की मर्यादा के भीतर ही रहने को दिग्व्रत कहा गया है। दशों दिशाओं की मर्यादा को परिगणित करने के लिए प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत आदि को मर्यादा के रूप में रखा है। दिग्व्रत का महत्त्व और महाव्रत के लक्षण की भूमिका बांधते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य दशों दिशाओं में आवागमन की मर्यादा कर दिग्व्रतों को धारण करते हैं उनके मर्यादा के

भीतर सूक्ष्म पाप भी छूट जाते हैं। इसलिए उनके अणुव्रत महाव्रतपने को प्राप्त होते हैं। चारित्रमोहनीय की अत्यन्त मन्द अवस्था महाव्रत के व्यवहार के लिए उपचरित होती है।–68–71

हिंसा आदि पांच पापों का मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदना द्वारा त्याग करना महाव्रत कहलाता है, यह महापुरुषों के ही होता है। इस प्रकार दिग्व्रत के प्रसंग में महाव्रत की चर्चा का उसके अधः उपरि, तिर्यक् और समान मर्यादा का उल्लंघन करना तथा क्षेत्रवृद्धि और मर्यादा का विस्मरण ये पांच अतिचार गिनाये गये हैं।–72, 73

गुणव्रत का द्वितीय भेद अनर्थदण्डव्रत है। दिग्व्रत की सीमा के भीतर प्रयोजन रहित पाप सहित योगों से निवृत्त होना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। अनर्थदण्ड पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या के भेद से पांच प्रकार का होता है। अनर्थदण्ड का लक्षण और भेद के बाद पापोपदेश आदि के लक्षण समझाये गये हैं। इसके पश्चात् कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन और असमीक्ष्याधिकरण ये पांच अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार बताये गये हैं।–74–81

विषयों के परिमाण के भीतर विषय सम्बन्धी राग से होने वाली आशक्ति को कृश करने के लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रियविषयों की सीमा बांधना भोगोपभोग परिमाण नाम का अन्तिम गुणव्रत है। भोगोपभोग परिमाण व्रत के प्रसंग में उसके अतिचार बताने के पहले भोग, उपभोग, व्रत, यम, नियम आदि के लक्षण बताये गये हैं। भोजन वस्त्र आदि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी जो विषय, भोगकर छोड़ देने योग्य हैं, वह भोग हैं। तथा जो भोगकर फिर से भोगने योग्य हैं, वह उपभोग हैं। इसके अतिरिक्त त्रस जीवों की हिंसा का परिहार करने के लिए मधु, मांस और प्रमाद के परिहार के लिए मदिरा का त्याग कर देना चाहिए। इसी प्रकार मूली, गीला अदरक, मक्खन, नीम के फूल, केतकी के फूल तथा इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि इनके सेवन से अल्पफल और त्रस जीवों का घात अधिक होता है। जो वस्तु अनिष्टकर और अनुपसेव्य है, उसका भी त्याग करना

चाहिए क्योंकि योग्य विषय से अभिप्रायपूर्वक हुई निवृत्ति का नाम व्रत है।—82—86

वह परित्याग या व्रत, यम और नियम के भेद से दो प्रकार का होता है। जिसमें काल का परिमाण होता है, नियम कहलाता है तथा जो जीवनपर्यन्त के लिए धारण किया जाता है, वह यम कहलाता है। भोजन, वाहन, शयन, स्नान, पवित्र अंगराग, कुसुम, ताम्बूल, वस्त्र, कामसेवन, संगीत और गीत का, आज, एक दिन, एक रात अथवा एक पल, एक माह, एक ऋतु, अथवा एक अयन—छह माह, इस प्रकार समय के विभाग पूर्वक त्याग करने से नियम होता है।—87—89

अनन्तर भोगोपभोग परिमाण व्रत के निम्न पांच अतिचार बताये गये हैं। विषय रूपी विष से उपेक्षा न होना, उनका बार बार स्मरण करना, विषयों में अति लौल्यभाव होना, आगामी विषयों की अति तृष्णा रखना और वर्तमान विषय का अत्यन्त आसक्ति से अनुभव करना। श्रावक अवस्था में ही मुनिपद की दिशा प्राप्त करने के लिए श्रावक को अन्त में देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत बताये गये हैं।—90, 91

प्रतिदिन अणुव्रतियों द्वारा समय की मर्यादा के द्वारा विशाल देश का संकोच किया जाना देशावकाशिक शिक्षाव्रत है। घर, छावनी, गांव, खेत, नदी, वन तथा योजन से देशावकाशिक व्रत की सीमा बांधी जा सकती है। एक ऋतु का अयन, एक माह, पन्द्रह दिन और एक नक्षत्र इस व्रत की काल की मर्यादायें हैं। सीमाओं के अन्त भाग के आगे स्थूल और सूक्ष्म पांचों का त्याग हो जाने से इसके द्वारा महाव्रतों को सिद्ध किया जा सकता है। प्रेषण, शब्द आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्‌गलक्षेप, ये पांच देशावकाशिक व्रत के अतिचार हैं।—92—96

सर्वत्र सम्पूर्ण रूप से किसी निश्चित समय तक पांच पापों का त्याग करना सामायिक नाम का शिक्षाव्रत कहलाता है। सामायिक के समय के सम्बन्ध में बताते हुए कहा गया है कि केशबन्धन, मुष्टि बन्धन, वस्त्रबन्धन,

पर्यंकबन्धन और उपवेशन इनको समयज्ञों के द्वारा कहा गया है। इस समय में सामायिक प्रसन्नचित्त होकर निरूपद्रव निराकुल एकान्त स्थान वन, मकान, चैत्यालयों आदि में बढ़ाना चाहिए। इस सामायिक को उपवास तथा एकाशन के दिन व्यापार वैमनस्य और मानसिक चिन्ताओं से रहित होकर दृढ़ किया जाना चाहिए। सामायिक की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि सामायिक को बढाने का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए क्योंकि वह सामायिक अहिंसादि पचव्रतों के परिपूरण का कारण है। सामायिक के काल में आरम्भ सहित कोई परिग्रह नहीं होने के कारण गृहस्थ वस्त्र से वेष्टित मुनि के समान मुनिपने को प्राप्त होता है। सामायिक के समय के कर्तव्य बताते हुए कहा गया है कि श्रावक को सर्दी गर्मी डॉस मच्छर आदि परीषह और अन्य उपसर्गों को अचल योग होकर मौनपूर्वक सहन करना चाहिए। उसे यह ध्यान करना चाहिए कि मैं शरण रहित , अशुभ, अनित्य, दुःखरूप और अनात्म स्वरूप संसार में निवास करता हूं और मोक्ष इससे विपरीत स्वभाव वाला है।–97–104

इस प्रकार सामायिक शिक्षाव्रत की उपयोगिता एवं व्यवस्था बताकर अन्त में उसके वचन दुःप्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, मनदुःप्रणिधान, अनादर, अस्मरण ये पांच अतिचार बताये गये हैं। तृतीय शिक्षाव्रत प्रोषधोपवास के सम्बन्ध में बताया गया है कि चतुर्दशी और अष्टमी के दिन शुभसंकल्प पूर्वक चार प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास व्रत है। उपवास के दिन पांच पापों, अलंकारों का धारण करना, खेती आदि का आरम्भ, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों का लेप, पुष्पमालाओं का धारण,स्नान, अंजन और नस्य अर्थात् सूंघने का त्याग करना चाहिए। उपवास कर्ता का कर्तव्य है कि वह स्वयं धर्म में लगा रहे। विना देखे तथा शोधे किसी वस्तु का ग्रहण करना, छोडना, संस्तर आदि को विछाना, अनादर और अस्मरण ये पांच प्रोषधोपवास के अतिचार हैं।–106–110

चतुर्थ प्रकार का शिक्षाव्रत वैयावृत्य है। तपोधन, गुण निधि और गृहत्यागी तपस्वी के लिए प्रतिदिन प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित विधि द्रव्य आदि सम्पत्ति का त्याग का परिमाण जो धर्म के निमित्त किया जाता

है, उसे वैयावृत्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त तपस्वियों पर आयी हुई आपत्तियों को दूर करना, पैरों को दबाना और उनका अन्य उपकार करना सभी वैयावृत्य के अन्तर्गत ही माने गये हैं।–111–112

वैयावृत्य के लक्षण के बाद दान, दाता, पात्र, दान का फल और दान के भेदों का निरूपण किया गया है। इसमें बताया गया है कि सात गुणों से युक्त शुद्ध दाता के द्वारा अपसूना आदि गृह सम्बन्धी पांच कार्य तथा आरम्भ से रहित मुनियों को आहारादि दिया जाता है, वह दान है। गृहस्थ के द्वारा मुनियों को इस प्रकार दिया गया दान गृहस्थी सम्बन्धी कार्यों से उपार्जित कर्म–पापों को नष्ट कर देता है। सच्चे तपोनिधि साधु के सम्बन्ध में विभिन्न फल बताये गये हैं। उनको नमन करने से उच्च गोत्र, दान से मान, उपासना से सम्मान, भक्ति से सुन्दर रूप और स्तुति से कीर्ति की प्राप्ति होती है।–113–116

वैयावृत्य– दान के आहार, औषध, उपकरण और आवास इन चार भेदों को बतलाकर इन दानों में प्रसिद्धि प्राप्त पौराणिक व्यक्तियों के दृष्टान्त देते हुए बताया गया है कि इन दानों के प्रभाव से क्रमशः रविषेण, वृषभसेना, कोण्डेश और शूकर को श्रेष्ठ फल की प्राप्ति हुयी। पूजा का महत्त्व भी वैयावृत्य के अन्तर्गत बताया गया है कि गृहस्थ को देवाधिदेव के चरणों की पूजा करना भी आवश्यक है। उदाहरण स्वरूप राजगृह में हर्षित मेढक ने एक पुष्प के द्वारा महात्माओं के आगे अर्हन्त के चरणों की पूजा का माहात्म्य प्रदर्शित किया है।–119–120

अन्त में हरितपिधान, हरितनिधान, अनादर, अस्तरण और मत्सरत्व ये पांच अतिचार बताये गये हैं।–121 यहां तक आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक को पालनीय विकल चारित्र की चर्चा की है। बाद में षष्ठ अध्याय में सल्लेखना, धर्म का माहात्म्य और मोक्ष का स्वरूप बताया गया है। अन्तिम सातवें अध्याय में श्रावक के एकादश पदों का स्वरूप एवं श्रेष्ठ ज्ञाता का लक्षण स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है, जिसका विवरण निम्न प्रकार है –

सल्लेखना का लक्षण करते हुए लिखा है कि अटल उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग के उपस्थित होने पर धर्म के लिए शरीर छोड़ने को सल्लेखना कहते हैं। सर्वज्ञ देव ने अन्त समय में सन्यास अर्थात् सल्लेखना धारण करने को तप का फल कहा और इसलिए समाधिमरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार सल्लेखना का लक्षण और उसके धारण करने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए सल्लेखना धारण करने वाले व्यक्ति को आवश्यक करणीय बातें बताते हुए कहा है कि सल्लेखनाधारी को स्नेह, बैर, ममताभाव, परिग्रह को छोड़कर स्वच्छ हृदय से मधुर वचनों के द्वारा अपने कुटुम्बी और परिजनों को जमा करके स्वयं क्षमा करे तथा कृत कारित और अनुमोदित सभी पापों को स्वच्छ हृदय से आलोचना कर मरण पर्यन्त स्थिर रहने वाले समस्त महाव्रतों को भी धारण करे। उसे शोक, भय, खेद, स्नेह और अरति को छोड़कर धैर्य और उत्साह के साथ शास्त्र रसामृत आस्वाद करते हुए प्रसन्नता पूर्वक रहना चाहिए।–122–126

भोजन के सम्बन्ध में नियम बताये हुए कहा गया है कि कम से आहार का त्याग कर दूध आदि स्निग्ध पदार्थों को ग्रहाण करे–कम से स्निग्ध पदार्थों का भी त्यागकर खरपान को ग्रहण करे। तत्पश्चात् खरपान–गर्मजल का भी त्याग करके शक्ति के अनुसार उपवास करके पंच नमस्कार मंत्र में अपना योग लगाता हुआ शरीर को छोड़े। इस प्रकार सल्लेखना की विधि समझाकर उसके पांच अतिचार एवं फल बताये गये हैं। जीवितशंसा, मरणाशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान ये सल्लेखना के अतिचार हैं। सल्लेखना का फल निःश्रेयश मोक्ष और अभ्युदय की प्राप्ति बतायी गयी है।131–134

आगे निःश्रेयस और अभ्युदय क्या हैं, इसका प्रतिपादन किया गया है।

जन्म, बुढ़ापा, रोग, मरण, शोक, दुःख और भय से रहित शुद्ध सुख से सहित नित्य निर्वाण को निश्रेयस कहा गया है। यहां पर जीव निरतिशय और निर्वाध युक्त विद्या, दर्शन, शक्ति, स्वास्थ्य, प्रह्लाद, तृप्ति और शुद्धि इन गुणों से युक्त निवास करते हैं। सैकडों कल्पकाल बीत जाने पर भी

और तीनों लोकों को अव्यवस्थित करने में समर्थ उत्पाद होने पर भी मोक्ष में रहने वाले जीवों में किसी प्रकार का विकार दिखाई नहीं देता है। ये सिद्ध कीट और कालिमा से रहित कान्ति वाले स्वर्ण के समान देदीप्यमान मोक्ष को प्राप्त करते हुए तीन लोक के अग्रभाग पर चूड़ामणि की शोभा को धारण करते हैं।—131—134

सल्लेखना के फल के बाद समीचीन धर्म का फल प्रतिपादित किया गया है। यथा— परिवार, कामभोगों से परिपूर्ण, पूजा, अर्घ, आहार तथा ऐश्वर्य के द्वारा तीनो लोकों को आश्चर्यचकित करने वाले अभ्युदय की प्राप्ति धर्म के द्वारा होती है। अन्तिम अध्याय में श्रावक के क्रमिक विकास हेतु ग्यारह पद बताये गये हैं। जिन्हें पीछे पीछे के साथ आगे आगे के पदों को पालन करना श्रावक के लिए आवश्यक होता है।—135, 136

जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध संसार शरीर और भोगों से विरक्त, पंच परमेष्ठीरत्न के चरणों की शरण में प्राप्त और अष्ट मूलगुणों से युक्त है वह दार्शनिक श्रावक है। जो शल्य और अतिचार रहित तथा पांच अणुव्रतों एवं शीलों से युक्त होता है, वह व्रती श्रावक कहलाता हैं।—137,138

चारों दिशाओं में तीन तीन आवर्त और प्रणाम करने वाला, कायोत्सर्ग से रहने वाला, बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी, दो बार बैठकर नमस्कार करता है और त्रियोग से शुद्ध जो सन्ध्यायों में वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

प्रत्येक मास के चारों ही पर्व दिनों में जो श्रावक अपनी शक्ति न छिपाकर शुभध्यान में लीन होता हुआ एकाग्रता के साथ प्रोषध का नियम लेता है, वह प्रोषधोपवास पद का धारक होता हैं।—139, 140

जो दयावान श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता है, सचित्तविरत पद का धारक कहलाता है। रात्रि में अन्न, पेय, खाद्य और लेह्य पदार्थों को नहीं लेता है, वह रात्रिभुक्तविरत नामक छठवां पद है।—141, 142

जो श्रावक शरीर को मलबीज, मल का उत्पत्ति स्थान, मल को बहाने वाला, दुर्गन्ध युक्त और पूयात्मक देखता हुआ कामसेवन से विरत होता है, वह ब्रह्मचारी पद का धारक होता है। जो श्रावक प्राणघात के कारणभूत सेवा, खेती तथा व्यापार आदि आरम्भ से निवृत्त होता है, वह आरम्भ त्यागी श्रावक है।–143, 144

जो दश बाह्य वस्तुओं से ममत्व भाव को छोड़कर और निर्ममत्व भाव में लीन होकर स्वात्मस्थ सन्तोश में तत्पर सब ओर से चित्त में स्थित परिग्रह विरत होता है, वह परिग्रहविरत श्रावक कहलाता है। जो आरम्भ परिग्रह और लौकिक कार्यों में अनुमोदना नहीं करता वह समान बुद्धि का धारक अनुमतिविरत नाम का श्रावक होता है।–145, 146

जो श्रावक घर से मुनि वन को जाकर और गुरु के समीप व्रतों को धारण कर तपस्या करता है। भिक्षावृत्ति से भोजन करता है तथा वस्त्र के एक खण्ड को धारण करता है, वह उत्कृष्ट पद को धारण करने वाला श्रावक कहलाता है। श्रावक के ग्यारह पदों के निरूपण के पश्चात् श्रेयो ज्ञाता की पहचान बताते हुए कहा गया है कि पाप जीव का शत्रु और धर्म जीव का बन्धु है, जो इसको जानता है और समय आगम को जानता है, वह श्रेयो ज्ञाता कहा जाता है।–147, 148

धर्म का फल बताते हुए कहा है कि जीव ने अपनी आत्मा को निर्दोष, विद्या, दृष्टि और क्रिया रूप रत्नों के पिटारे के भाव में परिणत किया है, उसे तीनों लोकों में सर्वार्थसिद्धि, पति को स्वयं वरण करने वाली स्त्री की तरह स्वयं प्राप्त हो जाती है। अन्त में मंगलाचरण किया गया है।–149, 150

इस प्रकार उपर्युक्त रत्नकरण्ड श्रावकाचार की विषयवस्तु के विश्लेषण और वर्णन से यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र धर्म हैं। समन्तभद्र ने इसमें श्रद्धा और ज्ञान के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के साथ सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत श्रावक और मुनि के आचार से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का वर्णन सरल और सूत्रात्मक शैली में किया हैं।

निष्कर्ष यह कि इस अध्याय में धर्म का स्वरूप, उसकी विशेषतायें एवं महत्त्व, धर्म के तीन रूप सद्दृष्टि, सद्ज्ञान, सद्वृत्त, सम्यग्दर्शन का लक्षण, उसके अंग और महत्त्व, धर्म का फल, अधर्म का स्वरूप, तीन मूढ़ताएं, अष्टमद, अनायतन, अधर्म का फल, सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत उसका लक्षण, प्रथमानुयोग आदि के स्वरूप सहित चार भेद, सद्वृत्त के अन्तर्गत उसका लक्षण, भेद, और स्वामी, सकल और विकल सद्वृत्त के दो रूप, सकल चारित्र का स्वामी, मुनि एवं विकल चारित्र का धारक गृहस्थ, विकल चारित्र के तीन प्रकार–पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत, मूलगुण, दिग्व्रतों से अणुव्रतों का महाव्रतत्व, महाव्रत के योग्य परिणाम, महाव्रत का लक्षण, भोगोपभोग विचार, यम नियम का लक्षण, दान, दाता, पात्र, अतिथि और देव पूजादि विचार एवं फल, सल्लेखना का स्वरूप विधि, महत्त्व एवं आवश्यकता, धर्मानुष्ठान विचार, मोक्ष का स्वरूप एवं अन्त में श्रावक के पदों, उत्कृष्ट श्रावक का लक्षण और धर्म के फल आदि पर विचार किया गया है।

सन्दर्भ

1 इ0 श्र0 प्र0 पृष्ठ 18, 19 का0हि0वि0वाराणसी में पठित निबन्ध

2. जैनविद्या विभाग, प्राच्यविद्या सम्मेलन एवं भा0सं0जै0यो0 पृष्ठ 113 3. जैन प्र0 प0 पृष्ठ 189--243

4. वहीं, पृ0 189 5. र 0 श्रा0 6

6. स्वय0 187. जैन प्र0 प0 पृ0 195

8. र0 श्रा0 9

9. युक्त्य0 49 10. आप्त0 6

11 स्वय0 128

12. जैन प्र0 प0 पृ0 196, 197 13. वहीं, पृ0 243, 181--243

14 जैन.न0 कु0, स0 अ0 पृ0 69, 70

15. पंचास्तिकाय, 106

16 वहीं, 107

17 तत्त्वार्थसूत्र, 1 1

18. वहीं, 1.2

19 पु0 सि0 20

20 वहीं, 22

21 उपासकाध्ययन, 4

22. वहीं, 48

23. वहीं, 6

24. र0 श्रा0 5--8

25. उपासकाध्ययन, 49

26. हरिभद्र,शड़दर्शन समुच्चय पृ0 482

27. र0 श्रा0 9, 10

28 वहीं, 11--21

29. वही, 22–30
30. वहीं 31–41
31. वही, 42
32. वहीं, 43–46
33. पु0 सि0 32–36
34. उपासकाध्ययन, 256–259
35. द्रव्यसंग्रह, 42
36. र0 श्रा0 47–50
37. पंचास्तिकाय, 154
38. चा0 पा0 3.4
39. समयसार, 7
40. वहीं, 16
41. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 3
42. उपासकाध्ययन, 2
43. वहीं, 262–268

❑❑❑

परिच्छेद द्वितीय
अणुव्रत और शीलव्रत समीक्षा

अणुव्रत

जैन आचार मीमांसा में अणुव्रतों का अत्यधिक महत्त्व है। जैन श्रावक के लिए अणुव्रतों का पालन करना नितान्त आवश्यक बताया गया है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में अणुव्रतों का अतिचार सहित विवेचन किया गया है। अणुव्रतों के पालन में समन्तभद्र ने इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में अणुव्रतों एवं पांच पापों में प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम देकर निरतिचार व्रतों के पालन का फल बताते हुए उन्होंने मूलगुणों की भी चर्चा की है। जैनाचार में मुनि और गृहस्थ के लिए अलग अलग व्रत बतलाये गये हैं। मुनि के लिए महाव्रत हैं और गृहस्थ के लिए अणुव्रत। यहां अणु के साथ व्रत शब्द लगा हुआ है, जिसका अर्थ है व्रतों का एक देश पालन करना और स्थूल पापों से विरत रहना।

व्रत और अणुव्रत का स्वरूप

समन्तभद्र ने लिखा है कि स्थूल प्राणातिपात, स्थूलवितथव्याहार, स्थूलस्तेय, स्थूलकाम और स्थूलमूर्च्छा इन पांचों पापों से विरक्त होना अणुव्रत है।[1] उमास्वामी हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति को व्रत कहते हैं।[2] परन्तु समन्तभद्र योग्य विषय से संकल्प पूर्वक विरक्ति को व्रत कहते हैं।[3] पूज्यपाद के अनुसार प्रतिज्ञा पूर्वक जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है या करने योग्य है या नहीं करने योग्य है, इस प्रकार नियम करना, व्रत हैं।[4] परमात्मप्रकाश में सर्व निवृत्ति के परिणाम को व्रत माना गया हैं।[5] सोमदेव ने व्रत के सम्बन्ध में लिखा है कि सेवनीय वस्तु का संकल्प पूर्वक त्याग करना व्रत है अथवा अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति और बुरे कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं।[6] पण्डितप्रवर आशाधर जी ने व्रत की परिभाषा में वृद्धि करते हुए लिखा है कि किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कार्यों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत

है अथवा पात्र दानादि शुभकर्मों मे उसी प्रकार संकल्प पूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।[7]

उपर्युक्त आचार्यों के मन्तव्यों से स्पष्ट है कि उमास्वामी ने जिनके विरक्त होने को व्रत कहा है, उनके स्थूल त्याग को समन्तभद्र ने अणुव्रत कहा है। इसके बाद के उत्तरवर्ती आचार्यों ने समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित व्रत के लक्षण का ही प्रायः अनुकरण किया है। सोमदेव और आशाधर ने जोड़ने का कार्य अवश्य किया परन्तु वे समन्तभद्र के ऋणी अवश्य हैं।

उमास्वामी के अनुसार जो शल्य रहित है, वह व्रती है।[8] ऐसे व्रती के दो भेद हैं – 1. अगारी और 2. अनगारी[9]। अणुव्रतों को पालन करने वाला अगारी कहलाता है।[10] वह दिग्देशादि सात व्रतों से सम्पन्न होता है।[11] इन सूत्रात्मक विचारों को और विकसित एवं विस्तृत करते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि गृहस्थों का चारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में तीन प्रकार का है। वे कमशः पांच, तीन और चार भेद युक्त हैं।[12] ये बारह व्रत श्रावक को ही पालने योग्य कहे गये हैं। सोमदेव ने इनको श्रावक के उत्तर गुणों के रूप में स्वीकार किया है।[13] इससे प्रतीत होता है कि सोमदेव ने समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित मूलगुण के लक्षण को नकारते हुए अन्य आचार्यों के आधार पर पांच उदम्बर फलों के त्याग पूर्वक मद्य, मांस, मधु के त्याग को अष्टमूलगुण स्वीकार किया है तथा बारह व्रतों को श्रावक के उत्तर गुण माना है।

अणुव्रत कम विप्रतिपत्ति

समन्तभद्र को अणुव्रतों से सम्बन्धित मार्गदर्शन कुन्दकुन्द से प्राप्त था। यथा –

थूले तसकायवहो थूले तितिक्ख थूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभ परिमाणम्।।[14]

अर्थात् स्थूलत्रसकायपरिहार, स्थूलमृषापरिहार, स्थूलतितिक्षापरिहार परप्रेमपरिहार और परिग्रहारंभपरिमाण ये समन्तभद्र के अणुव्रतों के समान ही हैं। किन्तु चौथे और पांचवें अणुव्रत के नाम में अन्तर है। जैसे समन्तभद्र

ने चौथे अणुव्रत का नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष[15] तथा पांचवें का परिग्रह परिमाण के साथ साथ इच्छा परिमाण भी किया है।[16] समन्तभद्र के परवर्ती आचार्य रविषेण ने भी चतुर्थ अणुव्रत का परदारसमागमविरति और पांचवें का अनन्तगर्हा विरति दिया है।[17] आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में प्रथम अणुव्रत का नाम दया रखा है।[18] आचार्य जिनसेन (द्वितीय) ने आदिपुराण में चौथे व्रत का नाम परस्त्रीसेवननिवृत्ति तथा पांचवें व्रत का नाम तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति रखा है।[19] पं० आशाधर जी ने चतुर्थ व्रत का नाम स्वदारसन्तोष रखा है।[20]

अहिंसाणुव्रत

मन, वचन, काय के कृत कारित और अनुमोदना रूप संकल्प के द्वारा जो त्रस जीवों का घात नहीं करता है, उसे समन्तभद्र ने स्थूलवधविरमण कहा है।[21] उपर्युक्त अहिंसाणुव्रत का लक्षण परिपूर्ण है। उत्तरकाल में इसमें कुछ भी घटाने या बढ़ाने की जरूरत नहीं समझी गयी। सर्वार्थसिद्धि में त्रस जीवों के प्राणों का घात न करने वाले को अहिंसाणुव्रती कहा है।[22] तत्त्वार्थवार्तिक में क्रियापद जोड़कर मन, वचन, काय या कृत कारित अनुमोदना का निर्देश कर दिया गया है किन्तु संकल्प का उल्लेख उसमें भी नहीं है।[23] उत्तरवर्ती आचार्यों अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[24], सोमदेव ने उपासकाध्ययन,[25] अमितगति ने श्रावकाचार[26], पं० आशाधर जी ने सागारधर्मामृत[27] में अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है, परन्तु समन्तभद्र के द्वारा प्रतिपादित लक्षण उत्तरवर्ती परम्परा में अपरिवर्तनीय रहा।

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

जिन दोषों से व्रत पूर्ण रूप से खण्डित नहीं होता, किन्तु आंशिक खण्डित हो जाता है, वे दोष अतिचार कहे जाते हैं। ये सभी आचार्यों ने समान रूप से स्वीकार किये हैं। अतिचार निम्न हैं – 1. वध 2. बन्धन 3. छेद 4. अतिभारारोपण 5. अन्नपाननिरोध।

उपर्युक्त अतिचारों से स्पष्ट है कि अहिंसाणुव्रत का सम्बन्ध केवल खानपान को लेकर ही नहीं था, वरन् व्यवहार की दृष्टि से भी था क्योंकि

पांचों अतिचार मनुष्य और पशुओं के साथ किये जाने वाले व्यवहार से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतः सामाजिक जीवन की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है।

सत्याणुव्रत

सत्याणुव्रत आदि चार अणुव्रत अहिंसाणुव्रत के रक्षक हैं। जैसे किसान खेत की रक्षा के लिए चारों ओर बाढ़ लगा देता है वैसे ही अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए अन्य चार व्रत बाढ़ रूप हैं। उनके पालन करने से अहिंसाव्रत की रक्षा होती है। सत्याणुव्रत के लिए कुन्दकुन्द ने स्थूलमृषावाद नाम दिया है, जिसे समन्तभद्र ने उसी नाम से स्वीकार किया है। जो स्थूल अलीक न तो स्वयं बोलता है न दूसरों से बुलवाता है, उसे सन्त जन स्थूलमृषावाद विरमण कहते हैं।[29] सत्याणुव्रत की यह परिभाषा 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' कथन के निकट हैं।

असत्य की परिभाषा

सत्य को समझाने के लिए आचार्यों ने असत्य को भी परिभाषित किया है। उमास्वामी कहते हैं – 'असदभिधानमनृतम्'[30] पूज्यपाद देवनन्दि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि असत् अर्थात् अप्रशस्त और ऐसे वचन जिनसे प्राणी को पीड़ा पहुंचती हो, वह चाहे सत्य हो या असत्य अप्रशस्त, उसका बोलना असत्य है।[31]

आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में असत्य के चार भेद किये हैं –

1. अविद्यमान वस्तु का निषेध करना।
2. अविद्यमान वस्तु को विद्यमान बतलाना।
3. कुछ का कुछ कह देना।
4. गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचन।

आचार्य सोमदेव ने असत्य के विवेचन में वचन के चार भेद बताये हैं – 1. असत्य सत्य 2. सत्य असत्य 3. सत्य सत्य 4. असत्य असत्य।

इसका अभिप्राय यह है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है। सत्य होते हुए भी असत्य हो जाता है। जो वस्तु जहां जिस रूप में देखी या सुनी थी, उसको वैसा ही कहना सत्य सत्य है और सर्वथा असत्य ही असत्य असत्य है।[33] अमितगति ने अपने श्रावकाचार में अमृतचन्द की तरह ही असत्य के चार भेद किये हैं।[34] परन्तु आशाधर जी ने स्पष्टतः सत्याणुव्रत का वर्णन करते हुए सोमदेव की तरह वचन के दो भेद बतलाये हैं। सत्याणुव्रत का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि कन्या अलीक, गो अलीक, क्षमा अलीक, कूट साक्षि और न्यास पात की तरह जिससे अपने या दूसरे पर विपत्ति आती हो ऐसे सत्य के छोड़ने का निषेध किया है।[35] ऐसा वर्णन किसी भी दिगम्बर जैन ग्रन्थ में नहीं मिलता। प्रतीत होता है वह हेमचन्द्र आचार्य के योगशास्त्र से लिया गया है। योगशास्त्र में लिखा है – 1. कन्या अलीक 2. गो अलीक 3. भूमि अलीक 4. कूट साक्ष्य और 5. न्यासापलाप ये स्थूल अलीक पांच हैं।[36]

उपर्युक्त प्रकार के असत्यों का त्याग ही सत्य है, स्थूल त्याग ही सत्याणुव्रत है। अतः सिद्ध है कि आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित लक्षण में उत्तरवर्ती आचार्यों ने कुछ भी स्वतः बुद्धि से परिवर्तन नहीं किया है।

सत्याणुव्रत के अतिचार

उमास्वामी के अनुसार सत्याणुव्रत के निम्न पांच अतिचार हैं –

1. मिथ्योपदेश – झूठी सलाह देना।
2. रहोभ्याख्यान – स्त्री पुरुष की एकान्त में की गयी किसी चेष्टा को देखकर दूसरों से कह देना।
3. कूटलेखक्रिया – जाली हसताक्षर बनाना।
4. न्यासापहार – धरोहर को हड़प जाना।
5. साकारमन्त्रभेद – किसी की मुखाकृति से मन की बात जानकर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना।[37]

उमास्वामी द्वारा मान्य इन अतिचारों में परिवर्तन करते हुए समन्तभद्र ने मिथ्योपदेश के स्थान पर परिवाद अर्थात् निन्दा करना और साकारमन्त्रभेद के स्थान पर पैशून्य अर्थात् चुगली करना आदि पद रखे हैं।[38] सोमदेव ने मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान और न्यासापहार के स्थान पर परिवाद, पैशून्य और मृषाभाषी मानें हैं।[39] तात्पर्य यह कि उन्होंने समन्तभद्र द्वारा मान्य पांच अतिचारों में से मात्र मृषाभाषी में परिवर्तन किया है, अन्य सभी ज्यों के त्यों स्वीकृत किये हैं।

अचौर्याणुव्रत

अचौर्याणुव्रत के लिए कुन्दकुन्द ने जिसे स्थूल अदत्त परिहार कहा था,[40] समन्तभद्र ने उसको अकृशचौर्य उपरमण नाम दिया है।[41] चाउज्जामसंवर में अदिण्णादान विरमण नाम आया है।[42] समन्तभद्र ने अचौर्याणुव्रत की परिभाषा देते हुए लिखा है कि किसी की गिरी हुई, या भूली हुई परवस्तु को न स्वयं लेना और न उठाकर दूसरों को देना अचौर्याणुव्रत है।[43] आचार्य उमास्वामी ने इस व्रत का लक्षण न देकर मात्र चोरी का लक्षण दिया है।[44] अमृतचन्दसूरि ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है कि धन मनुष्यों का बाह्यप्राण है, उसके धन का हरण प्राण हरण के समान है। जो जलाशयों से पानी आदि भी लेने का त्याग करने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य सब विना दी हुई वस्तु के ग्रहण का त्याग करना चाहिए।[45] सोमदेव ने लिखा है कि जो धन पृथ्वी आदि में गढ़ा हुआ मिला हो उसे भी नहीं लेना चाहिए क्योंकि जिस धन का कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता है। अतः मकान में, जल में या पर्वत में गढ़े हुए दूसरे के धन को नहीं लेना चाहिए। किसी वस्तु में संशय होने की स्थिति में भी संशय दूर होने तक ग्रहण नहीं करना चाहिए।[46] अमितगति श्रावकाचार, सागारधर्मामृत एवं लाटीसंहिता आदि ग्रन्थों में भी अचौर्याणुव्रत के सम्बन्ध में कोई नया परिवर्तन नहीं किया गया है।

अचौर्याणुव्रत के अतिचार

आचार्य उमास्वामी के अनुसार अचौर्याणुव्रत के अतिचार निम्न हैं[47] –

1. स्तेनप्रयोग – दूसरों को चोरी की ओर प्रेरित करना।

2. तदाहृतादान – चोरी का माल खरीदना।

3. विरुद्धराज्यातिकम – राजाज्ञा के विरुद्ध कर आदि नहीं चुकाना।

4. हीनाधिकमानोन्यमान्य – लेने देने के उपकरण अधिक कम रखना

5. प्रतिरूपकव्यवहार – बहुमूल्य वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाना

समन्तभद्र ने प्रायः उमास्वामी द्वारा मान्य अतिचार ही रखे हैं, परन्तु विरुद्धराज्यातिकम के स्थान पर विलोप माना है। विलोप का मतलब है कि राजकीय नियमों की अवहेलना करके धन संचय करना और विरुद्धराज्यातिक्रम का मतलब है कि राजा के विरुद्ध मार्ग पर चलकर धनसंचय करना।[48] पं0 आशाधर जी ने विरुद्धराज्यातिकम के अन्य अर्थ भी किये हैं कि राज्य विप्लव हो जाने पर वस्तुओं के मूल्य बढाने का प्रयत्न करना, एक राज्य के निवासी का दूसरे राजा के राज्य में प्रवेश करना आदि।[49] लाटीसंहिता में राजा की आज्ञा युक्त हो या अयुक्त उसक़ा न पालना विरुद्धराज्यातिकम है।[50]

ब्रह्मचर्याणुव्रत

चतुर्थ अणुव्रत के लिए परदारनिवृत्ति, स्वदारसन्तोष, स्थूलब्रह्मचारी आदि नाम दिये गये हैं। कुन्दकुन्द ने इसे परमहिलापरिहार नाम दिया है। समन्तभद्र के अनुसार जो पाप के भय से न तो पर स्त्रियों के पास स्वयं जाता है और न दूसरों को भेजता है, उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोषव्रत कहते हैं।[51] पूज्यपाद के अनुसार गृहीत या अगृहीत परस्त्री के साथ रति न करना गृहस्थ का चौथा अणुव्रत है।[52] अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्री को छोड़ने में असमर्थ हैं, उन्हें भी शेष सब स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिए।[53] सोमदेव ने उपासकाध्ययन में लिखा है कि वधू और वित्त स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री समझना गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है।[54] स्वामी कार्तिकेय के अनुसार जो मन, वचन और काय से परस्त्री को माता, बहन और पुत्री के समान मानता है, स्थूलब्रह्मचर्याणुव्रती है।[55]

अमितगति ने लिखा है कि ज्ञानी पुरुष पराई स्त्रियों को बहन, माता और पुत्री के समान देखकर घोर दृष्टिविष वाली सर्पिणी के समान दूर से ही परित्याग करते हैं।[56] वसुनन्दि यह मानते हैं कि जो दिन में स्त्रीभोग और सदा के लिये अनंग क्रीड़ा को छोड़ देता है, वह स्थूल ब्रह्मचारी है।[57] आशाधर के अनुसार जो पाप के भय से मन, वचन और काय से परस्त्री और वेश्या के पास न स्वयं जाता है और न दूसरों को भेजता है, वह स्वदारसन्तोषी है।[58] श्री राजमल्ल के अनुसार ब्रह्मचर्याणुव्रती को धर्मपत्नि का ही सेवन करना चाहिए, अन्य का नहीं।[59]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सोमदेव के श्रावकाचार के अतिरिक्त सभी श्रावकाचारों में ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिए स्वस्त्री के अतिरिक्त शेष सभी पर स्त्रियों का त्याग आवश्यक बताया गया है। सोमदेव ने 'वित्तस्त्री' को भी उक्त व्रत की मर्यादा के भीतर ले लिया है, पर वे यह स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं कि उन्होंने ऐसा क्यों किया? परन्तु उनके बाद पं0 आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में स्वदारसन्तोष का व्याख्यान करते हुए लिखा है कि जो मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से पाप के भय से पर नारी और वेश्या को न स्वयं भोगता है और न दूसरों से ऐसा कराता है, वह स्वदारसन्तोषी है। जो गृहस्थ अपनी पत्नि की तरह साधारण स्त्रियों का भी त्याग करने में अशक्त हैं और केवल परस्त्री का ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्मचर्याणुव्रती माना जाता है।[60] क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रती के दो भेद हैं – 1. स्वदारसन्तोष 2. परदार निवृत्ति। प्रथम का पालन देशसंयम में अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक करता है। दूसरा संयम के अभ्यास के लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है। आशाधर के अतिरिक्त ब्रह्मचर्याणुव्रत को स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति नाम के दो भेदों में विभाजित अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं किया। स्वामी समन्तभद्र ने तो दोनों को एक ही व्रत का नामान्तर कहा है। आशाधर की ही तरह श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में ब्रह्मचर्याणुव्रत का स्वरूप स्वीकार किया गया है[61], जिससे यह स्पष्ट है कि उक्त सब ने परस्पर आदान प्रदान ही है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं – 1. अन्यविवाहकरण 2. अनंगक्रीड़ा 3. विटत्व 4. विपुलतृषा 5. इत्विरिकागमन ये पांच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार हैं।[62] पूर्ववर्ती आचार्य उमास्वामी ने परविवाहकरण, इत्विरिका परिग्रहीतागमन, इत्विरिका अपरिग्रहीतागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश पांच अतिचार माने हैं।[63] उत्तरवर्ती आचार्य अमृतचन्द,[64] अमितगति[65] और राजमल्ल[66] आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उमास्वामी द्वारा मान्य अतिचार ही स्वीकार किये हैं। परन्तु आशाधर[67] ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुसार ही पांच अतिचार गिनाये हैं। सोमदेव ने इत्विरिकागमन के स्थान पर परस्त्री संगम और विटत्व के स्थान पर रतिकेतव्य नाम बताये हैं।

परिग्रहपरमाषाणुव्रत

समन्तभद्र ने लिखा है कि धन, धान्य आदि परिग्रह का परिमाण करके उससे अधिक में निःस्पृह होना ही परिग्रह परिमाण व्रत या इच्छा परिमाण व्रत है।[68] उमास्वामी के अनुसार मूर्च्छा परिग्रह है।[69] इसकी व्याख्या में सर्वार्थसिद्धिकार ने लिखा है कि गौ, भैंस, मणि, मुक्ता आदि अचेतन चेतन और रागादि भावों के संरक्षण आदि व्यापार मूर्च्छा है।[70]

कुन्दकुन्द ने इसको परिग्रहारम्भ परिमाण नाम दिया है। अतः उक्त व्रती को परिग्रह के साथ आरम्भ का भी नियम करना चाहिए। अमितगति ने अपने श्रावकाचार में कुन्दकुन्द को प्रमाण मानते हुए लिखा है कि लोक में सब आरम्भ परिग्रह के लिए किये जाते हैं। जो परिग्रह को कम करता है, वह समस्त आरम्भों को भी कम करता है।[71] परिग्रह के सचित्त अचित्त तथा अन्तरंग बहिरंग भेदों का निर्देश सर्वार्थसिद्धिकार ने किया था, परन्तु उनकी संख्या का निर्देश पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[72] और उपासकाध्ययन[73] में मिलता है।

परिग्रहपरमाषाणुव्रत के अतिचार

उमास्वामी ने परिग्रहपरमाषाणुव्रत के अतिचारों को गिनाते हुये लिखा है कि 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेशवर्जनानि पंच' अर्थात् क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रम,

हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम, धनधान्यप्रमाणातिक्रम, दासीदासप्रमाणातिकम और कुप्यप्रमाणातिक्रम ये पांच परिग्रहपमिाणव्रत के अतिचार हैं।[75] समन्तभद्र द्वारा माने गये परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार उमास्वामी से भिन्न हैं। यथा –

1. अतिवाहन 2. अतिसंग्रह 3. अतिविस्मय 4. अतिलोभ 5.अतिभारवहन पं0 आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में परिग्रहपरिमाण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार बतलाये हैं –

1. मकान और खेत में पास का दूसरा मकान और खेत मिला लेना।
2. अपने घर का धान्य और पशुधन बेच देने के बाद वह धान्य और धन ले लूंगा, ऐसा विचार कर परिमाण से अधिक धन और धान्य को बेचने वाले के घर पर ही रखना।
3. व्रत की अवधि पूर्ण होने पर ये सोना चांदी ले लूंगा, इस भाव से परिमाण से अधिक सोना चांदी दूसरों को दे रखना।
4. कांसे पीतल आदि के वर्तनों की संख्या परिमाण से अधिक हो जाने पर व्रतभंग के भय से दो दो वर्तनों को मिलाकर एक करना।
5. परिग्रहपरिमाणव्रत जितने दिनों के लिये है, उसके अन्दर ही यदि गाय आदि के बच्चे देने से व्रत भंग होने का भय हो तो उस समय के बाद ही गाय आदि को गर्भवती होने देना।[76]

यद्यपि उक्त अतिचारों का आधार भी हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्र ही है फिर भी तत्त्वार्थसूत्रकार द्वारा मान्य अतिचारों का ही विस्तार है। अतः स्वामी समन्तभद्र के अतिरिक्त अन्य सब शास्त्रकारों के द्वारा बतलाये गये अतिचार समान ही हैं।

शीलव्रत समीक्षा

समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार के चतुर्थ एवं पंचम परिच्छेद में तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का सविस्तार वर्णन किया है। पांच अणुव्रतों के पालन के बाद तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का पालन आवश्यक होता है क्योंकि वे सात, गुणों में वृद्धि अर्थात् मुनिव्रत धारण करने के लिये

उत्सुक श्रावक को अत्यधिक सहायक होते हैं। आचार्य उमास्वामी ने तीर्थंकर प्रकृति के आश्रव के कारणों में दर्शनविशुद्धि आदि के वर्णन के अन्तर्गत उक्त सात को शील की संज्ञा दी है।[77] प्रस्तुत प्रकरण में सप्त शीलव्रतों पर संक्षेप में विचार प्रस्तुत हैं।

समन्तभद्र के पूर्व कुन्दकुन्द ने सर्वप्रथम चरित्तपाहुड में पांच अणुव्रत गिनाने के बाद तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के नाम दिये हैं यथा– दिशा विदिशा का परिमाण, अनर्थदण्ड का त्याग और भोग उपभोग का परिमाण, यही तीन गुणव्रत हैं।[78] सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत हैं।[79] उमास्वामी ने व्रती को अगारी और अनगारी के भेद से दो प्रकार का बताकर अणुव्रत पालन करने वाले को अगारी कहा है और दिग्व्रत आदि का पालक एवं सल्लेखना धारण करने वाला अनगारी कहा है। बाद में प्रत्येक के पांच पांच अतिचार बताये हैं।[80] यथा – 1. दिग्विरति 2. देशविरति 3. अनर्थदण्डविरति 4. सामायिक 5. प्रोषधोपवास 6. उपभोग परिभोगपरिमाण 7. अतिथिसंविभाग।

बारह व्रतों का व्यवस्थित वर्णन समन्तभद्र के रत्नकरण्डकश्रावकाचार में ही मिलता है। उनके अनुसार गृहस्थों का चारित्र तीन प्रकार का होता है– अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत और वे कमशः पांच, तीन और चार भेद वाले कहे गये हैं।[81] उन्होंने गुणव्रतों का वर्णन करते हुए लिखा है कि आर्यजन आठ मूलगुणों की वृद्धि करने के कारण दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत कहते हैं। इसका रत्नकरण्डश्रावकाचार में विस्तृत विवेचन किया गया है।[82]

समन्तभद्र ने शिक्षाव्रतों का वर्णन निम्न प्रकार किया है। जिनेन्द्रदेव ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं।[83] इसके बाद उक्त चारों का विस्तृत विवेचन किया है।[84] वैयावृत्य करने वाले को जिन पूजन करना भी आवश्यक बताया गया है। उसे आदरपूर्वक, नित्य सर्व कामनाओं के पूर्ण करने वाले और काम विकार को जलाने वाले देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र भगवान की सर्वदुःख विनाशक परिचर्या अर्थात् पूजा

भी करना चाहिए।[86] पूजन करने के महत्त्व के लिए मेढक का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है और अन्त में वैयावृत्य के अतिचार बतलाये हैं। इस प्रकार समन्तभद्र के पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी के साथ समन्तभद्र के विवेचन से निम्न निष्कर्श निकलते हैं।

तीनों आचार्यों द्वारा मान्य गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नामों में भिन्नता है। सातों व्रतों को गुणव्रत और शिक्षाव्रत के रूप में मात्र कुन्दकुन्द और समन्तभद्र ने ही वर्गीकृत किया है, उमास्वामी ने नहीं किया है। उक्त तीनों आचार्यों में से मात्र कुन्दकुन्द ने ही सल्लेखना को शिक्षाव्रत के अन्तर्गत गिनाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के बाद सल्लेखना पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाने लगा और तब उसे शीलव्रतों से अलग कर दिया गया । इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी ने सल्लेखना को जीवन के अन्तिम समय में धारण करने का विधान किया है और यही विचार समन्तभद्र का भी है परन्तु ऐसा लगता है कि कुन्दकुन्द ने सल्लेखना की आराधना जीवन भर कराने की दृष्टि से ही उसे बारह व्रतों के अन्तर्गत रखा हो।

शीलव्रत : समन्तभद्र और उत्तरवर्ती आचार्य

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी उपर्युक्त विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। जिनमें जटासिंहनन्दि, पुराणकार रविदेव, जिनसेन, अमृतचन्द्र, सोमदेव, अमितगति, चामुण्डराय, कार्तिकेय, वसुनन्दि, पद्मनन्दि आदि आचार्य प्रमुख हैं, जिन्होंने श्रावकाचार से सम्बन्धित गहन अध्ययन करके अपने निष्कर्ष दिये हैं। यहां सम्बन्धित आचार्यों की विषयवस्तु का विस्तार से वर्णन न करके तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से विशिष्ट विन्दुओं पर ही विचार किया गया है।

जटासिंहनन्दि और समन्तभद्र

जटासिंहनन्दि ने गुणव्रतों का वर्णन कुन्दकुन्द के अनुसार ही किया है। नाम भी वही हैं। अन्तर इतना है कि कुन्दकुन्द ने मात्र नाम गिनाये हैं

जबकि जटासिंहनन्दि ने उनका विवेचन किया है तथा गुणव्रतों में अनर्थदण्ड को तीसरे स्थान पर रखा है।[86]

पुराणकार और समन्तभद्र

पुराणकारों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में से किसी का भी ज्यों का त्यों अनुकरण नहीं किया है, पर यह कहा जा सकता है कि पुराणकार कुन्दकुन्द के अतिनिकट हैं। आगे रविषेणाचार्य आदिपुराणकार जिनसेन तथा हरिवंशपुराणकार जिनसेन के अनुसार गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों पर विचार किया जायेगा।

रविषेण ने यद्यपि कुन्दकुन्द की ही तरह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को गिनाया है, किन्तु इनके कम में अन्तर है। रविषेण ने अनर्थदण्डविरति, दिग्विरति त्याग और भोगोपभोग संख्यान को गुणव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना को शिक्षाव्रत कहा है।[87] जिनसेन ने आदिपुराण में लिखा है कि दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति ये गुणव्रत हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और मरण समय में सन्यास धारण करना शिक्षाव्रत हैं।[88] जिनसेन ने इनका विस्तृत विवेचन नहीं किया है। हरिवंशपुराण में दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति को गुणव्रत और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभाग को शिक्षाव्रत कहा गया है और सातों का विस्तृत विवेचन भी किया गया है।[89]

पुराण में प्रतिपादित तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों के विवेचन के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं कि तीनों पुराणकारों में से किसी ने भी कुन्दकुन्द, उमास्वामी और समन्तभद्र का पूर्ण रूप से अनुकरण नहीं किया है। रविषेणाचार्य ने कुन्दकुन्द के अनुसार ही गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को गिनाया है। अन्तर इतना है कि उन्होंने गुणव्रतों में अनर्थदण्ड को सर्वप्रथम लिखा है। जबकि कुन्दकुन्द ने उसे दूसरे स्थान पर गिनाया है। आदिपुराण में तथा हरिवंशपुराण में गुणव्रतों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार है, पर शिक्षाव्रतों में अन्तर है। रविषेणाचार्य और जिनसेनाचार्य

आदिपुराणकार ने शिक्षाव्रतों का विवरण कुन्दकुन्द के अनुसार किया है किन्तु हरिवंशपुराणकार ने शिक्षाव्रतों को उमास्वामी के अनुसार गिनाया है तथा सल्लेखना का विवेचन स्वतन्त्र रूप में किया है। शिक्षाव्रतों के विवेचन में इस प्रकार की विभिन्न परम्परायें क्यों रहीं यह ज्ञात करना कठिन है। यही कारण है कि पुराणकारों के सामने विभिन्नता की कठिनाई रही है इसलिए वे एकरूपता से वर्णन नहीं कर सके।

अमृतचन्द और समन्तभद्र

अमृतचन्द ने तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का नाम शीलव्रत रखा है। इस रूप में शीलव्रत का समन्तभद्र ने कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। अमृतचन्द्र के अनुसार जैसे परिधियां नगर की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार शीलव्रत व्रतों की रक्षा करते हैं। इसलिए व्रत पालन करने के लिए शीलव्रतों का पालन करना चाहिए।[90]

समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में तीन गुणव्रतों और चार शिक्षा व्रतों का अलग अलग वर्णन किया है। अमृतचन्द्र ने भी सातों को शीलव्रत कहकर उनका पृथक् पृथक् वर्णन किया है।[91] जिसमें अमृतचन्द्र ने समन्तभद्र की ही तरह अनर्थदण्ड के पांच भेदों का वर्णन किया है, पर एक अनर्थदण्ड के रूप में जुये को भी माना है। जबकि समन्तभद्र ने जुये के सम्बन्ध में कोई विवेचन नहीं किया है। समन्तभद्र ने सामायिक को सामयिक शब्द से अभिहित किया है, वहीं अमृतचन्द्र ने सामायिक ही रखा है। अमृतचन्द्र ने समस्त शीलों को अहिंसा व्रत के अन्तर्गत माना है। समन्तभद्र ने वैयावृत्य के अन्तर्गत दान को माना है तथा उसके चार भेदों सहित दान देने वालों के नामों का भी उल्लेख किया है, परन्तु अमृतचन्द्र ने दान को तो लिया है पर उसके चार भेदों का कोई जिक्र नहीं किया है। उन्होंने दान का लक्षण, देने योग्य द्रव्य, दाता के गुण एवं पात्रों के भेदों को व्यवस्थित ढंग से वर्णित किया है, जबकि समन्तभद्र ने मात्र बीज रूप ही दिये हैं। इस तरह अमृतचन्द्र पर समन्तभद्र का पूर्ण प्रभाव रहा है।

सोमदेव और समन्तभद्र

दशवीं शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार एवं जैनधर्म और संस्कृति के परिशोधक तथा प्रसिद्ध प्रचारक सोमदेव सूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ यशस्तिलक चम्पू के अन्तिम तीन आश्वासों में श्रावकाचार का विवेचन किया है और उसे उपासकाध्ययन कहा जाता है। उसमें पांच अणुव्रतों के वर्णन के पश्चात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया है। समन्तभद्र एवं अन्य आचार्यों की अपेक्षा सोमदेव द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त विषयवस्तु में अधिक अन्तर पाया जाता है। इसलिए उनके विचारों के साथ अन्य आचार्यों के अन्तर को दिखाना यहां आवश्यक है।

गुणव्रत

दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति के भेद से गुणव्रत तीन हैं। अमुक अमुक दिशा में अमुक अमुक स्थान तक ही जाऊंगा, इस प्रकार जन्म पर्यन्त के लिए सब दिशाओं में ऊपर तथा नीचे जाने की मर्यादा की जाती है, उसे दिग्विरति कहते हैं। कुछ समय के लिए जो मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक दिशा में अमुक देश तक ही जाऊंगा, उसे देशविरति कहते हैं। इस प्रकार दिशाओं का और देश का नियम लेने से उससे बाहर की वस्तुओं में भोग उपभोग और हिंसा आदि के भाव नहीं होते हैं। उसके न होने से चित्त संयत रहता है। जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुणव्रतों का पालन करता है, वह जहां जहां जन्म लेता है, वहीं वहीं उसे ऐश्वर्य और विभूति मिलती है। दिशा और देश के किये हुए प्रमाण का उल्लंघन करने से प्रायश्चित लेना पड़ता है।[92]

सोमदेव के अनुसार मोर, मुर्गा, बाज, बिलाव, सांप, नेवला, आदि हिंसक जीवों को पालना, विष, कांटा, शस्त्र, आग, कोड़ा, जाल, रस्सा आदि हिंसा के साधनों को दूसरों को देना, पाप का उपदेश देना, आर्त्त और रौद्र ध्यान का करना, हिंसायुक्त लेख लिखना, व्यर्थ इधर उधर भटकना, दूसरों को कष्ट पहुंचाना, चुगली करना, रंज करना, रोना, और इसी प्रकार दूसरों के घात में, बांधने में और रोक रखने में अन्य भी जो कारण हैं, उन्हें

अनर्थदण्ड कहते हैं। क्योंकि उनसे संसार की वृद्धि होती है। अपने आचार का पालन करने में चतुर देशव्रती श्रावक को हिंसक प्राणियों का पोषण तथा हिंसा के साधनों का दान नहीं करना चाहिए। उपर्युक्त अनर्थदण्डों का त्यागी श्रावक सबका मित्र और स्वामी बन जाता है। उपदेश से ठगी, आरम्भ और हिंसा प्रवर्तन करना, शक्ति से अधिक बोझा लादना और दूसरों को अधिक कष्ट देना आदि अनर्थदण्ड में हानि करने वाले हैं। अतः अणुव्रती श्रावक को उक्त कार्य नहीं करना चाहिए।[93]

शिक्षाव्रत

सोमदेव ने शिक्षाव्रतों के नाम निम्न प्रकार गिनायें हैं[94] –

1. सामायिक 2. प्रोषधोपवास 3. भोगोपभोग परिमाण 4. दान।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने का जो उपदेश है, उसे समय कहते हैं और उसमें इच्छुक व्यक्तियों के जो जो कार्य बतलाये गये हैं, उन्हें सामायिक कहते हैं।[95] प्रोषध पर्व को कहते हैं। प्रत्येक मास में चार पर्व होते हैं। इन पर्वों में विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतों का आचरण करके धर्म कर्म को बढ़ाना चाहिए। लगातार या अन्तराल देकर तिथि, तीर्थंकरों के कल्याणक तथा नक्षत्र आदि का विचार कर शास्त्रों के अनुसार अनेक प्रकार के उपवासों की विधि का विचार करना चाहिए इत्यादि के साथ उपवास की विधि का वर्णन किया है।[96] जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है। जैसे भोजन, पानी आदि भोग कहे जाते हैं। जो बार बार भोगा जाता है, उसे उपभोग या परिभोग कहते हैं। जैसे भूषण आदि। चित्त के विस्तार को रोकने के लिए भोग और उपभोग का परिमाण कर लेना चाहिए। जो मिल रहा है तथा जो सेवनीय है, उसका भी नियम कर लेना चाहिए। भोगोपभोग परिमाण व्रत का पालन दो प्रकार से किया जाता है – यम और नियम पूर्वक। जो त्याग जीवन भर के लिए किया जाता है, वह यम है और जो त्याग कुछ समय के लिए किया जाता है, वह नियम कहलाता है। अदरक, आलू आदि जमीकन्द केतकी और नीम के फूल आदि का त्याग जीवन पर्यन्त के लिए करना चाहिए क्योंकि उनमें उसी प्रकार के जीवों की

स्थिति रहती है। जो भोजन कच्चा है या अधिक पक गया है, वह त्याज्य है, जो जन्तुओं से भरा हो या जिसे हमने देखा नहीं, ऐसे भोजन को खाना भोगपरिभोग परिमाण व्रत का नाशक है। अतः नहीं खाना चाहिए। इस प्रकार जो भोगोपभोग परिमाण करता है, वह मनुष्य और देवपर्याय में जन्म लेकर लक्ष्मी को प्राप्त करता है। अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है।[97] गृहस्थों को विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और काल के अनुसार दान देना चाहिए। जिससे अपना कल्याण हो, मुनियों के रत्नत्रय की उन्नति हो। इस प्रकार जो अपने और दूसरों के उपकार के लिए दिया जाता है, उसे दान कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार से सोमदेव ने उपासकाध्ययन में दान का लक्षण, उसका फल, दान के भेद, दान की विधि दाता के गुण आदि का विस्तृत विवेचन किया है।[98]

समीक्षा

1. आचार्य समन्तभद्र की तरह सोमदेव ने भी तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का अलग अलग वर्णन किया है।
2. सोमदेव ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, रविषेण, जिनसेन आदि का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं किया है।
3. समन्तभद्र ने जहां दिग्व्रत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रत माना है, वहां सोमदेव ने दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत माना है।
4. चार शिक्षाव्रतों में भी समन्तभद्र ने वैयावृत्य को चौथा शिक्षाव्रत स्वीकार किया है और उसी के अन्तर्गत दान का भी विवेचन किया है, परन्तु सोमदेव ने वैयावृत्य को माना ही नहीं तथा दान को चौथा शिक्षाव्रत माना है। दान का लक्षण, पात्र, दाता, देय, द्रव्य तथा दान के भेदों का विवेचन जितने अधिक विस्तार से सोमदेव ने किया है, उतना अन्य किसी आचार्य ने नहीं।
5. समन्तभद्र ने जहां आहार, औषधि उपकरण और वास के भेद से दान के चार भेद कहे हैं, वहां सोमदेव ने अभयदान, आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदान के रूप में विवेचन किया है।

6. सोमदेव द्वारा की गयी सामायिक की परिभाषा अन्य आचार्यों से भिन्न है।
7. समन्तभद्र ने जहां पूजा का फल एवं उसके भक्त का निर्देश मात्र किया है वहां सोमदेव ने नियुक्त कर्मों में सर्वप्रथम देवपूजा की बात कही है और उसके लिए अन्तरंग और बहिरंग शुद्धि की आवश्यकता पर बल देते हुए बहिरंग शुद्धि में स्नान आवश्यक बताया है।
8. नवधा भक्तियों का विवेचन सोमदेव की अपनी नयी समझ है।

अतः यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में जो कुछ बीज रूप में कहा है, सोमदेव ने उसे विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है।

अमितगति और समन्तभद्र

1. अमितगति[99] ने अपने श्रावकाचार में कुन्दकुन्द और उमास्वामी की तरह ही गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का कम रखा है।[100]
2. अमितगति ने उमास्वामी और समन्तभद्र की तरह प्रत्येक व्रत के पांच पांच अतिचारों का भी वर्णन किया है।
3. अमितगति ने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के वर्णन में कुन्दकुन्द और उमास्वामी का अनुसरण किया है। समन्तभद्र ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत कहा है, वहां अमितगति ने दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत कहा है।
4. समन्तभद्र ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत माने हैं वहां अमितगति ने सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसंविभागव्रत को शिक्षाव्रत माना है।
5. समन्तभद्र ने दान, अतिथिसंविभाग और पूजन को वैयावृत्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है, वहां अमितगति ने दान या पूजन को अतिथिसंविभाग में स्थान ही नहीं दिया है और न उनके फल पर भी विचार किया है।
6. समन्तभद्र और अमितगति दोनों ने गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों के पांच अतिचारों का वर्णन समान रूप से किया है।

आशाधर और समन्तभद्र

पण्डित प्रवर आशाधर जी ने अपने श्रावक धर्म प्रतिपादक ग्रन्थ सागारधर्मामृत में समन्तभद्र की तरह गुणव्रत और शिक्षाव्रत माने हैं।[101]

राजमल्ल और समन्तभद्र

लाटीसंहिताकार श्रीराजमल्ल जी ने विस्तार के साथ श्रावक की संहिता का विश्लेषण किया है। राजमल्ल जी जहां पूर्व परम्पराओं से बद्ध हैं वहीं उन्होंने युगानुरूप नवीन बातें भी समाहित की हैं। संहिताएं विभिन्नप्रकार के ग्रन्थों का संग्रह रूप हुआ करती हैं। अतः राजमल्ल जी ने भी उमास्वामी तथा समन्तभद्र के ही अनुसार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का अतिचार सहित विस्तृत वर्णन किया है।[102]

स्वामी कार्तिकेय और समन्तभद्र

समन्तभद्र की तरह स्वामी कार्तिकेय ने दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत को गुणव्रत कहा है तथा शिक्षाव्रतों के अन्तर्गत सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास दोनों आचार्यों को एक जैसे हैं अन्तिम शिक्षाव्रत अमितगति की तरह दान है तथा समन्तभद्र की तरह वैयावृत्य है।[103]

वसुनन्दि और समन्तभद्र

उपासकाज्झयण नामक प्राकृत ग्रन्थ में वसुनन्दि ने दिग्व्रत, देशव्रत, तथा अनर्थदण्ड व्रत को गुणव्रत और भोगविरति, उपभोगविरति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना को शिक्षाव्रत कहा है।[104] यहां गुणव्रतों की मान्यता समन्तभद्र की तरह है, पर शिक्षाव्रतों में थोड़ा अन्तर है। पूर्वाचार्यों के अनुमान के आधार पर उन्होंने अपने एक ग्रन्थ में गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों का वर्णन अति सामान्य रूप से किया है। उसमें मात्र फल की ओर संकेत है।[105]

निष्कर्ष

सभी श्रावकाचारों में श्रावक के लिए अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक माना गया है। रत्नकरण्डकम् में पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत श्रावक के आचार का ही प्रतिपादन किया गया है। अहिंसाणुव्रत आदि पांच अणुव्रतों के

सम्बन्ध में पूर्वापर किसी भी आचार्य के मत में विभेद नहीं हैं, यदि थोड़ा अन्तर है तो वह अणुव्रत की भावनाओं और अतिचारों में है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में पंचाणुव्रत के पश्चात् अष्ट मूलगुणों का पालन करना आवश्यक बताया गया है, जबकि अन्य आचार्यों ने अष्टमूलगुणों के पश्चात् बारह व्रतों का पालन करना आवश्यक बताया है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को शीलव्रत, रत्नकरण्डश्रावकाचार में नहीं कहा गया है, परन्तु उमास्वामी, जटासिंहनन्दि, अमृतचन्द आदि आचार्यों ने कहा है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों की संख्या प्रायः सभी आचार्यों ने एक जैसी मानी है, परन्तु उनके कम एवं नाम में अन्तर अवश्य पाया जाता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि श्रावकाचार को बीज रूप में सुव्यवस्थित करने वाले आद्य आचार्य कुन्दकुन्द और उमास्वामी हैं। तत्पश्चात् सर्वप्रथम समन्तभद्र ने उनका विस्तृत विवेचन किया है। समन्तभद्र के बाद श्रावकाचार का प्रतिपादन करने वाले सभी आचार्य इन्हीं आचार्यों के ऋणी हैं।

सन्दर्भ

1. रत्न0 52
2. त0सूत्र, 7.1
3. रत्न0 86
4. स0सि0 7.1
5. प0 प्र0 2.52.173.5
6. उपा0 316
7. सा0ध0 2. 80
8. निःशल्यो व्रती, त0सूत्र, 7.18
9. अगार्यनगारश्च, त0सूत्र 7.19
10 अणुव्रतोगारी, वहीं, 7.20
11. वहीं,, 7.21
12. रत्न0 51
13. उपा0 314
14. चा0पा0,,24
15. रत्न0 59
16. वहीं, 61
17. पद्मचरित, 14.184, 185
18. हरिवंशपुराण, 10.7,8
19. आदिपुराण, 10.63
20. सा0ध0 4.51
21. रत्न0 53
22. स0सि0 7.12
23. त0 वा0 7
24. पु0सि0 43–89
25. उपा0 320
26. अमितगति, श्रावकाचार, 6,7,19
27. सा0ध0 4.5
28. चा0पा0 गा0 24
29. रत्न0 55
30. त0सूत्र 7.14
31. स0सि0 7.14
32. पु0सि0 91–101
33. उपा0 376–391
34. अमितगतिश्रावकाचार, 45–58
35. सा0ध0 4.39, योगशास्त्र, 54
36. योगशास्त्र, 54

37. त0सूत्र 7.26
38. रत्न0 56
39. उपा0 38
40. चा0पा0 25, 26
41. रत्न0 57
42. चाउज्जामसंवर,
43. रत्न0 57
44. त0सूत्र 7.15
45. पु0सि0 103–106
46. उपा0 367–369
47. त0सूत्र 7.27
48. रत्न0 58
49. सा0ध04:50, व्याख्या
50. लाटीसंहिता, 5.53
51. रत्न0 59
52. स0सि0 7020
53. पु0सि0 118
54. उपा0 405
55. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 338
56. अमितगतिश्रावकाचार, 64
57. वसुनन्दि, श्रावकाचार, 212
58. सा0ध0 4.52
59. लाटीसंहिता, पृ0 105
60. सा0ध0सं0टीका, 4.52
61. योगशास्त्र, पृष्ठ 348
62. रत्न0 60
63. त0सूत्र 7.28
64. पु0सि0 186
65. अमितंगतिश्राकाचार, 7.6
66. लाटीसंहिता, 5.48
67. सा0ध0 4.48
68. रत्न0 61
69. त0सूत्र 7.17
70. स0सि0 7.17
71. अमितगति श्रावकाचार, 75
72. पु0सि0 115–117
73. उपा0 433
74. त0सूत्र, 7.29
75. रत्न0 62
76. सा0ध0 4.64
77. त0सूत्र 6.24
78. चा0पा0 5
79. वहीं, 6
80. त0सूत्र 7.16, 30–36
81. रत्न0 51
82. वहीं, 67
83. वहीं, 91
84. वहीं, 92–118
85. वहीं, 119
86. वरांगचरित, 15.117–125
87. पद्मपुराण, 14.198,199
88. आदिपुराण, 10.165,166
89. हरिवंशपुराण, 58.144–183
90. पु0सि0 36
91. वहीं, 137–174
92. उपा0 449–452
93. वहीं, 453–458
94. वहीं, 459
95. वहीं 460
96. वहीं, 750–758
97. वहीं, 759–764
98. वहीं, 165–844
99. अमितगति श्रावकाचार, 6.76–81
100. वहीं, 6.82–97
101. सा0ध0 5
102. लाटीसंहिता, 110
103. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 40–67
104. उपा0 214–272
105. सावयधम्मदोहा, 65–71

□□□

परिच्छेद तृतीय

मूलगुण और प्रतिमाएं

मूलगुण उन मुख्यगुणों को कहते हैं, जिन्हें प्रत्येक पाक्षिक श्रावक या श्रद्धावान व्यक्ति को पालन करना आवश्यक होता है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक आचार ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में पांच अणुव्रतों के स्वरूप एवं अतिचारों का वर्णन करते हुए अन्त में अष्ट मूलगुणों का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार पांच अणुव्रतों का पालन करने के साथ साथ मद्य, मांस और मधु का त्याग करना अष्ट मूलगुण हैं।[1]

मूलगुण : ऐतिहासिक दृष्टि

समन्तभद्र से पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक के मूलगुणों के रूप में उनका उल्लेख नहीं किया है, पर चारित्रपाहुड में चारित्र को सागार और निरागार के भेद से दो प्रकार का बतलाकर सागार को सग्रन्थ और निरागार को परिग्रह रहित कहा है।[2] देशविरत श्रावक के ग्यारह भेदों का उल्लेख करके उन्होंने पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को सागार संयमाचरण कहा है।[3] आगे तीन गाथाओं में इन बारह व्रतों का संक्षिप्त विवरण देकर चौथी गाथा में सावयधम्म संयमाचरण के पूर्ण निरूपण का संकेत किया है।[4] उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के बारह व्रतों का विवरण तो दिया है[5] किन्तु मूलगुणों का उल्लेख नहीं किया है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में, भट्ट अकलंक ने तत्त्वार्थवार्तिक में और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में भी मूलगुणों का कोई भी निर्देश नहीं किया है।

जटासिंहनन्दि ने श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख किया है, पर मूलगुणों का न तो उल्लेख किया और न ही उनके सम्बन्ध में प्रकारान्तर से विवेचन किया। दान, पूजा, तप और शील को श्रावकों का धर्म बतलाया है।[6] पद्मपुराण में रविषेणाचार्य ने श्रावक धर्म के वर्णन के प्रसंग में बारह

व्रतों के पालन के साथ मधु, मांस, जुआ, मद्य, रात्रि भोजन और वेश्या संगम के त्याग को नियम कहा है, परन्तु मूलगुणों का स्वतंत्र रूप में कोई उल्लेख नहीं किया।[7] उन्होने रात्रि भोजन त्याग पर अधिक बल दिया है तथा लिखा है कि जो मनुष्य मद्य, मांस, रात्रि भोजन, चोरी और परस्त्री का सेवन करता है, वह अपने इस जन्म और पर जन्म को नष्ट करता है।[8] जिनसेन ने हरिवंश पुराण के अट्ठारहवें सर्ग में श्रावक धर्म के अन्तर्गत रविषेण की ही तरह बारह व्रतों को गिनाकर अन्त में लिखा है कि मद्य, मांस, मधु, द्यूत और उदम्बरों का छोड़ना एवं वेश्या और परस्त्री के साथ भोग का त्याग करना नियम है।[9] दशवें सर्ग में भी गृहस्थ के पांच अणुव्रतों को बतलाकर दान, पूजा, तप और शील को गृहस्थों का धर्म बतलाया है।[10] यद्यपि उपर्युक्त नियम में मूलगुणों की गणना हो जाती है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में प्रतिमाओं[11] के सन्दर्भ में मद्य मांस आदि का वर्णन तो आया है, पर अष्टमूलगुणों का उल्लेख नहीं है। वसुनन्दि श्रावकाचार[12] में अष्टमूलगुणों का निर्देश तो नहीं है, पर पहली प्रतिमा धारी को पांच उदम्बर और तीन मकार के त्याग का वर्णन है।[13] चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार में मूलगुणों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने ' तथा चोक्तं महापुराणे ' लिखकर निम्नलिखित उद्धरण दिया है[14] –

हिंसासत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणो सन्त्यष्टमूलगुणाः।।

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म, स्थूल परिग्रह तथा जुआ, मांस, और मद्य से विरक्त होना ये गृहस्थों के अष्ट मूलगुण हैं।

तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध श्रावक धर्म विवेचक विद्वान् पं0 आशाधर जी ने अपने सागारधर्मामृत और उसकी टीका में भी महापुराण के उक्त श्लोक का मत उल्लिखित किया है, परन्तु जिनसेन के महापुराण में उक्त श्लोक मिलता नहीं है और न वे अष्ट मूलगुण ही मिलते हैं। अड़तीसवें पर्व में व्रताचरण क्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है कि मधु, और मांस का त्याग, पांच उदम्बर फलों का त्याग और हिंसादि का त्याग सार्वकालिक व्रत है।[15]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्दसूरि ने लिखा है कि हिंसा से बचने के अभिलाषी को सर्वप्रथम मद्य, मांस, मधु और पांच उदम्बर फलों का त्याग करना चाहिए। ये आठों महान पाप के घर हैं इनका त्याग करने से मनुष्य की बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जैनधर्म को धारण करने योग्य बन पाता है।[16] यद्यपि इन्हें भी आचार्य ने अष्टमूलगुण नाम से नहीं कहा है, परन्तु लगता यही है कि ये अष्ट मूलगुण हैं।

विक्रम की 1016 शती में हुए सोमदेव ने भी यशस्तिलक के उपासकाध्ययन में भी इसी रूप में अष्ट मूलगुणों का उल्लेख मिलता है।17

मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदम्बरपंचकैः।
अष्टवेतेगृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतेः।।

आचार्य देवसेन ने भी अपने भावसंग्रह ग्रन्थ में ये ही अष्ट मूलगुण बताये हैं।[18]

अहिंसाव्रत का वर्णन करते हुए सुभाषितसन्दोह में अमितगति आचार्य ने श्रावक को मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलों का त्याग करना आवश्यक बताया है।[19] पद्मनन्दि पंचविंशतिका में भी ये ही मूलगुण बतलाये गये हैं।[20] सावयधम्मदोहा में मद्य, मांस और मधु तथा पांच उदुम्बरों के त्याग को अष्टमूलगुण कहा है। इसमें यह भी बतलाया गया है कि अष्टमूलगुणों का पालन करो तथा पानी छान कर पियो।[21]

पं0 आशाधर जी ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के ग्रन्थों का मन्थन करने के बाद ही सागारधर्मामृत ग्रन्थ की रचना की है अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र एवं महापुराणकार मान्य अष्टमूलगुणों को ही उद्धृत किया है। वे लिखते है कि गृहस्थ को सर्वप्रथम जिनागम पर श्रद्धा रखते हुए हिंसा से विरत होने के लिए मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलों का त्याग करना चाहिए।[22] मद्य का त्याग, मांस का त्याग, रात्रि भोजन का त्याग, पांच उदुम्बर फलों का त्याग, त्रिकाल वन्दना, जीव दया और छना पानी का उपयोग ये अष्ट मूलगुण भी शास्त्रों में कहे गये हैं।[23] आचार्य शिवकोटि ने रत्नमाला में कहा है मद्य, मांस, मधु का त्याग तथा

पांच अणुव्रत पुरुषों के मूलगुण हैं।पांच उदुम्बर के साथ अष्टमूलगुण तो बच्चों के लिए हैं।[24] पंचाध्यायी में लिखा है कि व्रतधारी गृहस्थों के आठ मूलगुण होते हैं। कहीं कहीं अव्रतियों के भी होते हैं, क्योंकि ये सर्वसाधारण हैं। ये आठ मूल स्वभाव से या कुल परम्परा से चले आये हैं। इनके विना न सम्यक्त्व होता है और न व्रत। इनके विना जीव नाम से भी श्रावक नहीं हो सकता। तब पाक्षिक, नैष्ठिक या साधक की तो बात ही क्या है। जिसने मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलों का त्याग कर दिया है, वह नाम से श्रावक है और जिसने त्याग नहीं किया है, वह नाम से भी श्रावक नहीं है।[25]

श्रावक की एकादश प्रतिमाएं

जैन आचार मीमांसा में ग्यारह प्रतिमाओं के रूप में व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास के लिए ग्यारह सोपान हैं।[26] समन्तभद्र की दृष्टि में ये अरहन्त द्वारा प्रणीत श्रावक के ग्यारह पद हैं, जिन्हें पूर्व पूर्व गुणों के साथ अपने अपने गुणों का पालन करते हुए क्रमशः बढ़ाया जाता है।[27] प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, नियमविशेष, तपविशेष या व्रत विशेष भी किया जा सकता है। वस्तुतः प्रतिमाएं तपःसाधन की कमशः बढ़ती हुई अवस्थायें हैं।

अतः उत्तर उत्तर प्रतिमाओं में पूर्व पूर्व प्रतिमाओं के गुण स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। जब अन्तिम प्रतिमा का पालन किया जता है तब उसमें आरम्भ से अन्त तक समस्त प्रतिमाओं के गुण रहते हैं। उसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार चाहे वह मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण करे चाहे उसी प्रतिमा को धारण किये रह सकता है।[28]

श्रावक के बारह व्रतों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि वह धर्म सभी को सब कालों में पालन करना सम्भव नहीं है। इसलिए परिस्थितियां, सुविधाओं तथा व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति के अनुसार श्रावक के ग्यारह पद नियत किये गये हैं, जिन्हें प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमा के भेद

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोंनो ही सम्प्रदाओं में प्रतिमाओं की संख्या ग्यारह ही मानी गयी है। परन्तु उनके नाम में थोड़ा अन्तर है, जो निम्न प्रकार है –

दिगम्बर	श्वेताम्बर
1. दर्शन प्रतिमा	1. दर्शन
2. व्रत प्रतिमा	2. व्रत
3. सामायिक प्रतिमा	3. सामायिक
4. प्रोषध प्रतिमा	4. प्रोषध
5. सचित्तत्याग	5. नियम
6. रात्रिभुक्ति त्याग	6. ब्रह्मचर्य
7. ब्रह्मचर्य	7. सचित्तत्याग
8. आरम्भ त्याग	8. आरम्भ त्याग
9. परिग्रह त्याग	9. प्रेष्य त्याग
10. अनुमति त्याग	10. उद्दिष्ट त्याग
11. उद्दिष्ट त्याग	11. श्रमणभूत

स्पष्ट है कि दोनों मान्यताओं में प्रारम्भिक चार नामों में कोई अन्तर नहीं है। कुछ में मात्र कम बदल गया है। श्वेताम्बराभिमत श्रमणभूत प्रतिमा दिगम्बराभिमत उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है क्योंकि इन दोंनो में श्रावक का आचरण भिक्षुवत् रहता है। क्षुल्लक और ऐलक श्रमण के ही समान होते हैं।[29] दिगम्बर परम्परा में सर्वप्रथम प्रतिमाओं के नामों का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने चारित्र प्राभृत में किया है।[30] इसके बाद आचार्य समन्तभद्र ने ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तृत विवेचन रत्नकरण्डश्रावकाचार के सातवें परच्छेिद में किया हैं। प्राकृत पंचसंग्रह के 1/116 में, बारस अणुवेक्खा 69, गोमट्टसार जीवकाण्ड 476, वसुनन्दि श्रावकाचार तथा

महापुराण में भी प्रतिमाओं का वही कम उल्लिखित है, जो कुन्दकुन्द द्वारा निर्धारित किया गया है। मात्र सोमदेव ने अपने उपासकाध्ययन में तीसरी प्रतिमा का नाम अर्चा दिया है। अर्चा का अर्थ है पूजा। सोमदेव ने प्रतिमाओं में पूजा पर विशेष जोर दिया है।

पांचवीं प्रतिमा का नाम आरम्भ त्याग और आठवीं प्रतिमा का नाम सचित्त त्याग दिया है।[31]

सोमदेव ने प्रतिमाओं के पालन करने वालों को तीन भागों में बांटा है यथा – प्रथम छह प्रतिमा वालों का गृही, आगे की तीन प्रतिमा वालों को ब्रह्मचारी तथा अन्तिम दो प्रतिमा वालों को पूर्ण यति कहा है।[32] पं० आशाधर जी ने भी सोमदेव के श्लोकों को उद्धृत करते हुए उसी परम्परा को नाम बदलते हुए स्वीकार किया है।[33] समन्तभद्र के उत्तरवर्ती श्वेताम्बर आचार्य हेमचन्द ने भी योगशास्त्र में प्रतिमाओं का विवेचन किया है, पर प्रथम प्रतिमा से ग्यारहवीं प्रतिमा तक के लिए मात्र 69 मास का समय निर्धारित किया है, उसके बाद मुनिपद ही धारण करना होता है।[34] यहां ग्यारह प्रतिमाओं का विशेष विवरण प्रस्तुत है।

1. दर्शन प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार दार्शनिक श्रावक सम्यग्दृष्टि होता है। संसार शरीर और भोगों से विरक्त होता है। पंचपरमेष्ठी का भक्त होता है और तत्त्वपथ अर्थात् अष्टमूलगुणों का धारक होता है।[35]

स्वामी कार्तिकेय ने लिखा हे कि जो त्रस जीवों से युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओं का कभी भी सेवन नहीं करता, वह दार्शनिक है।[36] वसुनन्दि लिखते हैं कि जो सम्यग्दृष्टि पांच उदुम्बर और सात व्यसनों का त्याग कर देता है, वह दार्शनिक श्रावक है।[37] पं० सागारधर्मामृत और लाटीसंहिता में दार्शनिक श्रावक के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया गया है।

2. व्रत प्रतिमा

व्रत प्रतिमा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि जो शल्य रहित होकर अतिचार रहित पांच अणुव्रत और चार शीलव्रतों को

धारण करता है, उसे व्रती, व्रत प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं।[38] वसुनन्दि लिखते हैं कि पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पालन द्वितीय स्थान अर्थात् व्रत प्रतिमा में होता है।[39] पं0 आशाधर जी ने लिखा है कि जिसका सम्यग्दर्शन और मूलगुण परिपूर्ण हैं, जो माया, मिथ्यात्व और निदान रूप तीन शल्यों से रहित है और इष्ट विषयों में राग एवं अनिष्ट विषयों में द्वेष को दूर करने रूप साम्यभाव की इच्छा से निरतिचार उत्तरगुणों को विना किसी कष्ट के धारण करता है, वह व्रतिक होता है।[40]

3. सामायिक प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र सामायिक प्रतिमा का वर्णन करते हुए लिखते है कि तीन वार चतुरावर्त करके, चार प्रणाम करके जात रूप में स्थित होकर दो आसनों से, त्रियोग से शुद्ध होकर जो तीनों सन्ध्याओं में अभिवन्दन करता है, वह सामायिक श्रावक कहलाता है[41] अर्थात् मन, वचन और काय को शुद्ध करके जो तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।

वसुनन्दि लिखते हैं कि जो शुद्ध होकर जिनमन्दिर में या अपने घर में जिनविम्ब के सम्मुख या अन्य पवित्र स्थान में पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर मुख करके प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओं में जिनधर्म, जिनवाणी, जिनविम्ब, जिनालय और परमेष्ठी की वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमाधारी है।[42] जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, संयोग वियोग, तृण कंचन आदि में समबुद्धि रखता है तथा पंच नमस्कार मंत्र को धारण करता है, अष्ट प्रातिहार्य विशिष्ट जिनविम्ब, सिद्ध परमात्मा या निजात्मा का ध्यान करता है, उसकी सामायिक उत्तम है।[43]

पं0 आशाधर ने लिखा है कि व्रत प्रतिमा में जो सामायिक को शीलरूप में कहा गया है, वही व्रत के रूप में धारण करने पर प्रतिमा रूप हो जाता है।[44] उन्होंने आगे लिखा है कि निरतिचार सम्यग्दर्शन तथा मूलगुण और उत्तरगुणों के समूह के अभ्यास से जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है, जो उपसर्ग आने पर भी तीनों सन्ध्याओं में साम्यभाव धारण करता है, वह श्रावक सामायिक प्रतिमा वाला होता है।[45]

4. प्रोषध प्रतिमा

समन्तभद्र के अनुसार प्रत्येक माह के चारों पर्व दिनों में अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रोषध का नियम लेने वाला शुभ ध्यान में तत्पर व्यक्ति प्रोषध प्रतिमाधारी कहलाता है।[46] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न में जिनमन्दिर में जाकर सामायिक करके चारों प्रकार के आहार का त्याग करके उपवास का नियम करले और घर का सम्पूर्ण कार्य छोड़कर रात्रि धर्म चिन्तवन पूर्वक व्यतीत करे। प्रातः उठकर कियाकर्म करके शास्त्रस्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशी का दिन बिताये। प्रातः उठकर सामायिक करे फिर पूजन करे और पात्रदान देकर भोजन करे, इसका नाम प्रोषधोपवास है।[47]

वसुनन्दि ने प्रोषधोपवास को तीन प्रकार का बतलाया है।[48] सामायिक और प्रोषधोपवास प्रतिमा में भी आते हैं और स्वतन्त्र रूप से शीलव्रतों में आते हैं। वसुनन्दि ने प्रोषध प्रतिमा का विस्तृत विवेचन किया है। पं० आशाधर जी ने लिखा है कि जो श्रावक दर्शन व्रत और सामायिक प्रतिमा में परिपूर्ण होता हुआ सोलह पहर तक प्रोषध की प्रतिज्ञा लेकर साम्यभाव से अर्थात् भावसामायिक से च्युत नहीं होता, वह प्रोषध प्रतिमा वाला है।[49]

प्रोषध प्रतिमा का धारी प्रोषधोपवास के काल में चारों प्रकार का आहार, स्नान, तेल, उबटन, गन्ध, पुष्प, विशिष्ट वस्त्र और सावद्य आरम्भ का सम्पूर्ण रीति से त्याग कर देता है। ब्रह्मचर्य का पालन करता है, शरीर आदि से ममत्व नहीं करता। अतः समीपवर्ती लोगों को वस्त्र से ढके हुए मुनि की तरह लगता है।

5. सचित्तविरत प्रतिमा

सचित्त विरत प्रतिमा का लक्षण समन्तभद्र ने बताया है कि जो कच्चे मूल फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, प्रसून और बीज को नहीं खाता, वह दयामूर्ति सचित्तविरत कहलाता है।[50] स्वामी कार्तिकेय लिखते हैं कि जो वस्तु स्वयं नहीं खाता वह दूसरों को नहीं खिलाना चाहिए क्योंकि खाने और खिलाने में कोई अन्तर नहीं है। अतः सचित्त का त्यागी दूसरों को भी सचित्तवस्तु नहीं खिला सकता है।[51]

वसुनन्दि ने लिखा है कि जो हरित् का, त्वक् का, छाल का, पत्र का, प्रवाल कोपल का, कन्द फल, बीज एवं अप्रासुक जल का त्याग करता है वह सचित्तत्याग प्रतिमा है।[52] आशाधर ने लिखा है कि पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का पालन करने वाला दयामूर्ति अप्रासुक हरित अंकुर, हरित बीज जल नमक आदि को नहीं खाता, उसे शास्त्रकारों ने सचित्तविरत श्रावक कहा है।[53] लाटी संहिता में सचित्तविरत प्रतिमा में सचित्त के भक्षण का नियम है, सचित्त के स्पर्श करने का नियम नहीं है। इसलिए अपने हांथ से उसे प्रासुक करके भोजन में ले सकता है।[54]

पांचवीं प्रतिमा के साधन में तत्पर जो श्रावक प्रयोजन वश हरित वनस्पति को पैर से छूने में भी अत्यन्त घृणा करता है, जिसमें अनन्तनिगोद नामक साधारण शरीर वनस्पतिकायिक जीवों का वास है, उस हरित वनस्पति को क्यों खायेगा, नहीं खायेगा।[55] स्वामी समन्तभद्र ने भोगोपभोग परिमाण के अतिचार अन्य रूप से कहे हैं। उनमें सचित्त भोजन नहीं है। इसलिए उन्होने हरित मूल, फल, शाक, शाखा आदि को न खाने को सचित्तविरत कहा है। इसमें वनस्पति के सभी प्रकार आ जाते हैं। किन्तु आशाधर जी की तरह उन्होंने जल, नमक आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है। आशाधर का सचित्तत्यागी अप्रासुक को छोड़ने वाला होता है, किन्तु समनतभद्र स्वामी के मत से केवल सचित्त वनस्पति का त्यागी होता है।

6. रात्रिभुक्तिविरत प्रतिमा

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में बताया गया है कि जो रात्रि में अन्नपान, खाद्य और लेह्य नहीं खाता प्राणियों पर अनुकम्पा रखने वाला वह रात्रिभुक्ति विरत कहलाता है।[56] कार्तिकेय के अनुसार जो रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देता है, वह रात्रिभुक्ति व्रती है। वसुनन्दि ने लिखा है कि मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनारूप नौ प्रकार से दिवस में मैथुन का त्याग करता है, उसे छठवीं प्रतिमा वाला श्रावक समझना चाहिए।[58] लाटीसंहिताकार लिखते हैं कि छठवीं प्रतिमा के पूर्व श्रावक रात्रि

में पानी पी लेता था पर अब पानी भी नहीं पीता, वह रात्रि में गन्ध, लेप और माला आदि का भी उपयोग नहीं कर सकता, रोगादि की शान्ति हेतु मालिश आदि भी नहीं कर सकता है। इसमें रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग रूप पूर्व प्रतिमा की तरह दिन में मैथुन का सर्वथा त्याग होता है।[59] पं0 आशाधर के अनुसार पूर्वोक्त पांच प्रतिमाओं के नियमों में पूरी तरह परिपक्व होकर स्त्रियों से वैराग्य के निमित्तों में एकाग्र मन होता हुआ मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से दिन में स्त्री का सेवन नहीं करता वह रात्रिभुक्तविरत होता है।[60] उनके अनुसार जितेन्द्रिय पुरुष रात्रि में भी, रजोदर्शन से आगे के चतुर्थ दिन के अनन्तर ही स्त्री का सेवन करते हैं, वह भी मात्र सन्तान उत्पत्ति हेतु। पर्व के दिनों में भी स्त्री सेवन नहीं करते हैं।[61]

7. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि जो शरीर को मलबीज, मलयोनि, मलप्रवाही, पूतिगन्धि, बीभत्स अंग को देखता हुआ अनंग से विरक्त होता है, वह ब्रह्मचारी है।[62] वसुनन्दि के अनुसार जो सदा मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना पूर्वक नौ प्रकार के मैथुन का त्याग करता है और स्त्रियों से सम्बन्ध वाली कथा के सुनने से दूर रहता है, उसका त्याग का देता है, वह सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक है।[63]

पं0 आशाधर की दृष्टि में जो छह प्रतिमाओं का पालन करने वाला श्रावक मन, वचन एवं काय से मानर्वा, दैवी, तिर्यंची और उनके समान स्त्रियों के सेवन का रात्रि या दिन में त्याग करता है, वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्म का मतलब है चारित्र, आत्मा, ज्ञान आदि अर्थात् निश्चय से तो आत्मा में रमण करने वाला ही ब्रह्मचारी है और व्यवहार में जो सब स्त्रियों के सेवन का त्यागी है, वह ब्रह्मचारी है।[64] स्त्रियों से मतलब केवल मनुष्य जातीय स्त्रियां नहीं वल्कि देवांगना और पशु जाति की स्त्रियां और उनकी पत्थर, काष्ठ आदि में अंकित मूर्तियां भी ली जाती हैं। उनका सेवन केवल काय से नहीं, मन, वचन से भी नहीं होना चाहिए।[65]

8. आरम्भत्याग प्रतिमा

हिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापार आदि के त्याग को समन्तभद्र ने आरम्भ त्याग प्रतिमा कहा है।[66] कार्तिकेय के अनुसार जो न स्वयं आरम्भ करता है और न कराता है और न उसकी अनुमोदना करता है, वह आरम्भ त्यागी है।[67] वसुनन्दि लिखते हैं कि जो कुछ भी गृह सम्बन्धी आरम्भ है, उसका जो त्याग कर देता है, वह आरम्भ त्यागी है।[68] पं० आशाधर सागारधर्मामृत में लिखते हैं कि पूर्व की सात प्रतिमाओं का पूर्ण पालन करने वाला श्रावक प्राणियों की हिंसा के कारण खेती नौकरी आदि आरम्भों को मन, वचन, काय से न स्वयं करता हे और न दूसरों से कराता है, वह आरम्भविरत है।[69] लाटीसंहिता के अनुसार आठवीं प्रतिमा से पहले अपने हांथ से सचित्त का स्पर्श करता था किन्तु आठवीं प्रतिमा में सचित्त द्रव्य को अपने हांथ से नहीं छूता। यह श्रावक यद्यपि अपने कुटुम्ब में रहता है परन्तु मुनि की तरह जो कुछ भी तैयार मिलता है, उसे लेता है। प्रासुक जल से अपने वस्त्र स्वयं धो लेता है या किसी साधर्मी से धुलवा लेता है।[70]

9. परिग्रहत्याग प्रतिमा

नववीं प्रतिमा का वर्णन करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि जो दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों से ममत्व को छोड़कर निर्ममत्वरत स्वस्थ और सन्तोषधारण करता है, उसे परिमित परिग्रह विरत कहते हैं।[71] वसुनन्दि के अनुसार वस्त्र मात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा नहीं रखना, नवमी प्रतिमाधारी श्रावक है।[72] पं० आशाधर जी के अनुसार जिसका दर्शन आदि प्रतिमा के व्रतों से सन्तोष बढ़ा हुआ है, वह आरम्भविरत श्रावक है। ये मेरे नहीं हैं, और न मैं इनका हूं ऐसा संकल्प करके मकान, खेत आदि परिग्रहों को जो छोड़ देता है, उसे परिग्रह विरत कहते हैं।[73] उन्होंने यह भी कहा है कि तत्वज्ञान से सम्पन्न नवम् प्रतिमाधारी श्रावक समस्त चेतन अचेतन परिग्रह को छोड़कर, ममत्वभाव से होने वाली संयम सम्बन्धी शिथिलता को दूर करने के लिए उपेक्षा का चिन्तन करता हुआ कुछ समय घर में रहे।[74] चारित्रसार में कहा गया है कि जो परिग्रह क्रोधादि कषायों को आर्त और रौद्रध्यान, हिंसा आदि पांच पापों को भय की भूमिका मानता है, धर्मध्यान

और शुक्लध्यान का घातक मानकर दश प्रकार के बाह्य परिग्रह से निवृत्त सन्तोषी श्रावक परिग्रह त्यागी होता है।[75] लाटीसंहिता के अनुसार नवमी प्रतिमा के पूर्व श्रावक सुवर्ण आदि का परिग्रह घटाता जाता है, किन्तु नवमी में उसे सर्वथा त्याग देता है। अपने शरीर के लिए वस्त्र मकान तथा धर्म के साधन मात्र रखकर शेष सबका त्याग कर देता है। पहले अपनी सम्पत्ति का स्वामी था पर अब इस प्रतिमा में सबका जीवन पर्यन्त के लिए त्यागकर निःशल्य हो जाता है।[76]

10. अनुमतित्याग प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र ने बताया है कि जिसके खेती आदि के आरम्भ में, परिग्रह में अथवा इस लोक सम्बन्धी कार्यों में अनुमोदना नहीं है, वह समान बुद्धि का धारी श्रावक अनुमतित्याग प्रतिमा का धारी माना गया है।[77] वसुनन्दि ने लिखा है कि जो अपने घर वालों का या अन्य किसी के द्वारा पूछे या न पूछे जाने पर अपने घर के कार्य में अनुमति नहीं देता है, उस श्रावक को दशवीं प्रतिमा वाला जानना चाहिए।[78] आशाधर के अनुसार जो श्रावक धन धान्य आदि परिग्रह, कृषि आदि आरम्भ और इस लोक सम्बन्धी विवाह आदि कर्म में मन, वचन, काय से अनुमति नहीं देता है, वह अनुमतिविरत है।[79] इस प्रतिमा के धारी को मन्दिर में बैठकर स्वाध्याय करना चाहिए और बुलाने पर धार्मिक के घर भोजन आदि को जाना चाहिए।[80] लाटीसंहिताकार के अनुसार दशवीं प्रतिमा तक श्रावक का कोई विशेष भेष नहीं होता। चोटी, जनेऊ जो चाहे रख सकता है, न चाहे तो नहीं रखे।[81]

11.उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा

आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि में जो श्रावक घर को त्याग कर मुनियों के पास वन में जाकर गुरु के समक्ष व्रत धारण करके भिक्षा भोजन करे, तपस्या करे और खण्ड वस्त्र धारण करे, वह उद्दिष्ट त्यागी श्रावक है।[82] वसुनन्दि के अनुसार ग्यारहवीं प्रतिमा पालक श्रावक उत्कृष्ट श्रावक है। वह दो प्रकार का होता है– प्रथम एक वस्त्र धारण करने वाला और दूसरा

कोपीन मात्र परिग्रह धारण करने वाला।[83] आशाधर लिखते हैं कि उन उन व्रत रूपी अश्वों के द्वारा पूरी तरह से छिन्न भिन्न किये जाने पर भी जिसका मोहरूपी महान् वीर किंचित् जीवित है, वह उत्कृष्ट अन्तिम श्रावक अपने उद्देश्य से बने भोजन को भी छोड़ दे।[84] चारित्रसार में लिखा है कि उद्दिष्टविरत श्रावक अपने उद्देश्य से बनाये गये भोजन, उपधि, शयन, वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करता, वह एक शाटक धारण करता है, भिक्षा भोजी है, बैठकर हस्तपुट में भोजन करता है। रात्रि प्रतिमा आदि तप तपता है, आतापन योग आदि नहीं करता।[85] अमितगति श्रावकाचार में प्रतिमाओं का साधारण कथन किया गया है, परन्तु षडावश्यकों के वर्णन के बाद कहा गया है कि उत्कृष्ट श्रावक वैराग्य की परम भूमि और संयम का घर होता है। वह सिर, दाढ़ी और मुंह के वालों का मुण्डन कराता है। केवल लंगोटी या वस्त्र के साथ लंगोटी रखता है। एक ही स्थान पर अन्न जल ग्रहण करता है। वह पात्र हांथ में लेकर धर्मलाभ कहकर घर घर से भिक्षा मांगता है। इस प्रकार अमितगति के अनुसार उत्कृष्ट श्रावक या तो एकमात्र लंगोटी रखे या वस्त्र के साथ लंगोटी रखे।[86]

वसुनन्दि ने इसी आधार पर उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद किये हैं– एक वस्त्रधारी दूसरा कोपीनधारी। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक छुरे आदि से हजामत बनवाता है। उपकरणों का ध्यान रखता है। बैठकर हाथ में या बर्तन में एक बार भोजन करता है। पर्व में नियम से उपवास करता है।[87] दूसरा श्रावक भी उपर्युक्त कियायें करता है, पर वह केशलुंच करता है, पीछी रखता है और हांथ में भोजन करता है। इन उत्कृष्ट श्रवकों को मुनि की वृत्ति से अपनी समस्त कियायें करने का सिद्धान्त अर्थात् सूत्ररूप परमागम का और प्रायश्चित शास्त्र के अध्ययन का अधिकार नहीं है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में समन्तभद्र ने इन सभी बातों पर कोई भी विचार प्रस्तुत नहीं किया है। उत्तरवर्ती आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में इसका विस्तार से वर्णन किया है। पं० आशाधर जी ने अपने सागारधर्मामृत में इन सब बातों को वसुनन्दि से लिया है। लाटीसंहिताकार ने वसुनन्दि श्रावकाचार की गाथा उद्धृत करके उद्दिष्ट त्यागी श्रावक के क्षुल्लक

और ऐलक दो भेद बतलाये हैं और विस्तार से दोनों की विधियों का वर्णन किया है। उक्त ग्यारह प्रतिमाओं में प्रथम छः प्रतिमाओं तक के नियमों के पालन करने वाले को जघन्य श्रावक कहा जाता है, उन्हें गृहस्थ कहते हैं। सातवीं, आठवीं एवं नवमी प्रतिमा वाले को मध्यम श्रावक कहते हैं। शेष दो प्रतिमा वाले को उत्कृश्ट श्रावक या भिक्षु कहते हैं।

निष्कर्ष

अष्ट मूलगुणों का पालन करने वाला श्रावक ही जैन कहलाने का अधिकारी है। मूलगुणों में पांच अणुव्रत भी समाहित हैं। प्रतीत होता है कि स्मृतियों में मद्य, मांस, मधु के समर्थन के कारण इनके त्याग को ही जैनाचार्यों ने जैनाचार का आधार बनाया है। वस्तुतः जिनभगवान् के चरणों की शरण में आये हुए मनुष्यों को त्रस हिंसा से बचने के लिए मधु और प्रमाद से बचने के लिए मद्य का त्याग करना आवश्यक है।[89] मद्य मन को भ्रमित कर देता है, जिससे व्यक्ति धर्म को भूलकर, निःशंक हिंसा करता है।[90] तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने अपने ग्रन्थों में मूलगुणों का उल्लेख किया है। जटासिंहनन्दि आदि आचार्यों ने भी इन्हीं का अनुकरण किया है। समन्तभद्र के पश्चात् स्पष्ट रूप में मूलगुणों का उल्लेख करने वाले चामुण्डराय आशाधर, अमृतचन्द सूरि, सोमदेव आदि आचार्य हैं। ग्यारह प्रतिमाएं जैन आचार की वह अपूर्व निधि है, जिसमें बताया गया है कि साधारण व्यक्ति कैसे अपना कमिक विकास करता हुआ भगवान बन सकता है।

सन्दर्भ

1. रत्न0 66
2. चा0पा0 21
3. वहीं, 22, 23
4. वहीं, 24–27
5. त0सूत्र 7
6. व0च0 सर्ग 22
7. प0पु0 14.202
8. वहीं, 14.277
9. हरिवंशपुराण, 18.45–48
10. वहीं, 10.7,8
11. कार्ति0 328
12. वसुनन्दिश्रावकाचार, 205
13. वहीं, 70–79
14. चारित्रसार, पृ0 62
15. सा0ध0अध्याय 2 पृष्ठ 64
16. पु0सि0 61.74
17. उपा0 270
18. भावसंग्रह, गाथा, 356
19. सुभाषितरत्न संदोह, 765
20. पंचविंशतिका, 6.23

21. सावयधम्मदोहा, 22, 26
22. सा0ध0 2.2, 3
23. वहीं, 2.18
24. रत्न0
25. पंचाध्यायी, 723–726
26. रत्न0 136–147
27. वहीं, 136
28. मेहता, मोहनलाल, जैनधर्म दर्शन पृष्ठ 560
29. वहीं, पृ0 264, 265
30. चारित्रपाहुड, 21
31. उपा0 853, 854
32. वहीं, 856
33. सा0ध0 3.2, 3
34. योगशास्त्र टीका, 3.148
35. रत्न0 137
36. कार्ति0 328
37. वसुनन्दि श्रावकाचार, 57
38. रत्न0 138
39. वसुनन्दि, श्राव0 207
40. सा0ध0 4.1
41. रत्न0 139
42. वसुनन्दि, श्राव0 274, 275
43. वहीं, 276, 278
44. सा0ध0 टीका 7.1
45. वहीं,
46. रत्न0 140
47. कार्ति0 373–376
48. वसुनन्दि, श्राव0 280
49. सा0ध0 7.9
50. रत्न0 141
51. कार्ति0 380
52. वसुनन्दि, श्राव0 292
53. सा0ध0 7.8
54. लाटीसंहिता, 7.17
55. सा0ध0 7.9
56. रत्न0 142
57. कार्ति0 81
58. वसुनन्दि, श्राव0 296
59. लाटीसंहिता, 6.19, 20
60. सा0ध0 7.12
61. वहीं, 7.14
62. रत्न0 145
63. वसुनन्दि, श्राव0 297
64. सा0ध0 7.16
65. वहीं, टीका, 7.16
66. रत्न0 144
67. कार्ति0 385
68. वसुनन्दि, श्राव0 298
69. सा0ध0 7. 21
70. लाटीसंहिता, 32
71. रत्न0 145
72. वसुनन्दि, श्राव0 299
73. सा0ध0 7.23
74. वहीं, 7.29
75. चारित्रसार, पृष्ठ 19
76. लाटीसंहिता, 7.39–42
77. रत्न0 146
78. वसुनन्दि, श्राव0 300
79. सा0ध0 7.30
80. वहीं, 7.31
81. लाटीसंहिता, 125
82. रत्न0 147
83. वसुनन्दि, श्राव0 301
84. सा0ध0 7.37
85. चारित्रसार, पृष्ठ 19
86. अमितगति श्राव0 8.73–75
87. वसुनन्दि, श्राव0301–303
88. मनुस्मृति, 27–44
89. रत्न0 84
90. पु0सि0

❑❑❑

चतुर्थ अध्याय

आप्तमीमांसा अनुशीलन

परिच्छेद प्रथम

आप्तमीमांसा की विषयवस्तु का विश्लेषण

प्रस्तुत परिच्छेद में आप्तमीमांसा की विषयवस्तु का ग्रन्थ की कारिका अनुक्रम के अनुसार विश्लेषण किया गया है। यद्यपि इस विश्लेषण में यत्र तत्र विभिन्न मतावलम्बियों एवं उनके मतों का नामोल्लेख किया गया है, पर समन्तभद्र ने किसी भी मतावलम्बी का अपने ग्रन्थ में नाम नहीं लिया है। मूल सामग्री के साथ उसका विश्लेषण करना इसलिए आवश्यक था कि जिससे विषयवस्तु अधिक स्पष्ट हो सके तथा मूल विषयवस्तु के आधार पर कृति का वास्तविक समय निर्धारण आदि में भ्रम की स्थिति उत्पन्न न हो।

आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने प्रथम छह कारिकाओं में आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम आचार्य ने आप्तता के हेतुओं पर विचार किया है। तदनुसार बाह्य विभूतियों के आधार पर आप्तता का निर्धारण नहीं हो सकता। देवों का आना, आकाश में गमन तथा चंवर आदि विभूतियां आप्तता को सिद्ध नहीं कर सकती क्योंकि ये इन्द्रजाल आदि जानने वाले मायावियों में भी पायी जाती हैं।[1]

इसी प्रकार अन्तरंग और बाह्य अतिशय सत्य होते हुए भी वे आप्तता को सिद्ध नहीं कर सकते। जैसे देवों का शरीर दिव्य होता है। उनका अन्य वैभव भी वास्तविक होता है तथापि देव राग द्वेष आदि से युक्त होते हैं। अतएव अन्तरंग और बाह्य अतिशय भी आप्तता को सिद्ध नहीं कर सकते।[2]

समन्तभद्र के आद्य भाष्यकार भट्ट अकलंक ने आप्तमीमांसा भाष्य में उपर्युक्त हेतुओं का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि देवागम, नभोयान, चामरादि विभूतियों का आप्तता का हेतु मानने पर वह हेतु आगमाश्रित हो जाता है। इसलिए इस हेतु से आप्तता की सिद्धि नहीं की जा सकती।[3]

समन्तभद्र के द्वितीय भाष्यकार आचार्य विद्यानन्द ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए **मष्करी** का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि इसके मत को मानने वाले बाह्य विभूतियों को ही आप्तता का हेतु मानते थे।[4] इसी प्रकार द्वितीय कारिका के भाष्य में अकलंक ने अन्तरंग और बाह्य अतिशयों को आप्तता का हेतु मानने पर उसे व्यभिचारी हेतु कहा है। अकलंक ने यहां **पूरणादिषु** कहकर **पूरणकश्यप** के साथ अन्य एकान्तवादियों की ओर भी संकेत किया है।[5] यह उल्लेख ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। महावीर के समकालीन जिन पांच अन्य तीर्थंकरों के उल्लेख पालित्रिपिटक तथा अर्द्धमागधी आगमों में उपलब्ध होते हैं, उनमें पूरणकष्यप भी है। उनके मतानुयायी भी विभूतियों को आप्तता का हेतु मानते थे, ऐसा अकलंक के कथन से स्पष्ट होता है। समन्तभद्र ने आप्तता के तीसरे हेतु पर विचार करते हुए लिखा है कि तीर्थकरत्व आप्तता का हेतु नहीं हो सकता कयोंकि विभिन्न तीर्थ प्रवर्तकों के मतों में परस्पर विरोध देखा जाता है। यदि सभी में आप्तता मानी जाये तो उनके मतों में विरोध नहीं होना चाहिए, जब विरोध है तो आप्तता का हेतु तीर्थकरत्व नहीं हो सकता।[6]

आप्तमीमांसा के भाष्यकार अकलंक ने लिखा है कि आप्तता सिद्ध करने के लिए दिया गया तीर्थकरत्व हेतु अनैकान्तिक है।[9] क्योंकि देवों या इन्द्रादिकों में तीर्थकरत्व नहीं पाया जाता, सुगत अर्थात् बुद्ध आदि में पाया जाता है क्योंकि उन्होंने बौद्धधर्म का प्रवर्तन किया।

विद्यानन्द ने भी अपनी अष्टसहस्री में कुमारिल को उद्‌धृत करते हुए लिखा है कि अगर सुगत को सर्वज्ञ माना जाये तो कपिल को सर्वज्ञ क्यों नहीं माना जाता और यदि दोनों को सर्वज्ञ माना जाता है तो दोनों में मतभेद क्यों।[10]

इस प्रकार सर्वज्ञ को मानने वाले बौद्ध, सांख्य आदि सम्प्रदायों में परस्पर विरोध होने के कारण बुद्ध, कपिल आदि सभी न तो सर्वज्ञ हो सकते हैं और न कोई एक ही। किसी एक को सर्वज्ञ मानने में और दूसरे

को सर्वज्ञ न मानने में कोई युक्ति नहीं है। सर्वज्ञ को न मानने वाले मीमांसक, चार्वाक आदि सम्प्रदाय भी परस्पर में विरोधी होने के कारण युक्ति संगत नहीं हैं। इसलिए अर्हन्त भगवान ही दोषों और आवरणों की अत्यन्त हानि होने से और समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने के कारण संसारी प्राणियों के प्रभु हैं।

आप्तता के हेतुओं पर विचार करते हुए समन्तभद्र लिखते हैं कि कोई एक विशिष्ट व्यक्ति ही आप्त हो सकता है। उपर्युक्त कारणों से आप्तता को सिद्ध नहीं कर सकते। किसी पुरुष विशेष में दोष और आवरण की पूर्ण हानि में अतिशय देखा जाता है जैसे खान से निकाले हुए सोने आदि में कीट आदि बहिरंग और कालिमा आदि अन्तरंग मल रहता है किन्तु अग्नि में तपाने आदि के कारण उसमें अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के मलों का नाश हो जाता है।[11] समन्तभद्र के इन विचारों को अकलंक और विद्यानन्द ने अपनी व्याख्याओं में और अधिक स्पष्ट किया है। समन्तभद्र द्वारा दिये गये हेतुओं में सिद्ध साधन अनैकान्तिकता आदि दोष बताये जा सकते हैं जिनका अकलंक ने और विद्यानन्द ने विस्तार से निराकरण किया है। उनके अनुसार साध्य को ठीक से न समझने के कारण ही सिद्ध साधनता का प्रश्न उठाया जा सकता है। वास्तव में यहां दोष और आवरण की हानि अभीष्ट है किसी एक की नहीं क्योंकि दोनों में कार्य कारण सम्बन्ध है तथा दोनों क्रमशः दो विभिन्न द्रव्यों जीव और पुद्गल के स्वभाव हैं। अनैकान्तिकता का दोष उपस्थित करना भी उचित नहीं क्योंकि मीमांसा दर्शन का कथन है कि दोष और आवरण की निःशेष हानि के साथ बुद्धि की भी निःशेष हानि हो जाती है! परन्तु उक्त कथन तर्क संगत नहीं है क्योंकि बुद्धि जीव का स्वाभाविक परिणाम है। पर्याय की दृष्टि से जो बुद्धि आगन्तुक रूप में होती है उसका तो व्यय अवश्य होता है किन्तु जो जीव के स्वाभाविक परिणाम रूप है, उसका कभी भी क्षय नहीं होता।

इस क्रम में समन्तभद्र अनुमान प्रमाण द्वारा भी व्यक्ति विशेष में सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं। जैसे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी व्यक्ति विशेष के प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि वे अनुमेय हैं यथा अग्नि आदि

अनुमेय हैं, वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं। अतः व्यक्ति विशेष में सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।[12] अकलंक और विद्यानन्द ने अपने अष्टशती और अष्टसहस्री भाष्यों में इस हेतु पर भारतीय दार्शनिको के सन्दर्भ मे विशेष विचार किया है। यथा – जिनका स्वभाव इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता उनको सूक्ष्म विप्रकृष्ट कहते हैं जैसे परमाणु आदि। अतीत और अनागत कालवर्ती पदार्थों को अन्तरित कहते हैं जैसे राम रावण आदि। जिनका देश दूर है उनको दूरार्थ कहते हैं जैसे सुमेरु पर्वत आदि।

सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नही हो सकता है क्योंकि इन्द्रियां केवल स्थूल वर्तमान और निकटवर्ती अर्थ को जानती हैं। अतः हम परमाणु आदि का ज्ञान अनुमान प्रमाण से करते हैं। परमाणु की सत्ता है। यदि परमाणु न होते तो घट आदि कार्यों की उत्पत्ति कैसे होती, इस प्रकार के अनुमान से परमाणु का ज्ञान किया जाता है। जिन पदार्थों का ज्ञान अल्पज्ञ प्राणी अनुमान से करते हैं, उनको प्रत्यक्ष जानने वाला भी कोई पुरुष होना चाहिए। ऐसा देखा जाता है कि जो पदार्थ अनुमान से जाने जाते हैं, वे पदार्थ प्रत्यक्ष से भी जाने जाते हैं। जैसे दूरवर्ती पुरुष पर्वत में स्थित अग्नि को **पर्वतोऽयं बह्निमान् धूमवत्त्वात्** अर्थात् इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि वहां धूम का सद्भाव है, यह अनुमान से जानता है तो पर्वत पर रहने वाला पुरुष उसे प्रत्यक्ष से जानता है। ऐसा कहीं नही है कि पर्वत में जिस अग्नि को दूरवर्ती पुरुष अनुमान से जानता है, उसको प्रत्यक्ष से जानने वाला कोई न हो । यही बात परमाणु आदि के विषय में भी है। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को हम अनुमान से जानते हैं। अतः कोई न कोई पुरुष ऐसा अवश्य होगा, जो उसे प्रत्यक्ष जानता है, उन पदार्थों को साक्षात् जानने वाला जो पुरुष है, वही सर्वज्ञ है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

मीमांसक का कथन है कि सर्वज्ञ की सिद्धि करने वाला कोई प्रमाण नहीं है किन्तु **सूक्ष्मान्तिरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्** इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होने के कारण मीमांसक का कथन ठीक नही है। आचार्य समन्तभद्र अनुमान से सर्वज्ञ सिद्धि करने के बाद कहते हैं[13] कि

अर्हन्त ही वीतराग तथा सर्वज्ञ हैं क्योंकि उनके वचन युक्ति और आगम से अविरोधि हैं और इष्टतत्त्व मोक्षादि में किसी प्रमाण से बाधा नहीं आती है। अर्हन्त ने मुख्यतः चार तत्त्वों का उपदेश दिया है – 1. मोक्ष 2. मोक्ष के कारण 3. संसार 4. संसार के कारण।[14]

आप्तमीमांसा में बताया गया है कि जिन एकान्तवादियों ने अनेकान्तवाद को समझा नहीं है, उसके स्वरूप का आस्वाद नहीं लिया है और वस्तु तत्त्व को सर्वथा एकान्त रूप से मानते हुए स्वयं को आप्त मान रहे हैं ऐसे अभिमानी व्यक्तियों का मत प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है। – कारिका, 7

संसार में कई तरह के लोग हैं कुछ क्षणिकैकान्तवादी हैं, कोई नित्यैकान्तवादी हैं, कोई शब्द मात्र को ही तत्त्व मानते हैं, कोई ब्रह्ममात्र को सत्ता मानते हैं, कोई शून्यवादी हैं आदि। परन्तु जब इन एकान्तों की परीक्षा की जाती है तो उनमें प्रत्यक्ष से बाधा आती है। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह भलीभांति प्रतीत होता है कि कोई भी तत्त्व एक धर्मात्मक नहीं हैं, किन्तु अनेक धर्मात्मक हैं।

आप्त के स्वरूप का विवेचन करने के बाद समन्तभद्र ने कारिका कमांक आठ से बाईस तक एकान्तवादों के अन्तर्गत भावैकान्त, अभावैकान्त एवं उभयैकान्त रूप एकान्तवादों का विवेचन करके उन्हें सदोष सिद्ध करते हुए स्याद्वाद से वस्तु को अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव और अभाव रूप विरोधी युगल को लेकर उसे सप्तभंगात्मक सिद्ध किया है। उनके अनुसार वस्तु तो अनन्तधर्मात्मक है परन्तु जो एकान्तवादी अनन्त धर्मों में से किसी एक ही धर्म को मानते हैं वे अपने भी शत्रु हैं और दूसरे के भी शत्रु हैं। उनके यहां पुण्य कर्म एवं पाप कर्म तथा परलोक आदि कुछ भी नहीं बन सकते हैं।–8

सांख्य आदि जो तत्त्व को भाव रूप ही मानते हैं, ऐसे सिद्धान्तों के प्रति समन्तभद्र का कहना है कि एकान्त रूप से पदार्थ को भाव रूप मानने पर अभाव रूप पदार्थों का अर्थात् प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और

अत्यन्ताभाव का लोप हो जायेगा। यदि वस्तु धर्मो का लोप करते हो तो वस्तु तत्व अनादि अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है और वह अर्हन्त मत में उचित नहीं है। प्रागभाव नहीं मानने पर घट आदि द्रव्य अनादि हो जायेगा और प्रध्वंसाभाव को नहीं मानेगें तो कार्यद्रव्य अनन्तता को प्राप्त हो जायेगा।–9,10 अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव के न मानने वालों के मत में निम्न दोष उत्पन्न होते हैं।

अन्यापोह के व्यतिक्रम करने पर किसी का इष्ट तत्त्व सब रूप हो जायेगा और अत्यन्ताभाव के अभाव में किसी भी इष्ट तत्त्व का किसी भी प्रकार से कथन नहीं हो सकेगा अर्थात् वह चेतन या अचेतन है, ऐसा कथन नहीं बन सकेगा।–11

अभाववादी भाव की सत्ता को किसी भी प्रकार स्वीकार नहीं करते। उनके मत में अभाव ही सत्य है और भाव स्वप्न ज्ञान की तरह मिथ्या है। स्वप्न में नाना पदार्थों का ज्ञान होता है और स्वप्न में जाने हुए पदार्थ पूर्णतः सत्य प्रतीत होते हैं, परन्तु स्वप्न के बाद उन पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं रहता है। इसी प्रकार की दशा जाग्रत अवस्था में जाने गये पदार्थ की होती है। दोनों में मात्र इतना अन्तर है कि स्वप्न प्रतीत पदार्थ कुछ क्षण ही ठहरते हैं तथा स्वप्न देखने वाला व्यक्ति उन्हें प्रत्यक्ष देखता है और जाग्रत अवस्था में जाने गये पदार्थ अधिक समय तक ठहरते हैं। अनेक व्यक्ति उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं किन्तु इतने मात्र से उनकी पारमार्थिक सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः स्वप्नज्ञान के विषयभूत पदार्थों की तरह जाग्रत के विषयभूत पदार्थ भी मिथ्या हैं, केवल अभाव ही सत्य है।

तत्त्वतः विचार किया जाये तो अभावैकान्तवादियों के यहां स्वमत सिद्धि और पर मत खण्डन के लिए कोई प्रमाण नहीं हैं। समन्तभद्र लिखते हैं कि जब अभावैकान्त पक्ष में किसी भी तत्त्व का सद्भाव नहीं है तो प्रमाण का भी अभाव होगा और प्रमाण के अभाव में स्वपक्षसिद्धि और परमत में दोष नितान्त असम्भव है। अभावैकान्त पक्ष में न बोध प्रमाण है न वाक्य।–12

कुछ लोग भाव को भी मानते हैं और अभाव को भी या दोनों को निरपेक्ष मानते हैं। परन्तु निरपेक्ष मान्यता युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो स्याद्वाद न्याय से द्वेष रखने वाले हैं उनके यहां भाव और अभाव का निरपेक्ष अस्तित्व नहीं बन सकता है। क्योंकि दोनों के सर्वथा एकात्म्य मानने में विरोध आता है। अवाच्यतैकान्त भी नहीं बन सकता क्योंकि इसमें भी, यह अवाच्य है, ऐसे वाक्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।–13

वस्तु न तो सर्वथा सत्‌रूप ही है न सर्वथा असत् रूप ही है किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है और किसी अपेक्षा से असत् है। ऐसा नहीं है कि एक वस्तु सत् है और दूसरी असत् है। किसी अपेक्षा से जो वस्तु सत् है वही वस्तु अन्य अपेक्षा से असत् भी है। ऐसी ही स्थिति वस्तु के उभयात्मक तथा अवाच्य होने में है। वस्तु न तो सर्वथा उभयात्मक है और न अवाच्य हैं। जैनशासन में सर्वत्र नय दृष्टि से विचार किया जाता है अर्थात् वक्ता जिस अभिप्राय से किसी वस्तु को कहना चाहता है उस वस्तु का उसी दृष्टि से विचार किया जाता है। वक्ता के अभिप्राय का घ्यान न रखे जाने की स्थिति में बड़ी अव्यवस्था हो सकती है। अतः अव्यवस्था मिटाने के लिए एवं किसी भी प्रमाण से बाधक न होने देने के लिए नय विवक्षा से वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाता है।–14

वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र,काल और स्वभाव की अपेक्षा सत् और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और स्वभाव की अपेक्षा असत् ऐसा कौन नहीं मानेगा अर्थात् सभी मानेगे क्योंकि घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् रूप है पर पट के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा असत् रूप है। ऐसी ही व्यवस्था जीव अजीव आदि में भी होती है। अतः वस्तु न तो सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् है किन्तु स्वद्रव्यादि की अपेक्षा सत् और पर द्रव्यादि की अपेक्षा असत् है।–15

सप्तभंगी के दो भंगों को स्पष्ट करने के बाद आचार्य कहते हैं कि जब कम से स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा सत् तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् होते हैं, उस समय वस्तु कथंचित् उभयात्मक होती है।

जब कोई व्यक्ति स्वरूपादि चतुष्टय तथा पररूपादि चतुष्टय के द्वारा वस्तु के सत्वादि धर्मों का प्रतिपादन एक साथ करना चाहता है, तब कथनीय न होने के कारण वस्तु को अवाच्य या अवक्तव्य मानना पड़ता है। इसी प्रकार स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य सिद्ध होते हैं।—16

ब्रह्माद्वैतवादियों के अनुसार तत्त्व में अस्तित्व गुण होता है, नास्तित्व नहीं क्योंकि नास्तित्व तो परवस्तु के आश्रित है। अतः वह वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र इसका समाधान देते हुए लिखते हैं कि विशेषण होने से जहां जहां अस्तित्व गुण होता है वहां वहां नास्तित्व भी होता है कयोंकि दोनों अविनाभावी हैं। इन दोनों धर्मों का अधिकरण एक ही होता है। एक वस्तु में अस्तितव हो और दूसरी वस्तु में नास्तित्व हो ऐसा मानना प्रतीति विरूद्ध है अस्तित्व और नास्तित्व ये एक ही वस्तु के विशेषण हैं। जैसे साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों हेतु के विशेषण हैं तथा परस्पर एक दूसरे के सापेक्ष हैं। उसी तरह तत्त्व में अस्तित्व तथा नास्तित्व दोनों एक सिक्के के दो पहलू की तरह हैं।—17

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव सम्बन्ध है, यह मान लेने पर भी नास्तित्व और अस्तित्व का अविनाभावी कैसे हो सकता है, जैसे आकाश पुष्प में अस्तित्व सम्भव नहीं है। आप्तमीमांसा में इसका समाधान यह दिया गया है कि एक ही वस्तु में विशेषण होने से नास्तित्व अपने प्रतिषेध्य अस्तित्व का अविनाभावी है, जैसे हेतु में वैधर्म्य साधर्म्य का अविनाभावी होता है। कुछ ऐसा मानते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व जीवादि वस्तुओं से सर्वथा भिन्न है और वस्तु अस्तित्व नास्तित्व रूप नहीं है। कुछ ऐसा कहते हैं कि अस्तित्व और नास्तित्व विशेषण ही हैं, विशेष्य नहीं एवं अभिलाप्य भी नहीं हैं। समन्तभद्र ने इसका समाधान देते हुए बताया है कि अपेक्षा भेद से तत्त्व व्यवस्था में कोई विरोध नहीं आता है, जैसे धूम बह्रि का रूप होता है और जल का हेतु नहीं होता है। वही धूम हेतु है और वही धूम अहेतु है। अपेक्षा के भेद से उसी धूम को हेतु और अहेतु मानने में कोई विरोध नहीं है। विरोध तब होता है जब धूम को बह्रि

का हेतु और बह्नि का ही अहेतु माना जाता। उसी प्रकार वस्तु को भी कथंचित् अस्तित्व और नास्तित्व रूप मानने में किंचित् मात्र भी विरोध नहीं है। वस्तु में अस्तित्व दूसरी अपेक्षा से और नास्तित्व दूसरी अपेक्षा से है। अस्तित्व और नास्तित्व वस्तु के विशेशण हैं और वस्तु विशेष्य है। वस्तु निरंश और निरभिलाप्य नहीं है किन्तु सांश और शब्द गोचर है। इसी प्रकार शेष भंग जैनशासन में नय की अपेक्षा से अविरोधी मानना चाहिए। तात्पर्य कि वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने में कोई विरोध नहीं है।

विधि और निषेध के द्वारा अनवस्थित अर्थात् उभयरूप अर्थ ही क्रियाकारी होता है अर्थात् जो द्रव्य की अपेक्षा से सत् और पर्याय की अपेक्षा से असत् होता है, वही पदार्थ अर्थक्रिया कर सकता है। इसके अभाव में अर्थक्रिया का होना असम्भव है। जो पदार्थ सत् अथवा असत् है वह सैकड़ों सहकारी कारणों के मिलने पर भी कार्य नहीं कर सकता है।–18–21

जीवादि जितने पदार्थ हैं उन सबमें अनन्त धर्म पाये जाते हैं। उन अनन्त धर्मों में से प्रत्येक धर्म का अर्थ अलग अलग होता है। एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति गौण रूप से होती है।–22 जिस प्रकार सत्व और असत्व में सप्तभंगी प्रक्रिया होती है उसी प्रकार एक अनेक आदि धर्मों में भी होती है। एकत्व में सप्तभंगी प्रक्रिया का उदाहरण – 1. स्यादेकं द्रव्यम् 2. स्यादनेकं द्रव्यम् 3. स्यादेकमनेकं द्रव्यम् 4. स्यादवक्तव्यम् 5. स्यादेकमवक्तव्यं च द्रव्यम् 6. स्यादनेकमवक्तव्यं च द्रव्यम् 7. स्यादेकमनेकमवक्तव्यं च द्रव्यम्। इस प्रकार सभी द्रव्यों में सत्व असत्व, एक अनेक आदि धर्म पाये जाते हैं। एक ही वस्तु का सद्भाव मानना अद्वैतेकान्त है या इस तरह के ब्रह्माद्वैत आदि जितने भी एकान्त हैं सभी दोषयुक्त हैं क्योंकि उनमें भी कारक और क्रियाओं का प्रत्यक्ष सिद्ध भेद है, उसमें विरोध आता है। यह सत्य है कि एक वस्तु स्वयं अपने से उत्पन्न नहीं हो सकती। जहां अद्वैत है वहां द्वैत की कल्पना करना भी मूर्खता है। अतः अद्वैत एकान्त में शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य पाप रूप कर्म फल, इह लोक पर लोक, ज्ञान और अज्ञान, बन्ध और मोक्ष इनमें एक भी द्वैत सिद्ध नहीं होता।

ब्रह्माद्वैतवादियों के अनुसार अनुमान और आगम प्रमाण के द्वारा ब्रह्म की सिद्धि होती है। परन्तु देखा जाये तो आगम से ब्रह्म की सिद्धि करने पर आगम को ब्रह्म से अभिन्न नहीं माना जा सकता। यदि ब्रह्म साधक आगम ब्रह्म से अभिन्न है तो ब्रह्म की सिद्धि सम्भव ही नहीं है। अतः हेतु और ब्रह्म का द्वैत तथा आगम और ब्रह्म का द्वैत होने से अद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं है। द्वैत के विना अद्वैत नहीं हो सकता है, जो लोग उक्त कथन का निषेध करते हैं उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि संज्ञी का निषेध वस्तु के अभाव में सम्भव नहीं है। जैसे आकाशपुष्प या खरविषाण का निषेध तभी किया जा सकता है जबकि उसका सद्भाव हो । अतः यह मानना होगा कि द्वैत तथा अद्वैत का एवं अद्वैत द्वैत का, अविनाभावी है।–23–27

न्याय वैशेषिक पदार्थों को पृथक् पृथक् मानते हैं। समन्तभद्र की दृष्टि में उनकी वह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि उन्हें यह स्पष्ट करना होगा कि पृथक् पदार्थों से पृथकत्व गुण अपृथक् है या पृथक्, यदि पृथकत्व गुण पृथक् पदार्थों से अपृथक् है तो पृथकत्वैकान्त का त्याग कर देने से स्वमत विरोध स्पष्ट है। गुण और गुणी में भेद मानने के कारण पृथकत्व गुण पृथग्भूत पदार्थों से अपृथक् नहीं कहा जा सकता । इसलिए पृथकत्व गुण के कारण सब पदार्थों को पृथक् पृथक् मानना ठीक नहीं है। क्योंकि गुण गुणी आदि को एक दूसरे से सर्वथा पृथक् मानने पर ज्ञान आत्मा का गुण है, गन्ध पृथ्वी का गुण है इत्यादि का व्यपदेश सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए गुण गुणी आदि न तो सर्वथा पृथक् हैं और न सर्वथा अपृथक। कथंचित् पृथक् हैं और कथंचित् अपृथक्। पृथकत्व गुण के द्वारा सब पदार्थों को पृथक् पृथक् मानकर पृथकत्वैकान्त की कल्पना उचित नहीं है।–28

बौद्धों के यहां पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील माने गये हैं। कोई भी पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है उसका स्थिति काल केवल एक क्षण मात्र है। समन्तभद्र की दृष्टि में उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि एकत्व के अभाव में निर्वाध सन्तान समुदाय साधर्म्य और प्रेत्य भाव का भी अभाव हो जायेगा। एकत्व मानना इसलिए भी आवश्यक है कि ज्ञान ज्ञेय से सत्व

की अपेक्षा से भी पृथक् है तो दोनों असत् हो जायेंगे और ज्ञान के अभाव में बहिरंग और अन्तरंग ज्ञेय भी असम्भव है। शब्द सामान्य का कथन करते हैं विशेष का नहीं अन्यथा सामान्य के मिथ्या होने से सामान्य प्रतिपादक समस्त वचन मिथ्या ही हैं। स्याद्वाद सप्तभंगी को स्वीकार किये विना उभयैकान्त नहीं बन सकता है तथा अवाच्यतैकान्त पक्ष में भी अवाच्य शब्द का भी प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रमाण से भी परस्पर निरपेक्ष पृथकत्व और एकत्व में अवस्तु की सिद्धि होती है। इसलिए पृथकत्व एवं एकत्व को निरपेक्ष न मानकर सापेक्ष मानना चाहिए। सत्ता सामान्य की अपेक्षा सब पदार्थ एक हैं और द्रव्य आदि के भेद से अनेक हैं जैसे असाधारण हेतु भेद की अपेक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक होता है। विवक्षा और अविवक्षा करने वाले व्यक्ति अनन्त धर्म वाली वस्तु में विद्यमान विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा करते हैं, अविद्यमान की नहीं। भेद और अभेद प्रमाण के विषय होने से वास्तविक हैं काल्पनिक नहीं। अतः गौण और प्रधान की विवक्षा से एक ही वस्तु में उन दोनों के होने में कोई विरोध नहीं है।–29–36

सांख्य दर्शन में पदार्थ को कूटस्थ नित्य माना गया है। उनका कहना है कि पर्याय की दृष्टि से भी किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश नही होता है। समन्तभद्र के अनुसार नित्यत्वैकान्त पक्ष में भी विक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। जब पहले ही कारक का अभाव है तब प्रमाण और प्रमाण का फल ये दोनों कैसे बन सकते हैं। जब पदार्थ अकारक और विक्रिया रहित हैं तो प्रमाण और प्रमाण का फल भी नहीं बन सकता है। जो अकारक है वह प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाता के अभाव में प्रमिति रूप फल भी सम्भव नहीं है। जो पदार्थ न किसी की उत्पत्ति करता है और न परिच्छित्ति ही करता है उसकी सत्ता असम्भव है। इन्द्रियों के द्वारा उनके विषय को अभिव्यक्ति के समान जिन प्रमाणों तथा कारकों के द्वारा अव्यक्त को व्यक्त हुआ बतलाया जाता है वे प्रमाण और कारक दोनों ही जब सर्वथा नित्य माने गये हैं तब उनके द्वारा कौन सी विक्रिया बनती है। सर्वथा नित्य के द्वारा कोई भी विकार रूप क्रिया नहीं बन सकती और न

अनित्य ही घटित हो सकता है। सर्वथा नित्य कार्यो से अनित्य कार्यों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति बन ही नही सकती। यदि कार्य सर्वथा सत् है तो पुरुष के समान उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्ति न मानकर कार्य में परिणाम की कल्पना करना नित्यत्वैकान्त की बाधक है। अगर नित्यत्वैकान्त मानते हैं तो पुण्य पाप की किया, परलोक गमन, सुखादि फल, बन्ध और मोक्ष ये सब नहीं बन सकते हैं।–36–40

क्षणिकैकान्त पक्ष में नित्य आत्मा के अभाव में प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, इच्छा आदि सम्भव नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञान के अभाव में पुण्य पाप आदि कार्य भी नहीं हो सकते। पुण्य पाप के अभाव में प्रेत्यभाव, बन्ध, मोक्ष आदि भी नहीं हो सकते। आचार्य समन्तभद्र का स्पष्ट कथन है कि बौद्धों का क्षणिकवादी दृष्टिकोण उचित नहीं है। क्षणिकवाद में कार्यकारण सम्बन्ध असम्भव है। कार्यकारण सम्बन्ध के अभाव में पुण्य पाप, प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्य का आरम्भ सम्भव नहीं है और कार्य के अभाव में उसका फल नहीं बन सकता है।

सत् का कभी विनाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा नियम है। कार्य कथंचित् सत् है और कथंचित् असत्। कार्य द्रव्य की अपेक्षा सत् और पर्याय की अपेक्षा असत् है। यदि द्रव्य की अपेक्षा से भी कार्य असत् हो तो उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। कार्य की उत्पत्ति में उपादान कारण का नियम और विश्वास भी नहीं हो सकता। कार्य को सर्वथा असत् माना जाता है तो आकाश पुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। कार्य उपादान रूप से सत् है, जैसे घट का उपादान मिट्‌टी है। मिट्‌टी रूप से घट का सद्‌भाव सदा रहता है। मिट्‌टी ही घट रूप से परिणमित होती है। उपादान कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति में विश्वास भी नहीं किया जा सकता। क्षणिकवाद में अन्वय का भी सर्वथा अभाव है। अन्वय के अभाव में हेतुफलभाव, वास्यवासकभाव, कर्मफलभाव, प्रवृत्ति निवृत्ति आदि कुछ भी नहीं बन सकते क्योंकि जिन पदार्थों में उक्त सम्बन्ध सम्भव हैं, वे पदार्थ अन्वय के अभाव में एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। अतः असत् कार्यवाद एवं क्षणिकवाद सदोष हैं।

बौद्धों का यह कहना कि प्रत्येक पदार्थ में एक सन्तान पायी जाती है, जिसके कारण पदार्थों में हेतुफल भाव आदि सम्बन्ध बन जाते हैं क्योंकि अन्वय के अभाव में जैसे एक सन्तान का दूसरी सन्तान के साथ सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार एक सन्तान के अनेक क्षणों में भी कोई सम्बन्ध नहीं है। समन्तभद्र की दृष्टि में यह सन्तानवाद भी ठीक नहीं है क्योंकि जब प्रत्येक पदार्थ के समस्त क्षण परस्पर में विल्कुल ही पृथक् हैं जैसे घट आदि के जितने क्षण हैं वे एक दूसरे से पृथक् हैं। सब क्षण पृथक् पृथक् होने से अन्य हैं उन अन्य क्षणों में अनन्य की कल्पना अर्थात् पृथक् पृथक् क्षणों को एक मान लेना सन्तान है, परन्तु यह सन्तान की कल्पना केवल संवृत्ति या उपचार से ही हो सकती है। उपचार कथन मिथ्या की कोटि में आता है। मुख्य अर्थ संवृत्ति रूप नहीं होता है और मुख्य अर्थ के विना संवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे सिंह के सद्भाव के विना सिंह का चित्र नहीं बन सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि अनन्य प्रत्यय के अभाव में सन्तान की सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है। बौद्धों ने प्रत्येक धर्म में चार प्रकार के विकल्प माने हैं – वस्तु सत् है, असत् है, उभय है या अनुभय रूप है। यदि सत् है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती असत् है तो शून्यता की प्राप्ति होती है। उभय रूप मानने पर दोनों दोष आते हैं। अनुभय रूप मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक धर्म का निषेध करने पर दूसरा स्वतः प्राप्त होता है। दोनों धर्मो का निषेध सम्भव नहीं है, अगर सम्भव माना जाये तो वस्तु निःस्वभाव हो जायेगी। सत् असत् आदि की तरह सन्तान और सन्तानियों में जो भिन्न अभिन्न आदि विकल्प किये गये हैं, वे भी ठीक नहीं हैं क्योंकि उन्हें न भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न, किन्तु अवाच्य कह सकते हैं। यहां समन्तभद्र का कहना है कि सत् आदि रूप चतुष्कोटि विकल्पों को अवक्तव्य भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि जो सर्वधर्म रहित है वह अवस्तु है, वह न तो विशेष्य हो सकता है और न उसका कोई विशेषण हो सकता है। अतः ऐसी किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता है, जो न तो विशेष्य हो और न उसका कोई विशेषण हो। अवस्तु में विधि और निषेध भी सम्भव नहीं हैं क्योंकि जो पदार्थ अपने

द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत् है, उसका दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से निषेध होता है परन्तु जो पदार्थ सर्वथा असत् है उसकी न तो विधि हो सकती है और न प्रतिषेध। असत् पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता है। अतः विधि असम्भव ही है। विधि के अभाव में प्रतिषेध सम्भव नहीं होता है।

जैनदृष्टि को स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जो सर्व धर्मों से रहित है वह अवस्तु है और अवस्तु होने से वह अनभिलाप्य है। वस्तु ही प्रकिया के विपर्यय से अवस्तु हो जाती है।[31] सर्वधर्म अवक्तव्य है इसको स्वीकार कर लेने पर मौन धारण कर लेना चाहिए क्योंकि उक्त कथन में उसी प्रकार स्ववचन विरोध है, जिस प्रकार कोई कहे कि 'मैं सदा के लिए मौनव्रती हूं'। सर्वधर्मों के सर्वथा अवक्तव्य होने पर उनकी कोई वार्ता नहीं बन सकती, उन्हें अवक्तव्य कहना भी नहीं बनता क्योंकि अवक्तव्य कहना भी उन्हें वक्तव्य ठहराता है।–49 इसको संवृत्ति अर्थात् उपचार रूप कथन मानना भी सम्भव नहीं है क्योंकि बौद्धों ने स्वयं उपचार कथन को मिथ्या माना है। अवक्तव्य यदि मानते हैं, तब उनसे यह पूंछा जाये कि ऐसा क्यों कहते हैं, क्या वक्ता में उसके प्रतिपादन की शक्ति नहीं है या अभाव है या उसका ज्ञान नहीं है। इन तीनों विकल्पों में आदि और अन्त के पक्ष तो बनते नहीं हैं। इसलिए छल से काम नहीं चलेगा, स्पष्ट रूप से कहना होगा कि पदार्थ का अभाव होने से अवक्तव्य है।–50

निरन्वय क्षणिक एकान्तवाद भी ठीक नहीं क्योंकि जब क्षणिक एकान्त पक्ष की मान्यता में पदार्थ का समूल विध्वंस हो जाता है तब यह स्वाभाविक बात है कि जिस चित्त ने जिस क्षण में किसी दूसरे को मारने का संकल्प किया वह चित्त संकल्प करने के साथ ही उसी क्षण में मूलतः विनष्ट हो गया, उत्तर क्षण में जो द्वितीय चित्त हुआ है, उसने पहले मारने का संकल्प किया नहीं, विना संकल्प के ही उसने दूसरे को मारा। जिसका अभिप्राय हिंसा करने का नहीं है वह हिंसा करता है, जिसका अभिप्राय हिंसा करने का है, वह हिंसा नहीं करता है। जिसने हिंसा का कोई अभिप्राय नहीं किया और न ही हिंसा की, वह चित्त बन्धन को प्राप्त होता है और जिसका

बन्ध हुआ उसकी मुक्ति नहीं होती, किन्तु मुक्ति दूसरे की होती है। इस प्रकार भिन्न कर्तृता आने से बन्ध और मोक्ष की कुछ भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अतः यही उचित है कि जो हिंसा का परिणाम करता है वही उसे मारता है और वही हिंसाजन्य पाप का बन्ध करता है, वही पाप से छूटता है। ऐसा मानने से वस्तु के प्रतिक्षण विनश्वरता मानने के एकान्त का निराकरण हो जाता है। अगर विनाश को अहेतुक माना जायेगा तो हिंसा करने वालों में स्वच्छन्दता आ जायेगी और चित्तसंन्तति के नाश रूप मोक्ष भी अष्टांग हेतुक नहीं हो सकेगा।–51, 52

बौद्धों के अनुसार विनाश के कारणों से पदार्थ का विनाश नहीं होता, किन्तु अन्य पदार्थ की उत्पत्ति होती है। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि यदि विसदृशकार्य की उत्पत्ति के लिए हेतु का समागम होता है तो हेतु को नाश और उत्पाद से अभिन्न मानना होगा। नाश और उत्पाद भी अभिन्न हैं क्योंकि पूर्व पर्याय के नाश का नाम ही उत्तर पर्याय की उत्पत्ति है। नाश और उत्पाद आश्रयी हैं और हेतु उसका आश्रय है। जब नाश और उत्पाद अभिन्न हैं तब उनका आश्रय हेतु भी अभिन्न होगा। क्षणिक परमाणुओं की एवं स्कन्धों की असिद्धि के सम्बन्ध में कहा गया है कि स्कन्धों की संततियां भी जब संवृत्ति रूप हैं तब वे अपरिमार्थ हैं और अपरिमार्थ पदार्थ या स्कन्ध में स्थिति उत्पत्ति और व्यय का होना सम्भव नहीं हो सकता है। अतः पदार्थ का अस्तित्व मानना उचित है। उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त में दोष बतलाते हुए बताया गया है कि जो सर्वथा नित्य है, वह क्षणिक नहीं हो सकता और जो सर्वथा क्षणिक है उसमें नित्यता सम्भव नहीं है। क्षणिकैकान्त एवं नित्यत्वैकान्त में भिन्नता होने से उभयैकान्त सम्भव नहीं है। इसी प्रकार तत्त्व सर्वथा अवाच्य भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि तत्त्व प्रत्यभिज्ञान का विषय होने के कारण कथंचित् नित्य है तथा कालभेद होने के कारण कथंचित् क्षणिक भी है।–53–56

उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप वस्तु की त्रयात्मकता के सम्बन्ध में कहा गया है कि द्रव्य या वस्तु का लक्षण सत् है उसमें गुण एवं पर्यायें पायी जाती हैं। गुण का कभी नाश नहीं होता, पर्यायें बदलती रहती हैं। अतः

वस्तु का सामान्य की अपेक्षा न कभी नाश होता है और न उत्पाद क्योंकि सभी पर्यायों में उसका अन्वय रहता है। यद्यपि उत्पाद और व्यय दोनों का लक्षण भिन्न है, पर हेतु के क्षय होने का नाम ही कार्य का उत्पाद होता है। अतः यह स्पष्ट है कि उत्पाद और विनाश दोनों एक हेतु से ही होते हैं। जाति की अपेक्षा अभिन्न है क्योंकि विना उत्पाद के विनाश सम्भव नहीं है, विना विनाश के उत्पाद असम्भव है। उसी प्रकार ध्रुवता के विना उत्पाद व्यय दोनों सम्भव नहीं हैं। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि वस्तु उत्पाद, व्यय ध्रौव्य रूप है। जैसे एक पुरुष के पास सोने का घड़ा है, वह घड़ा ही रहने देने चाहता है, दूसरा मुकुट बनाना चाहता है, तीसरा सुवर्ण ही चाहता है। अगर मुकुट बनाता है तो हर्ष, सुवर्ण घट का नाश विषाद एवं माध्यस्थभाव का कारण है। इससे सिद्ध है कि सुवर्ण घट के हेतु से हर्ष, विषाद एवं माध्यस्थ भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए वस्तु में उत्पाद, व्यय और ध्रुवता सिद्ध है अर्थात् तत्त्व तीन रूप है। तत्त्व को तीन रूप सिद्ध करने के लिए एक दूसरा भी उदाहरण दिया गया है कि जिसके दूध पीने का व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिसके दधि खाने का व्रत है वह दूध नहीं पीता है और जिसके गोरस नहीं लेने का व्रत है, वह दोनों नहीं लेता है। यदि दूध और दधि में गोरस का अन्वय नहीं रहता तो उसका दुग्ध और दधि दोनों खा लेना चाहिए। अतः यह सिद्ध होता है कि दुग्ध पर्याय का नाश होने पर दधि पर्याय की उत्पत्ति होती है तथा दुग्ध और दधि पर्यायें अलग अलग हैं किन्तु गोरस का अन्वय दोनों में पाया जाता है। अतः तत्त्व उत्पाद आदि तीन रूप हैं।–57–60

नैयायिक एवं वैशेशिक कार्य कारण में, गुण गुणी में, सामान्य सामान्यवान् में भेद मानते हैं। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि भेद मानने पर एक की अनेकों में वृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि उनके अंश नहीं हो सकते हैं। यदि भाग करते हैं तो वह एक नहीं हो सकता है। अगर पृथक् मानते हैं तो उनकी स्थिति भिन्न देश एवं भिन्न काल में माननी पड़ेगी। यथार्थ यह है कि अवयव अवयवी, गुण गुणी आदि न तो सर्वथा भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न किन्तु कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न है अर्थात् उनमें तादात्म्य

सम्बन्ध है। यदि यह कहा जाये कि समवायियों में आश्रय आश्रयी भाव होने से, स्वातन्त्र्य न होने के कारण देश काल भिन्न नहीं हैं। ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो समवायियों के साथ असम्बद्ध है वह सम्बद्ध नहीं हो सकता। अतः समवायियों से असम्बद्ध समवाय को सम्बद्ध मानना ठीक नहीं है। जिस प्रकार सामान्य आश्रय के विना नहीं रहता उसी प्रकार समवाय भी आश्रय के विना नहीं रहता। जब सामान्य और समवाय दोनों की प्रत्येक द्रव्यादि नित्य व्यक्तियों में पूर्णता होती है तब नाश या उत्पन्न हुए अनित्य कार्यों में उनके सद्भाव की विधि व्यवस्था कैसे बन सकती है। सामान्य और समवाय का परस्पर में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। सामान्य और समवाय के साथ पदार्थ का भी सम्बन्ध नहीं है। अतः सामान्य समवाय और पदार्थ तीनों ही आकाश पुष्प के समान अवस्तु हैं।–60–66

कुछ वैशेषिक या बौद्धों की मान्यता है कि कार्य कारण आदि में अन्यतैकान्त की सिद्धि न होने से कोई हानि नहीं क्योंकि परमाणुओं के नित्य होने के कारण सब अवस्थाओं में अन्यत्व का अभाव होने से परमाणुओं में अनन्यतैकान्त है। आचार्य समन्तभद्र उनके मत का निराकरण करते हुए लिखते हैं कि परमाणु जब प्रचय रूप अवस्था में होते हैं– स्कन्ध रूप अवस्था में आते हैं तो उस अवस्था में भी विभक्त घट पट पदार्थों की तरह वे विभक्त ही रहते हुए माने जायेंगे अन्यथा रूपान्तर रूप परिणमन के सद्भाव में अनन्यतैकान्त स्वभाव का अभाव मानना पड़ेगा। संघात स्कन्ध रूप अवस्था में भी जब वे विभक्त माने जायेंगे तब ऐसी स्थिति में पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार भूत भ्रान्ति रूप ही ठहरेंगे क्योंकि भूतचतुष्क परमाणु स्वरूप नहीं हैं किन्तु उनकी संघात स्वरूप वह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था को परमाणु रूप नहीं कहा जाता है। अतः इस अनन्यता के एकान्त में परमाणुओं के संघात स्वरूप से प्रतीयमान यह भूतचतुष्क भ्रान्तिरूप ही ठहरेंगे। यदि इसे भ्रान्ति रूप नहीं माना जायेगा तो अनन्यता एकान्त नहीं ठहरता है। क्योंकि कार्य के भ्रान्त होने से कारण भी भ्रान्त हो जायेगा। जो ऐसा मानते हैं कि परमाणुओं के कार्य पृथ्वी आदि चार भूत मिथ्या हैं उनके अनुसार भूतों के कारण परमाणु भी मिथ्या होंगे क्योंकि

कार्य के द्वारा कारण का अनुमान करके परमाणुओं की सिद्धि की जाती है। परमाणु का ज्ञान प्रत्यक्ष तो होता नहीं है। कार्य के भ्रान्त होने से कार्य के द्वारा उनका अनुमान नहीं किया जा सकता है, जिससे परमाणुओं में भ्रान्तता ही सिद्ध होती है। कार्य और कारण दोनों के भ्रान्त होने से दोनों का अभाव स्वतः प्राप्त होता है। दोनों का अभाव होने से उनमें रहने वाले गुण सामान्य क्रिया आदि का भी अभाव हो जायेगा। अतः यदि गुण जाति आदि का सद्भाव अभीष्ट है तो कार्य द्रव्य को अभ्रान्त मानना भी आवश्यक है। स्कन्ध रूप कार्य द्रव्य अभ्रान्त तभी हो सकता है, जब परमाणु अपने पूर्व रूप को छोड़कर स्कन्धरूप पर्याय को धारण करे। अतः परमाणुओं में अनन्यतैकान्त मानना ठीक नहीं है।—67, 68

सांख्य दर्शन में कार्य कारण को सर्वथा एक माना गया है। समन्तभद्र की दृष्टि में यदि कार्य कारण आदि का सर्वथा एकत्व माना जाता है तो उनमें से किसी एक का अभाव हो जायेगा। एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव निश्चित है क्योंकि उनका परस्पर में अविनाभाव है। द्वित्वसंख्या के मानने में भी विरोध होगा। संवृत्ति के मिथ्या होने से द्वित्वसंख्या को संवृत्तिरूप मानना भी ठीक नहीं है।—69

एकान्तमत सदोष हैं। स्याद्वाद न्याय को मानने वालों के यहां किसी भी दोष का आना सम्भव नहीं है। अवयव अवयवी आदि कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। तत्त्व कथंचित् वाच्य भी है और कथंचित् अवाच्य भी है। अपेक्षा भेद से वस्तु में अनेक धर्मों के होने में कोई विरोध सम्भव नहीं है।—70

द्रव्य और पर्याय में कथंचित् ऐक्य है, क्योंकि उन दोनों में अव्यतिरेक पाया जाता है। द्रव्य और पर्याय कथंचित् नाना भी है क्योंकि द्रव्य और पर्याय में परिणाम का भेद है, शक्तिमान् और शक्तिभाव का भेद है, संज्ञा का भेद है, संख्या का भेद है, स्वलक्षण का भेद है, प्रयोजन का भेद है और काल आदि का भेद है। इसलिए भेदैकान्त और अभेदैकान्त सदोष हैं।—71, 72

अपेक्षैकान्त और अनपेक्षैकान्त भी त्रुटिपूर्ण हैं। यदि पदार्थों की सिद्धि सर्वथा आपेक्षिक होती है, तब दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती है। अनपेक्षिक मानने पर उनमें सामान्य विशेष भाव नहीं बन सकता है। सर्वथा उभयवादियों के मत में विरोध और अनुभय वादियों के मत में अनुभय शब्द के द्वारा कथन न हो सकने का दोष दिया गया है।—73, 74

धर्मधर्मी भाव, कार्यकारण भाव, विशेषणविशेष्य भाव, प्रमाणप्रमेय भाव का व्यवहार अपेक्षा से सिद्ध होता है, परन्तु उनका स्वरूप स्वतः सिद्ध है। कार्य में कार्यता, कारण में कारणता, प्रमाण में प्रमाणता आदि स्वयं सिद्ध हैं, वे परापेक्ष नहीं अन्यथा किसी भी वस्तु का अपना स्वतंत्र स्वरूप नहीं बन सकेगा।—75

सर्वथा हेतुवाद से सिद्धि मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वस्तुज्ञान के अभाव का प्रसंग तथा आगम से सर्वसिद्धि स्वीकार करने पर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादक वचनों में भी विरोधी तत्त्वों की सिद्धि का प्रसंग उपस्थित होता है। उभयैकान्त में विरोध और अवाच्यतैकान्त में अवाच्य शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकने का दोष प्रदर्शित है।—76—77

आगे की कारिकाओं में समन्तभद्र ने हेतुवाद और अहेतुवाद दोनों से वस्तुसिद्धि होने का निर्देश करके सप्तभंगात्मक अनेकान्त को स्पष्ट करते हुए बताया है कि जहां आप्त वक्ता न हो वहां हेतु से साध्य की सिद्धि की जाती है और उस सिद्धि को हेतु साधित कहा जाता है। जहां आप्त वक्ता हो वहां उनके वचन से वस्तु की सिद्धि होती है, वह सिद्धि आगम साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तुसिद्धि का उपायतत्त्व हेतुवाद और अहेतुवाद भी अनेकान्तात्मक है।—78

बाह्य अर्थ के विना सर्वथा ज्ञान तत्त्व मानने पर सभी बुद्धियां और वचन मिथ्या हो जायेंगे क्योंकि दोनों का प्रामाण्य बाह्य अर्थ पर निर्भर है। जिनका ज्ञात बाह्यार्थ सत्य निकलता है, उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नहीं निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। बाह्यार्थ के विना जब प्रमाणता का निश्चय नहीं हो सकता तब प्रमाण के अभाव में प्रमाणाभास भी नहीं

कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्व के स्वीकार करने पर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों नहीं बनते और उनके नहीं बनने पर किस तरह ज्ञानमात्र को वास्तविक और बाह्यार्थ को अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है। साध्य और साधन की विज्ञप्ति मात्र तत्त्व की सिद्धि के प्रयास भी निरर्थक हैं क्योंकि उक्त प्रकार से सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। यह स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्र तत्त्व मानने वालों के यहां न साध्य है और न हेतु अन्यथा द्वैत का प्रसंग आयेगा।–79,80

बहिरंगार्थतैकान्त में दोष देते हुए बताया गया है कि सर्वथा बाह्य अर्थ की सत्ता मानने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्षादिविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सभी के मतों की सिद्धि हो जाती है। इसी प्रकार इनका विरोध दोष के कारण उभयैकान्त नहीं बन सकता है और अवाच्यतैकान्त में अवाच्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।–81,82

इसके पश्चात् प्रमाण और प्रमाणाभास के विषय में अनेकान्त की प्रक्रिया बताते हुए स्याद्वाद से वस्तु व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। इसमें बताया गया है कि भाव (ज्ञान) को प्रमेय मानने की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है और बाह्य अर्थ को प्रमेय मानने की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों होता है। बाह्यार्थ मानने की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि ऐसा कोई शब्द नहीं होता जिसका वाच्य बाह्यार्थ न हो। इसके उदाहरण में 'जीव' शब्द को दिया गया है। इसमें बताया गया है कि जीव शब्द संज्ञा शब्द होने से हेतु शब्द की तरह बाह्यार्थ सहित है। माया आदि जो भ्रान्तिमूलक संज्ञाएं हैं वे भी अपने माया आदि भावात्मक अर्थों सहित हैं। जिस प्रकार कि प्रमा शब्द का बाह्यार्थ पाया जाता है। अपनी इस बात को पुष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने प्रत्येक वस्तु की बुद्धि, शब्द अर्थ ये तीन संज्ञाएं बताकर इनको क्रमशः बुद्धि, शब्द और अर्थ का समान रूप से वाचक और तीनों से श्रोता के उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि का समान रूप से बोध होना भी बताया है।–83–85

सर्वथा अन्तर्ज्ञेयवादियों के प्रति यह कहा गया है कि हेतु संज्ञा होने से असिद्ध है क्योंकि उनके यहां विज्ञान के अतिरिक्त संज्ञा शब्द नहीं है। इसके लिए ग्रन्थकार ने बताया है कि वक्ता, श्रोता और प्रमाता को जो बोध, वाक्य और प्रमा होते हैं वे सभी अलग अलग हैं। इसलिए इसके साधक प्रमाण को भ्रान्त कहा जाता है तो प्रमाण के भ्रान्त होने पर अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय रूप बाह्य अर्थ भी भ्रान्त होंगे। वस्तुतः बुद्धि और शब्द में प्रमाणता बाह्य अर्थ के होने पर ही होती है। बाह्य अर्थ के अभाव में नहीं तथा सत्य और असत्य का प्रमापक अर्थ की प्राप्ति है। अर्थ की प्राप्ति होने पर सत्य की व्यवस्था और प्राप्ति न होने पर असत्य की व्यवस्था की जाती है।–86,87

इस प्रकार ज्ञापकोपाय तत्त्वों की स्याद्वाद न्याय से अनेकान्तात्मक सिद्धि करके दैव और पौरुष पर विचार किया गया है। सर्वथा दैववाद में दोष बताते हुए कहा गया है कि दैव से ही सर्वथा अर्थ की सिद्धि मानने पर दैव की पुरुषार्थ से सिद्धि कैसे बन सकती है। यदि दैव से दैव की सिद्धि मानी जाती है तो कभी भी किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना व्यर्थ हो जायेगा। इसी प्रकार सर्वथा पौरुष से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाती है तो दैव से पौरुष की सिद्धि कैसे होगी तथा पौरुष से ही पौरुष की सिद्धि मानने पर सब प्राणियों के पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए। दैव और पौरुष के सर्वथा उभयैकान्त मानने पर विरोध और अनुभयैकान्त में अनुभय शब्द से उसका प्रतिपादन नहीं हो सकने की आपत्ति बताकर स्याद्वाद से इन एकान्तों की व्यवस्था बताते हुए कहा गया है कि अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होती है वह अपने दैव से होती है और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति हेती है, वह अपने पौरुष से होती है।–88–91

दैव और पौरुष के इस समीक्षण के बाद दैवकारकोपायतत्त्व पुण्य और पाप कैसे उत्पन्न होते हैं, यह बताते हुए कहा गया है कि पर में सुख उत्पन्न करने से पुण्य और दुःख उत्पन्न करने से पाप बन्ध मानना ठीक नहीं है, क्योंकि पर के सुख और दुःख में निमित्त होने से अचेतन पदार्थ

और कषाय रहित जीव को भी कर्मबन्ध हो जायेगा। इसी प्रकार अपने में दु:ख उत्पन्न करने से पुण्य और सुख उत्पन्न करने से पाप के बन्ध का एकान्त मानना भी दोषपूर्ण बताया गया है, क्योंकि वीतराग और विद्वान् मुनि भी अपने सुख दु:ख में निमित्त होते हैं। इसलिए उनको भी कर्मबन्ध होने की आपत्ति आयेगी। इन एकान्तों के उभयैकान्त में विरोध और अनुभयैकान्त में अनुभय शब्द से भी उसका निर्वचन नहीं हो सकने की आपत्ति आती है। किन्तु इन एकान्तों की अनेकान्त दृष्टि से सिद्धि बन जाती है। सुख दु:ख चाहे अपने में उत्पन्न किये जाये और चाहे पर में, यदि वे विशुद्धि अथवा संक्लेश से पैदा होते हैं तो क्रमश: उनसे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि विशुद्धि या संक्लेश दोनों में से किसी का भी अंग नहीं है, तो वह बन्ध का कारण नहीं होता।—92—95

सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान न होने से अज्ञान से बन्ध माना गया है। ज्ञान का पुरुष से कोई सम्बन्ध नहीं है वल्कि ज्ञान प्रकृति का धर्म है। मोक्ष में ज्ञान नहीं रहता, वहां पुरुष अपने चैतन्य स्वभाव मात्र में लीन रहता है। अत: मोक्ष में प्रकृति का संसर्ग न होने से ज्ञान मोक्ष में नहीं रह सकता। इस एकान्त मान्यता के निरसन पूर्वक समन्तभद्र ने बताया है कि यदि ज्ञान के अभाव में बन्ध होता है तब कोई भी पुरुष केवली नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं। उन अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान सम्भव न होने से सदा बन्ध होता रहेगा क्योंकि केवलज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता नहीं है। इन्द्रियप्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता है। अनुमान भी अत्यन्त परोक्ष अर्थ को नहीं जानता है। आगम के द्वारा भी पदार्थों का सामान्य ज्ञान ही होता है।

इस प्रकार समस्त अर्थों का ज्ञान किसी भी प्रमाण से सम्भव न हो सकने के कारण सदा अज्ञान रहेगा कोई भी केवली नहीं हो सकेगा। अल्प ज्ञान से मोक्ष मानना भी उचित नहीं क्योंकि बहुत अज्ञान के कारण बन्ध का अभाव नहीं हो सकेगा और बन्ध का अभाव न होने से मोक्ष का होना भी सम्भव नहीं है।—96

अज्ञान से बन्ध होता है यह एक एकान्त है। अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, यह दूसरा एकान्त है। दोनों एकान्त परस्पर विरोधी हैं। अतः युक्तिसंगत नहीं हैं। बन्ध और मोक्ष के विषय में अवाच्यतैकान्त मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें अवाच्य शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।—97

वस्तुतः मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है, मोह रहित अज्ञान से नहीं। इसी तरह मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष सम्भव है, मोह सहित अल्पज्ञान से नहीं।—98

संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर कृत ही है, कोई भी कार्य कर्म के निमित्त से नहीं होता, यह न्यायवैशेषिक की मान्यता है। आप्तमीमांसा में इसका यह समाधान बताया गया है कि इच्छा, द्वेष, शरीर आदि जो भी कार्य होते देखे जाते हैं, वे अपने कर्म के अनुसार ही होते हैं। कर्म की उत्पत्ति अपने हेतुओं से होती है, जिन्हें कर्म बन्ध होता है वे जीव शुद्धि और अशुद्धि के भेद से दो प्रकार के होते हैं। पाक्य और अपाक्य शक्ति की तरह शुद्धि और अशुद्धि ये दो शक्तियां हैं। शुद्धि की व्यक्ति सादि और अशुद्धि की व्यक्ति अनादि है क्योंकि स्वभाव तर्क का विषय नहीं होता है।—99, 100

तत्व अर्थात् यथार्थ रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। वह दो प्रकार का होता है। प्रथम अक्रमभावि एवं द्वितीय क्रमभावी। जो एक साथ समस्त पदार्थों का प्रकाशन करता है, वह अक्रमभावी है, वह केवलज्ञान है और वही पूर्णतया प्रमाण रूप होता है। जो क्रमशः पदार्थों का प्रकाशन करता है, वह क्रमभवि है तथा वह स्याद्वाद प्रमाण और नय दोनों रूप होता है।—101

युगपत्सर्वभासन रूप ज्ञान प्रमाण केवलज्ञान है, उसका फल उपेक्षा है। शेष मत्यादि क्रमशः भासन रूप जो ज्ञान समूह है, उसका फल ग्रहण और त्याग की बुद्धि है तथा उपेक्षा भी है। वास्तव में अपने विषय में अज्ञान का नाश होना सब ज्ञानों का फल है।—102

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि श्रुतकेवलियों के भी वाक्यों में प्रयुक्त होने वाला स्यात् शब्द का अर्थ के

साथ सम्बन्ध होने के कारण अनेकान्त का द्योतक और गम्य अर्थ का विशेषण होता है। स्यात् शब्द निपात् है।–103

सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथंचित् विधान करने को स्याद्वाद बताया गया है। इसी का नाम 'किंवृत्तचिद्विधि' भी है। सप्तभंगों और नयों की अपेक्षा रखने वाला वह हेय और उपादेय का विशेषक–भेदक माना गया है। स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों समस्त तत्त्वों के प्रकाशक हैं। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि केवलज्ञान तत्वों का साक्षात् प्रकाशक है जबकि स्याद्वाद उसका असाक्षात् प्रकाशक है। तत्त्वप्रकाशन न केवल स्याद्वाद से होता है प्रत्युत नय से भी होता है और नय वह है जो साध्य का साधर्म्य दृष्टान्त के साथ साधर्म्य द्वारा और वैधर्म्य दृष्टान्त के साथ वैधर्म्य द्वारा विना किसी विरोध के स्याद्वाद के विषयभूत अर्थ का विशेष व्यंजक होता है। अकलंक, विद्यानन्द और वसुनन्दि आदि आचार्यों ने नय से सम्बन्धित समन्तभद्र के विवेचन की व्याख्या में त्रैरूप्य आदि विभिन्न हेतु लक्षणों की समीक्षा कर अन्यथानुपपत्ति एकलक्षण रूप हेतु को सिद्ध किया है।–102–106

नय और हेतु के इस स्वरूप के पश्चात् द्रव्य का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि उपनयों और त्रिकालवर्ती धर्मों के समुच्चय का नाम द्रव्य है। यह समुच्चय अविभ्राट् भाव सम्बन्ध–तादात्म्य रूप है। द्रव्य एक भी है, अनेक भी है। यह कथन निरर्थक है कि यदि पृथक् पृथक् धर्म एकान्त मिथ्या हैं, तो अनन्त धर्मों के समुदाय अनेकान्त को भी मिथ्या होना चाहिए क्योंकि स्याद्वादियों के यहां वस्तु में निरपेक्ष एकान्तता नहीं है, वे सापेक्ष एकान्त को मानते हैं और उनके ही समूह को अनेकान्त कहते हैं, निरपेक्ष एकान्तों के समूह को नहीं। निरपेक्ष नयों को मिथ्या और सापेक्ष नयों को अर्थक्रियाकारी वस्तु कहा गया है। वस्तुतः अनेकान्तात्मक अर्थ का विधिवाक्य और निषेधवाक्य द्वारा नियमन होता है। इसके विपरीत एकान्तरूप अर्थ अवस्तु है।–107–109

वाच्य के स्वरूप की स्थापना पूर्वक बताया गया है कि जो अर्थ को तत् रूप ही मानते हैं, उनका मत उचित नहीं है। क्योंकि वस्तु तत् और अतत् दोनों रूप है। यह भी असत्य है कि वाक्य निषेध द्वारा ही नियमन करता

है, क्योंकि वाणी का स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का निषेध करती हुई अपने अर्थ सामान्य का भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी इस प्रकार नहीं है, वह खपुष्प के समान मिथ्या है। सामान्य वाक्य दूसरे के अभावरूप विशेष में रहता है, यह विचार भी ठीक नहीं, क्योंकि सामान्य वाक्य विशेष में शब्दार्थ रूप नहीं हैं। इसलिए वह वाक्य मिथ्या है। अन्यव्यावृत्ति भी मृषा होने से शब्द का वाच्य नहीं हो सकती। अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति सत्यलांछन वाले स्यात्कार से युक्त होने पर हो सकती है। अकलंक ने समन्तभद्र के इस मन्तव्य के माध्यम से अन्यापोहवादियों का खण्डन किया है।–110–112

अन्तिम दो कारिकायें उपसंहार रूप में हैं। प्रथम कारिका में स्याद्वाद संस्थिति का उपसंहार है, जिसमें बताया गया है कि जो विधेय अभीप्सित अर्थ का कारण है और प्रतिषेध्य का अविरोधि है, वही शब्द का विधेय और उपादेय है तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है, यही स्याद्वाद संस्थिति है। इस तरह कल्याण चाहनें वालों को सम्यक् और मिथ्या उपदेश में भेद का ज्ञान कराने के लिए इस आप्तमीमांसा की रचना की गयी है।–113,114

सन्दर्भ

1. आप्त० 1
2. वहीं, 2
3. अ० श० 1
4. वहीं, 1
5. वहीं 2
6. आगम और त्रिपिटक, एक अनुशीलन, पृष्ठ 5 और 14
   उद्धृत् ती०म०आ०प० भाग 1, पृष्ठ 73 और 74
7. उपासगदशाव, 3–10
8. आप्त० 3
9. अ० श० 3
10. अ० स० 3
11. आप्त० 4
12. वहीं, 5
13. वहीं, 6
14. अ० स० 6

परिच्छेद द्वितीय
आप्तमीमांसा के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुशीलन

प्रस्तुत परिच्छेद में आप्तमीमांसा में वर्णित सर्वज्ञ का स्वरूप, अनेकान्त वस्तु स्वरूप, स्याद्वाद, सप्तभंगी, नय, प्रमाण आदि जैनदार्शनिक सिद्धान्तों का ऐतिहासिक सन्दर्भ में समीक्षण प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न एकान्तवादों के समीक्षण करते हुए समन्तभद्र ने उनका समाधान जैनदृष्टिकोण से किया है तथा स्वसिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन भी प्रस्तुत किया है।

सर्वज्ञ संस्थिति

आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने युक्तियों– अनुमान प्रमाण आदि का आश्रय लेकर सर्वज्ञ की सिद्धि की है। इस सम्बन्ध में समन्तभद्र से पूर्व के आचार्यों ने बताया है कि भगवान महावीर के समय अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे, जो अपने अपने धर्म प्रवर्तकों को सर्वज्ञ या आप्त कहते थे। कुछ ऐसी भी परम्पराऐं थीं जो सर्वज्ञत्व का निषेध भी करती थीं। इसके फलस्वरूप भारतीय दर्शन में एक सर्वज्ञवादी परम्परा और दूसरी असर्वज्ञवादी परम्पराऐं दृष्टिगोचर होती हैं। चार्वाक और मीमांसकों को छोड़कर सभी सर्वज्ञवादी हैं। बुद्ध को प्राचीन परम्परा में धर्मज्ञ माना गया परन्तु बाद की दार्शनिक परम्परा में उन्हें धर्मज्ञ होने के साथ सर्वज्ञ भी स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में जो सर्वज्ञ है वही आप्त है और उनका मोक्ष के साथ सीधा सम्बन्ध है। प्रारम्भ से अद्यावधि इसके स्वरूप में भी कोई अन्तर नहीं पाया जाता है।

जैन परम्परा में ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। समस्त ज्ञेयों में ऐसा कोई ज्ञेय नही है जो ज्ञस्वभाव आत्मा के द्वारा न जाना जाये। ज्ञानावरण और मोहादि दोष दूर होने पर जब आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय स्वरूप प्रकट हो जाता है वस्तुतः तब सर्वज्ञता कही जाती है। षट्खण्डागम के अनुसार केवलज्ञान और केवलदर्शन से युक्त भगवान समस्त लोकाकाश को एक साथ जानते हैं।[1] कुन्दकुन्द ने आत्मा को ज्ञान प्रमाण, ज्ञान को ज्ञेय प्रमाण

और ज्ञेय को लोक प्रमाण बताकर सर्वज्ञत्व के द्वारा लोकालोक को एक साथ जानने की गुत्थी को सुलझाया है। इसी आधार पर आचार्य उमास्वामी और समन्तभद्र ने आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द को यद्यपि सर्वज्ञता सम्बन्धी चिन्तन की परम्परा पूर्वाचार्यों से प्राप्त थी और कुन्दकुन्द का उत्तरवर्ती आचार्यों ने अनुकरण भी किया परन्तु उन्होंने जो निश्चय दृष्टि से सर्वज्ञ की व्याख्या की वह अद्वितीय है। उनके अनुसार जो एक आत्मद्रव्य को जानता है, वह सब कुछ जान सकता है।[2] यह कथन सर्वज्ञ का साधक है। जीव के भाव शुभ, अशुभ और शुद्ध तीन प्रकार के होते हैं। जीवद्रव्य जब जिस स्वभाव रूप परिणमन करता है तब वह उसी रूप हो जाता है।[3] इसलिए जब जीव शुद्ध स्वभाव रूप परिणमन करता है तब जीव शुद्ध हो जाता है। शुद्ध उपयोग से युक्त होने पर जीव पदार्थों का ज्ञाता, संयम, तप से युक्त, तथा सुख दुःख को समान अनुभव करने वाला होता है।[4] यही शुद्धोपयोग अवस्था ही सर्वज्ञता की ओर ले जाने वाली है। उपयोग के पूर्ण शुद्ध होने पर ज्ञानावरणादि कर्मों का आवरण समाप्त होने पर[5] आत्मा, वास्तविक स्वभाव केवलज्ञान रूप हो जाता है। वही आत्मा स्वयम्भू कहलाती है। इसी का नाम सर्वज्ञ है।[6] वस्तुतः देखा जाये तो केवली सभी द्रव्यों को जानते हुए भी परमार्थतः वह आत्मा को ही जानते हैं।[7] इस कथन में विरोध नहीं है क्योंकि आत्मा ज्ञान के बराबर है और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। ज्ञेय सम्पूर्ण लोक तथा अलोक है। इसलिए ज्ञान सर्वगत है।[8] उमास्वामी ने केवलज्ञान का प्रतिपादन करके केवलज्ञानी के रूप में कुन्दकुन्द के सर्वज्ञ के स्वरूप का ही समर्थन किया है।[9]

दार्शनिक युग में सर्वप्रथम समन्तभद्र ने तर्क का आश्रय लेकर सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया है। उन्होंने आप्त को धर्मेश्वर कहकर उसके लिए निर्दोष, सर्वज्ञ और उसको आगम का स्वामी होना आवश्यक बताया है।[10] उन्होंने आप्तमीमांसा में सर्वज्ञसिद्धि के लिए दृष्टान्त पूर्वक निम्न प्रकार अनुमान का प्रयोग किया है11 –

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः।।

सूक्ष्म स्वभाव विप्रकृष्ट पदार्थ, अन्तरित कालविप्रकृष्ट पदार्थ और दूरवर्ती देशविप्रकृष्ट पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं। जो पदार्थ अनुमान से जांने जाते हैं, उनको कोई न कोई प्रत्यक्ष से भी जानता है। जैसे – पर्वत में अग्नि को दूरवर्ती पुरुष अनुमान से जानता है, परन्तु पर्वत पर रहने वाला पुरुष उसी को प्रत्यक्ष से जानता है। इस प्रकार सर्वज्ञ वह है जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। उनके वचन, युक्ति और आगम से अविरोधि होने के कारण यह उनकी निर्दोषता का प्रमाण है।[12]

आप्तमीमांसा के भाष्यकार अकलंक ने उस समय तक के प्रायः सभी असर्वज्ञवादियों और जैनेतर सर्वज्ञवादियों का सयुक्तिक समीक्षण करके समन्तभद्र द्वारा की गयी सर्वज्ञ सिद्धि का नवीन तर्कों द्वारा समर्थन किया है। उन्होंने बताया है कि सर्वज्ञ के सुनिश्चत बाधक प्रमाण असम्भव होने के कारण सर्वज्ञ की सत्ता में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता है। आप्तमीमांसा में सर्वज्ञ को **कश्चिदेव** कहा गया है, जिसका अर्थ कः परमात्मा **चित्** अर्थात् चैतन्य पुरुष होता है। यह चैतन्य रूप अवस्था आवरण निमित्तक लब्धि और उपयोग के संस्कारों के नाश हो जाने पर प्राप्त होती है।[12] ये चैतन्य परमात्मा ही संसारी प्राणियों के गुरु हैं। जो लोग सर्वज्ञ के साधक और बाधक प्रमाण के रूप में संशयालु बने हुए हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि जहां सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व प्रमाण हेतु है वहां सुनिश्चतासम्भवद्साधकत्व प्रमाण हेतु सम्भव नहीं हैं।[14] आत्मा का स्वभाव ज्ञान स्वरूप है। सभी वस्तुओं को जानने में इसका कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है। इसलिए समग्र ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला अज्ञ नहीं रह सकता। सभी सब पदार्थों के ज्ञाता नहीं हो सकते, क्योंकि सत् रूप चेतन के सम्बन्ध्यन्तर–ज्ञानावरणादि कर्म मोह का उदय है। जिससे मदिरा पिये हुए पुरुष की तरह जीव की ज्ञान शक्ति तिरोहित हो जाती है। जब मोह सहित ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जाता है तब उस आत्मा के त्रिकाल सम्बन्धी समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[15] सर्वज्ञत्व के लिए आत्मा के दोष और आवरण की पूर्णतः हानि होना नितान्त आवश्यक है। दोष जीव का तथा

आवरण पुद्गल का स्वभाव है। इन दोनों में कार्यकारण सम्बन्ध होने के कारण इनकी हानि सिद्ध की गयी है, जो पूर्ण रूप से अर्हन्त में सम्भव है। यह हानि अत्यन्ताभाव न होकर प्रध्वंसाभावरूप होती है।[16] वस्तुतः सर्वज्ञ का अभाव तथा उसके सद्भाव का संशय किसी को भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्रमेय, सत् और वस्तु होने से वे सूक्ष्म आदि पदार्थ किसी के अवश्य ही प्रत्यक्ष हैं।[17]

न्यायविनिश्चय में अकलंक ने सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करते हुए बताया है कि सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों में संवादी और स्पष्ट होता है। उसमें इन्द्रियों की आंशिक भी सहायता नहीं होती। यदि ऐसा नहीं होता तो सूर्य, चन्द्र ज्योतिर्ग्रहों का ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओं और उनसे होने वाला शुभाशुभ का अविसंवादी उपदेश इन्द्रियों की अपेक्षा के विना भी कैसे हो सकेगा। एक अन्य युक्ति द्वारा उन्होंने बताया है कि अणु की तरतमता देखे जाने से जैसे वह अपने परिणाम से बढ़कर आकाश में महापरिणाम या विभुत्व का रूप ले लेता है, उसी प्रकार ज्ञान के प्रकर्ष में भी तारतम्य देखा जाता है। अतः जहां ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है, वहां सर्वज्ञता आ जाती है।[18]

देवागमन आदि विभूतियों[19] अन्तरंग बहिरंग अतिशयता[20] आदि मात्र से सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। सभी तीर्थंकरों–कपिल, सुगत आदि में परस्पर विरोध पाये जाने के कारण उनमें भी आप्तत्व सम्भव नहीं है।[21] आप्त–सर्वज्ञ वही है जिसके आत्मा के दोष और आवरण के क्षय हो जाने पर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता। जिस प्रकार मल विरोधी कारणों को पाकर बाह्य और अन्तरंग मल पूर्णतः क्षय हो जाता है, उसी प्रकार विरोधी कारणों को पाकर दोष और आवरण की पूर्ण हानि में अतिशय पाया जाता है।[22]

अनेकान्त

आप्तमीमांसा में सद्वाद–असद्वाद, एकवाद–अनेकवाद, नित्यवाद–अनित्यवाद और वक्तव्यवाद–अवक्तव्यवाद आदि अनेक एकान्तवादों की

मीमांसा की गयी है। इस मीमांसा में सर्वत्र अनेकान्तवाद, नय और स्याद्वाद का आश्रय लिया गया है। इससे पूर्व कुन्दकुन्द ने सत्ता को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप प्रतिपक्षी धर्मो से युक्त अनेक रूप और अनन्त पर्यायों से सहित बताया तथा उसी को द्रव्य कहा।[23] उन्होंने बताया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त होता है। विनाश द्रव्य का नहीं होता अपितु पर्याय का होता है।[24] ये उत्पाद और विनाश तभी घटित हो सकते हैं जब स्थिति को माना जाये।[25] इस दृष्टि को ध्यान में रखकर उन्होंने द्रव्य में स्थिति को माना।[26] अभेद दृष्टि की विवक्षा से उन्होंने द्रव्य को ही उत्पादादि त्रयात्मक बतलाया।[27] तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी ने भी इसी का समर्थन किया है।[28] समन्तभद्र की यह विशेषता है कि उन्होंने इस उत्पादादि त्रयात्मकता का गम्भीर तार्किक विश्लेषण उपस्थित किया है। उनके अनुसार एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति गौण रूप से होती है। इसलिए तत्त्व भावाभावात्मक है और एकानेकात्मक है।

तत्त्व सर्वथा नित्य या अनित्य मानने पर प्रत्यभिज्ञा, स्मृति, पुण्य पाप, बन्ध मोक्ष, आपसी रिश्ते आदि कुछ भी नहीं बन सकते। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य, पर्याय रूप परिणमन से बंधा है। द्रव्य की अपेक्षा किसी भी पदार्थ का न उत्पाद होता है और न व्यय सिर्फ उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। इस प्रकार वस्तु नित्यानित्यात्मक एवं त्रयात्मक है। उत्पाद और विनाश लक्षण की अपेक्षा से अलग अलग हैं। वस्तुतः जाति के अवस्थान के कारण उसमें कोई भेद नहीं है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी हैं।[29] जिस प्रकार सुवर्ण घट, सुवर्ण मुकुट और मात्र सुवर्ण के इच्छुक व्यक्ति के उदाहरण में तीनों अवस्थाएं दृष्टिगोचर हो जाती है। इसी को स्पष्ट करने के लिए समन्तभद्र ने गोरस का भी उदाहरण दिया है।[30]

भेद और अभेद वास्तविक होते हुए भी इनमें किसी एक को अवास्तविक मानने पर दृष्टि दोषपूर्ण हो जाती हैं। अभेद और भेद आपस में विरुद्ध इसलिए दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि इनमें से किसी एक को पूर्ण प्रमाण मान लिया जाता है। अनेकान्तवाद में दोनों दृष्टियों को अविरुद्ध रूप में वास्तविक माना गया है। अभेद और भेद या द्रव्य एवं पर्याय में कथंचित्

एक्य है, क्योंकि उनको एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। इनमें जो भेद या नानात्व पाया जाता है, उसके निम्न कारण हैं।[31] द्रव्य और पर्याय में परिणाम शक्तिमान और शक्तिभाव का भेद है। दोनों में संज्ञा, संख्या, स्वभाव और प्रयोजन का भेद है।

आप्तमीमांसा में वक्तव्यवाद– अवक्तव्यवाद, अपेक्षावाद–अनपेक्षावाद आदि एकान्तिक मान्यताओं की समीक्षा पूर्वक बताया गया है कि उनमें कब किस अंश में सत्यता असत्यता हो सकती है। यदि अनेकान्त का आश्रय लिया जाये तो भाव अभाव रूप परस्पर विरुद्ध दिखने वाले धर्मों के साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वस्तु में अनन्त धर्म पाये जाते हैं। वस्तुतः प्रत्येक धर्मों का अर्थ भिन्न भिन्न होते हुए भी विवक्षित या अर्पित धर्म की दृष्टि से उनका मुख्य रूप में अविवक्षित या अनर्पित की दृष्टि से गौण रूप में रहने में कोई आपत्ति नहीं है।[32]

आप्तमीमांसा के अतिरिक्त समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन आदि ग्रन्थों में भी अनेकान्त के स्वरूप आदि का विवेचन किया है।[33] स्वयम्भूस्तोत्र में एक विशेष बात यह कही गयी है कि किस प्रकार अनेकान्त में भी अनेकान्त घटित होता है। इसमें बताया गया है कि अनेकान्त भी प्रमाण और नय साधनों से युक्त होने के कारण अनेकान्त स्वरूप होता है तथा इसमें विवक्षित नय की अपेक्षा से एकान्त रूप भी सिद्ध होता है।[34]

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। आप्तमीमांसा में बताया गया है कि जिस प्रकार असाधरण हेतु भेद की विवक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक दिखाई देता है, उसी प्रकार सत्ता सामान्य की अपेक्षा से समस्त तत्त्व एक रूप हैं। भेद या अनेकता द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि से है।[35] यह सत्ता और द्रव्य तीनों कालों को विषय करने वाले नयों और उपनयों के विषयभूत अनेक धर्मों के तादात्म्य सम्बन्ध को प्राप्त होकर समुदाय के रूप में अवस्थित हैं।[36] यद्यपि अनन्तधर्म वाले प्रत्येक धर्मी के प्रत्येक धर्म का अर्थ भिन्न भिन्न है पर वे सर्वथा रूप से अलग होकर नहीं रहते अपितु उनमे भेद विवक्षा से अनेक और अभेद की विवक्षा से एक दिखाई देता है

उसी प्रकार सत्ता सामान्य की अपेक्षा से समस्त तत्त्व एक रूप हैं। भेद या अनेकता द्रव्य, गुण और पर्याय की दृष्टि से हैं।[37] वस्तु त्रयात्मक है। प्रत्येक द्रव्य, पर्याय रूप परिणमन से बंधा है। द्रव्य की अपेक्षा किसी भी पदार्थ का न उत्पाद होता है और न व्यय, मात्र उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं। उत्पाद और विनाश लक्षण की अपेक्षा से अलग अलग हैं। वस्तुतः जाति के अवस्थान के कारण उनमें कोई भेद नहीं है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर अविनाभावी हैं।[38] वस्तु के सम्बन्ध में इस त्रयात्मकता को सुवर्ण का उदाहरण देकर समझाया गया है।[39] जिसका विस्तृत विवेचन पूर्व के अध्याय में दृष्टव्य है।

आप्तमीमांसा में अनेकान्तात्मक अर्थ के नियमन के सम्बन्ध में बताया गया है कि वस्तु अनन्त धर्म वाली होने से उसमें अस्तित्व नास्तित्व आदि सभी धर्मों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। इसलिए एकान्त दृष्टि से सर्वथा तत् रूप या सर्वथा अतत् रूप में तत्वार्थ का प्रतिपादन वचनों के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए उस अनेकान्तात्मक अर्थ का नियमन विधि और निषेध वाक्यों के द्वारा हो सकता है क्योंकि अर्थ विधि और निषेध उभय रूप है।[40] अनेकान्तवाद एकान्तवादों का मिश्रित रूप न होकर एक स्वतन्त्र दृष्टि है, जिसके द्वारा वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रतिभासित होता है।

स्याद्वाद

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होने से कोई भी वाक्य केवलज्ञान की तरह अपने वाच्य को एक साथ नहीं कह सकता। इसलिए वक्ता का प्रयोजन भी पूर्ण हो जाये और वस्तु के वास्तविक स्वरूप को भी हानि न पंहुचे, एतदर्थ जैनदर्शन में जो पदार्थ के कथन करने की पद्धति है, उसका नाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद का शाब्दिक अर्थ

स्याद्वाद 'स्यात्' और वाद शब्दों से मिलकर बना है। अस् धातु से विधिलिंग में 'स्यात्' शब्द बनता है। आप्तमीमांसा के अनुसार यह स्यात् शब्द तिङन्त

प्रतिरूपक निपात है। यह स्यात् शब्द वाक्यों में अनेकान्त का द्योतक है। इसका अर्थ के साथ सम्बन्ध है। गम्य अर्थ का विशेषण है और केवलियों तथा श्रुतकेवलियों को भी अभिमत है।[41] व्याख्याकार अकलंक की दृष्टि में स्यात् निपात् भी एवकार आदि निपातों की तरह है। इसलिए यह वाक्यों एवं विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से प्रकृत अर्थ के स्वरूप को पूर्ण रूप से सूचित करता है। निपात द्योतक भी होते हैं। अतः स्यात् शब्द के अनेकान्त के द्योतक होने में भी कोई दोष नहीं है।[42] विद्यानन्द के अनुसार **सामान्योपकम विशेषाभिधानम्** अर्थात् सामान्य के उपकम होने पर विशेष का कथन होता है, इस न्याय से **स्याज्जीवः** यहां जीवादि पद के ग्रहण करने में भी कोई विरोध नहीं हैं। केवल स्यात् शब्द के प्रयोग से अनेकान्त सामान्य की ही प्रतिपत्ति सम्भव है। सूचक पक्ष में तो गम्य अर्थ का विशेषक होने से स्यात् शब्द गम्य अर्थ का विशेषण होता है। कोई भी वचन केवलज्ञान की तरह सम्पूर्ण वस्तु का युगपत् अवगाहन नहीं कर सकता है। जिससे उस वाक्य के अभिधेय अर्थ के विशेष रूप का सूचक स्यात् शब्द का वाक्य में प्रयोग न किया जाये।[43]

आप्तमीमांसा के अतिरिक्त समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों में बताया गया है कि पद का वाच्य एक और अनेक दोनों रूप होता है। इसलिए स्यात् निपात् के उभय अर्थ होने में कोई आपत्ति नहीं है। जिस प्रकार वृक्षाः यह पदज्ञान और सद् शब्द का वाच्य एक और अनेक दोनो हों तो अस्ति का प्रयोग करने पर नास्तित्व के भी बोध का प्रसंग आने से दूसरे पद नास्ति का प्रयोग निरर्थक हो जायेगा। इसका समाधान समन्तभद्र के इस कथन से हो जाता है[45] –

आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेतं नियमेऽपवादः।।

अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु के अस्तित्वादि किसी एक धर्म का प्रतिपादन करने पर उस समय गौणभूत नास्तित्वादि दूसरे धर्म के प्रतिपादन में जिसकी आकांक्षा रहती है ऐसे आकांक्षी सापेक्षवादी का स्यात् यह निपात गौण की अपेक्षा न रखने वाले नियम में निश्चित् रूप से बाधक होता है।

वसुनन्दि ने आप्तमीमांसावृत्ति में लिखा है कि अस्तिशब्दः आदि वाक्यों में अस्तित्व आदि गम्य है और स्यात् शब्द अस्तित्व आदि का समर्थक है।[46]

स्याद्वाद का स्वरूप

आप्तमीमांसा में स्याद्वाद का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है[47] –

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षा हेयादेयविशेषकः।।

अर्थात् सर्वथा एकान्त का त्याग करके कथंचित् विधान करने का नाम स्याद्वाद है। वह सात भंगों और नयों की अपेक्षा रखता है तथा हेय उपादेय भेद का व्यवस्थापक है।

समन्तभद्र के अनुसार एकान्तवाद में कोई भी व्यवस्था सम्भव नहीं है। वस्तु व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि सर्वथा एकान्त का त्याग कर दिया जाये। एकान्त के त्याग के लिए उन्होंने किंवृत्तचिद्विधिः का प्रयोग आवश्यक बताया है। अकलंक ने इसका कथंचित् अर्थ करके उसको स्याद्वाद का पर्याय माना है।[48] स्वयम्भूस्तोत्र के टीकाकार प्रभाचन्द्र ने स्याद्वादः उवते प्रति वाचते ये नासांवादः शब्दः स्यादिति वादो वाचकः शब्दो यस्यानेकान्तवादस्यासां स्याद्वादः।[49]

स्याद्वाद और केवलज्ञान

जब युगपत् सर्वावभासक ज्ञान को स्याद्वाद रूप माना जाता है तब केवलज्ञान और स्याद्वाद में क्या अन्तर है, इसका समाधान बताते हुए समन्तभद्र ने लिखा है कि सभी तत्त्वों के प्रकाशक रूप में स्याद्वाद और केवलज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर उनके परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप जानने में है।[50] अर्थात् स्याद्वाद असाक्षात्–परोक्ष रूप में तत्त्वों को जानता है और केवलज्ञान साक्षात्–प्रत्यक्ष रूप में सभी तत्त्वों को जानता है।

अकलंक और विद्यानन्द ने अपनी व्याख्यायों में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान का एक साथ होने का तात्पर्य यह

है कि दोनों में से कोई एक पूज्य नहीं है, अपितु दोनों ही पूज्य हैं। इसका करण यह है कि दोनों एक दूसरे के हेतु हैं। केवलज्ञान से स्याद्वाद रूप आगम की उत्पत्ति होती है और स्याद्वाद रूप आगम के अभ्यास से केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहां यह आशंका हो सकती है कि श्रुतज्ञान की परिभाषा के अनुसार वह द्रव्यों की कुछ ही पर्यायों को जानता है। इसलिए स्याद्वाद श्रुत, केवलज्ञान की तरह सभी तत्त्वों का प्रकाशक कैसे हो सकता है, इसका समाधान यह दिया गया है कि स्याद्वाद सर्व तत्त्वों का प्रकाशक पर्याय की अपेक्षा से नहीं है, अपितु द्रव्य की अपेक्षा से है। जीवादि सात तत्त्वों का प्रकाशन जिस प्रकार केवलज्ञान करता है उसी प्रकार स्याद्वाद भी, अन्तर मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का हैं।[51]

इस प्रकार आप्तमीमांसा में स्याद्वाद के स्वरूप, महत्त्व, उपयोगिता आदि का प्रतिपादन किया गया है तथा उसमें बताया गया है कि स्याद्वाद निर्दोष है, इसका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ कोई विरोध नहीं है तथा यह अभिप्रेत अर्थ विशेष की प्राप्ति का सच्चा साधन है।

सप्तभंगी

सातभंगों और नयों के विना स्याद्वाद को नहीं समझा जा सकता। जितने अभिप्राय हैं उंतनी ही सप्तभंगियां हैं। अवगत हो अनन्त धर्मों की अपेक्षा अनन्त सप्तभंगियां तो बन सकती हैं, पर अनन्त भंगी नहीं बनती। वस्तुतः विधि और निषेध के विकल्प से अर्थ में शब्द की प्रवृत्ति सात प्रकार से की जा सकती है, वही सप्तभंगी कहलाती है।

आप्तमीमांसा में निम्नलिखित सात भंग बतलाये गये हैं[52]–

1. कथंचित् सत्
2. कथंचित् असत्
3. कथंचित् उभयात्मक
4. कथंचित् अवाच्य
5. कथंचित् सत् अवाच्य
6. कथंचित् असत् अवाच्य
7. कथंचित् सतासत् अवाच्य

आप्तमीमांसा के अतिरिक्त समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों में भी इन सात भंगों का वर्णन पाया जाता है।[53] समन्तभद्र के पूर्व कुन्दकुन्द ने

1. स्यात् अस्ति 2. स्यात् नास्ति 3. स्यात् उभय 4. स्यात् अवक्तव्य 5. स्यात् अस्ति अवक्तव्य 6. स्यात् नास्ति अवक्तव्य 7. स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य – ये सात भंग बताये हैं।[54]

अकलंक ने सप्तभंगी का स्वरूप बताते हुए लिखा है कि **प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी** अर्थात् प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरुद्ध विधि और निषेध की कल्पना को सप्तभंगी कहते हैं।[55] अपरिमित जितने भी विधेय हैं वे सदा एक दूसरे की अपेक्षा को लिए हुए रहते हैं। कोई भी धर्म या विशेष एक दूसरे की अपेक्षा से रहित कभी नहीं होते तथा वे सप्तभंग के नियम को अपना विषय किये रहते हैं।[56] सात ही भंग होने का समाधान यह दिया जाता है कि वस्तु में सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं, उससे अधिक नहीं। सात प्रकार के प्रश्न होने के कारण वस्तु में सात प्रकार की जिज्ञासा है। सात प्रकार की ही जिज्ञासा क्यों होती है, इसका कारण सात प्रकार के संशय हैं। संशय सात प्रकार का इसलिए होता है[57] क्योंकि संशय का विषयभूत धर्म सात प्रकार का है।[58]

कथंचित् सत् और कथंचित् असत्

स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ सत् हैं तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ असत् रूप हैं।[58] सभी पदार्थ सभी पदार्थों के कार्यों को नहीं कर सकते हैं। इसलिए तत्त्व को सदसदात्मक मानना आवश्यक है। जिस प्रकार पट का कार्य शरीर का आच्छादन आदि कार्य करना है और घट का कार्य जलाहरण आदि। इस प्रकार पट और घट दोनों के कार्य अलग अलग हैं। पट के कार्य को घट नहीं कर सकता क्योंकि पट स्व से सत् है, पररूप से नहीं। यदि घट पट रूप से भी सत् होता, तो उसे पट का कार्य करना चाहिए था, लेकिन ऐसा देखा नहीं जाता यही बात सर्वत्र उपलब्ध होती है।[59]

अस्तित्व और नास्तित्व

अस्तित्व और नास्तित्व के सम्बन्ध में ये विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं कि तत्त्व अस्तित्व रूप ही है और नास्तित्व पद वस्तु के आश्रित है। इसलिए

ये एक वस्तु के स्वरूप कैसे हो सकते हैं। आप्तमीमांसा में इसका यह सामाधन दिया गया है कि अस्तित्व और नास्तित्व विशेष्य के विशेषण हैं। अतः अस्तित्व नास्तित्व का और नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावी है। द्रष्टव्य है कि साध्य का धर्म अपेक्षा भेद से हेतु भी होता है और अहेतु भी। इसी तरह शब्द का विषय होने से विशेष्य विधेय और प्रतिषेध्यात्मक होता है।[60]

कथंचित् सदसत् आदि पांच भंग

कथंचित् सत् और असत् की कम से विवक्षा होने पर वस्तु उभयात्मक है तथा एक साथ विवक्षा होने से कथन की असामर्थ्य के कारण अवाच्य है। इसी प्रकार स्यादस्ति अवक्तव्य आदि तीन भंग भी अपने कारण से बन जाते हैं।

प्रमाण

सामान्य रूप से भारतीय दर्शनों में प्रमीयते येन तत्प्रमाणम् अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो, उस धारा का नाम प्रमाण है। जैनदर्शन में जो जानने की प्रमारूप किया है, वह चेतन होने से उसमें साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही हो सकता है, क्योंकि जानने रूप किया ज्ञान गुण की पर्याय है। इस दृष्टि से उसमें साधकतम करण ज्ञान ही होता है। जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य नैयायकादि प्रमा में साधकतम इन्द्रियां और सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं। इसलिए मौलिक दृष्टि से जैन तथा अन्य परम्पराओं में प्रमाण के लक्षण में पार्थक्य पाया जाता है।

प्रमाण की व्युत्पत्ति करते हुए पूज्यपाद ने बताया है कि **प्रमिणोति प्रमीयतेनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्**[61] जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमिति मात्र प्रमाण है। प्रमाण के द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं और जीवादि पदार्थों के ज्ञान में प्रमाण को कारण मानने पर अनवस्थादि दोष नहीं आते। जिस प्रकार दीपक घटादि पदार्थों के प्रकाश करने में और अपने स्वरूप के प्रकाश करने में हेतु होने से उसे प्रकाशान्तर नहीं खोजना पड़ता, उसी प्रकार

प्रमाण भी है।[62] तत्त्वार्थवार्तिक में बताया गया है कि प्रमाण शब्द भाव, कर्तृ और करण तीनों साधनों में निष्पन्न होता है। जब भाव की विवक्षा होती है तब प्रमा को प्रमाण कहा जाता है। जब कर्तृ की विवक्षा होती है तब प्रमातृत्व शक्ति की मुख्यता से प्रमाण कहा जाता है तथा करण विवक्षा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है।[63]

प्रमाण का स्वरूप

जैन परम्परा में अद्यावधि ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है। जैनाचार्यों ने ज्ञान पद के साथ सम्यक्, तत्त्व, स्वपरावभाषक, अनधिगतार्थ, व्यवसायात्मक, बाधविवर्जित, अविसंवाद, अपूर्व आदि विशेषण जोड़कर प्रमाण की परिभाषायें दी हैं। दार्शनिक युग के प्रथम आचार्य और इस अर्थ में जैन वांङ्मय में प्रमाण शब्द का प्रथम वार प्रयोग करने वाले आचार्य उमास्वामी ने ज्ञान का प्रमाणों में वर्गीकरण करके भी प्रमाण की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। इनके परवर्ती आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण की स्पष्ट परिभाषा देने के साथ उसके भेद, फल और विषयादि सहित प्रमाण की तार्किक चर्चा का सूत्रपात किया। उन्होंने लिखा है कि[64] –

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
कमभावी च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।।

अर्थात् युगपत् सभी का अवभास कराने वाला तत्त्वज्ञान प्रमाण है। स्याद्वाद, नय संस्कृत कमभावि ज्ञान भी प्रमाण हैं।

समन्तभद्र ने तत्त्वज्ञान को प्रमाण इसलिए कहा कि जिससे. जो ज्ञान तत्त्वज्ञानात्मक नहीं हैं वे प्रमाण न माने जा सकें। इससे बौद्धों द्वारा मान्य निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने का आग्रह समाप्त हो जाता है, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। इसी प्रकार नैयायिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं। सन्निकर्ष भी अज्ञान रूप होने से प्रमाण नहीं है। सांख्य द्वारा मान्य इन्द्रियवृत्ति भी अचेतन और अज्ञान रूप होने से प्रमाण नहीं है।[65] जो स्व और पर का व्यवसायात्मक निश्चयात्मक ज्ञान है, वही प्रमिति के प्रति साधकतम होता है। तत्त्वज्ञान प्रमिति के प्रति साधकतम है,

इसलिए वह प्रमाण है। प्रमाता और प्रमेय प्रमिति के प्रति साधकतम नहीं हैं, क्योंकि प्रमाता कर्ता है और प्रमेय कर्म है। इसलिए प्रमाता और प्रमेय प्रमाण नहीं है। ये तो मात्र साधक हैं।[66]

तत्त्वज्ञान को प्रमाण मानने के सम्बन्ध में अकलंक का यह विचार है कि तत्त्वज्ञान सर्वथा प्रमाण नहीं है, वह कथंचित् प्रमाण है। क्योंकि तत्त्वज्ञान को प्रमाण मानने में अनेकान्त है। एक वस्तु में अनेक आकार रहते हैं। उन आकारों में से जिस आकार से तत्त्व का ज्ञान होता है, उसकी अपेक्षा से वह ज्ञान प्रमाण है अन्य आकारों की अपेक्षा से वह प्रमाण नहीं है।[67] यही कारण है कि प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास में भी संकीर्ण विजातीयता के संयोगरूप प्रामाण्य और अप्रामाण्य का सद्भाव पाया जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष हो या प्रत्यक्षाभास दोनों में कथंचित् प्रमाणता और अप्रमाणता पायी जाती है। उदाहरण के लिए चन्द्र और सूर्य का प्रत्यक्ष तो सत्य है पर उनमें निकटता की प्रतीति होना मिथ्या है। इस दृष्टि से चन्द्र और सूर्य में प्रत्यक्ष रूप प्रमाणता रहने के साथ कुछ अंश नैकट्य रूप अप्रमाणता का भी है। कांचकामल आदि दोषों के प्रभाव से कभी कभी एक चन्द्रमा में द्विचन्द्रत्व की भी प्रतीति होती है, जिसको प्रत्यक्षाभास माना गया है। वहां द्वित्व संख्या का ज्ञान प्रमाण नहीं है, प्रत्यक्षाभास है, फिर भी उसमें चन्द्र का ज्ञान प्रमाण है। इस दृष्टि से प्रत्यक्षाभास में भी आंशिक प्रमाणता पायी जाती है।[68] यहां यह आशंका होना स्वाभाविक है कि जब ज्ञान प्रमाणाप्रमाण रूप है तब किसी ज्ञान को प्रमाण और किसी ज्ञान को अप्रमाण क्यों कहा जाता है।[69] इसका समाधान यह दिया गया है कि गन्ध द्रव्य की तरह संवाद और विसंवाद के प्रकर्ष की अपेक्षा से ज्ञान में प्रमाण और अप्रमाण का व्यवहार होता है।[70] जिस प्रकार कस्तूरी में गन्ध गुण की अधिकता होने से उसे गन्ध द्रव्य कहा जाता है उसी प्रकार जिस ज्ञान में संवाद के अंश अधिक और विसंवाद के कम होंगे उसे प्रमाण कहा जायेगा एवं जिस ज्ञान में विसंवाद के अंश अधिक और संवाद के कम होंगे उसे अप्रमाण कहा जायेगा।[71] यही प्रमाण व्यवस्था अनुमान आदि प्रमाणों और प्रमाणाभासों में घटित होता है।[72] प्रमाण और अप्रमाण के विषय में सर्वथा एकान्त की

कल्पना करने पर अन्तरंग या बहिरंग किसी भी प्रकार के तत्त्व का संवेदन सिद्ध नहीं हो सकता।[73] तत्त्वज्ञान प्रमाण है और प्रमाण तत्त्वज्ञान रूप है। प्रमाणों में पाया जाने वाला प्रतिभासभेद कारण सामग्री के भेद से होता है।[74] प्रत्यक्ष विशद है और लिंग आदि से उत्पन्न होने के कारण अनुमान आदि अविशद हैं। इस प्रकार प्रतिभास भेद होने पर भी उन प्रमाणों की प्रमाणता में कोई अन्तर नहीं आता।[75] इस प्रकार तत्त्वज्ञान को प्रमाण मानने में कोई दोष नहीं है।

समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित तत्त्वज्ञान प्रमाण से सम्बन्धित उपर्युक्त विवेचन से ज्ञान की स्व और पर अवभासकता सिद्ध हो जाती है। जिसको उन्होंने अन्यत्र[76] प्रमाण का लक्षण भी कहा है। समन्तभद्र के बाद सिद्धसेन ने स्वपरावभासी बाधारहित ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बताया है।[77] उन्होंने प्रमाण लक्षण की आवश्यकता पर बल देते हुए लिखा है कि प्रमाण एवं उसके कार्य की स्वयं प्रसिद्धि है, फिर भी उसको प्रतिपादित करने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि जिन मन्द बुद्धि वाले लोगों की प्रमाण के विषय में पहचान नहीं है उनका व्यामोह दूर हो जाये।[78] पात्रस्वामी ने भी प्रमाण के लक्षणों पर प्रकाश डाला है, पर वर्तमान में उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद ने ज्ञानों में ही प्रमाणता को विभिन्न तर्कों द्वारा सिद्ध किया है।[79] अकलंक ने अविसंवादी और अनधिगतार्थग्राही इन दो नये पदों का समावेश करके अवभासक के स्थान पर व्यवसायात्मक पद का प्रयोग किया है।[80] प्रमाण परीक्षा में आचार्य विद्यानन्द ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का लक्षण बताकर उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है।[81] उन्होंने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थ को जाने या अगृहीत को वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से ही प्रमाण है।[82] आचार्य माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के लक्षण में अपूर्व विशेषण का समावेश करके स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[83] परन्तु उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने सम्यग्ज्ञान या सम्यक् अर्थ निर्णय को ही प्रमाण माना है।[84]

प्रमाण के भेद

आप्तमीमांसा में युगपद्सर्वभासी (अक्रमभावी) और क्रमभावी के रूप में प्रमाण के दो भेद किये गये हैं।[85] जैनदर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाण के दो भेद सभी आचार्यों नें स्वीकार किये हैं, परन्तु देश, काल परिस्थितियों के अनुसार बढ़ते दार्शनिक प्रभाव के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद के सम्बन्ध में दो दृष्टियां दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम आगमिक दृष्टि और दूसरी दार्शनिक दृष्टि। प्रथम दृष्टि से केवल आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान केवलज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना गया है। तत्पश्चात् उमास्वामी ने इन्द्रिय और मन के सहयोग से उत्पन्न होने वाले आत्मिक ज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान को भी केवलज्ञान के साथ प्रत्यक्ष माना। समन्तभद्र ने युगपद् सर्वभासी केवलज्ञान को वास्तविक प्रमाण मानकर अक्रमभावी ज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण तथा क्रमभावी के रूप में मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय को लेकर उनका परोक्ष प्रमाण की ओर संकेत किया हैं। वस्तुतः समन्तभद्र के सामने दार्शनिक युग का दुहरा दायित्व आ गया था। एक ओर उन्हें पूर्वाचार्य परम्परा द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों का संरक्षण करना था। दूसरी ओर प्रमाणशास्त्र के रूप में विकसित हो रहीं अन्य दार्शनिक परम्पराओं के साथ इनका सामंजस्य भी स्थापित करना था। समन्तभद्र ने बड़ी ही कुशलता के साथ इस दुहरे दायित्व का निर्वाह किया है। प्रमाण भेद विषयक समन्तभद्र की यह परम्परा आगे नहीं बढ़ सकी। बाद के सभी जैन आचार्यों ने उमास्वामी का अनुकरण किया है।

प्रमाण का विषय

आप्तमीमांसा में[86] प्रमाण का विषय प्रमाणगोचरौ सन्तो भेदाभेदौ कहकर समन्तभद्र ने स्पष्ट कर दिया है अर्थात् प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति का भेदाभेदात्मक या सामान्य विशेषात्मक तत्त्व में ही उपलब्धि होने के कारण वही प्रमाण का विषय है।

प्रमाण का फल

भारतीय दर्शनों में ज्ञान की उपादेयता अज्ञान निवृत्ति के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति माना गया है। जैनाचार्यों की भी प्रायः यही विचारधारा रही है। परम्परागत

प्राप्त इस चिन्तन को सर्वप्रथम कुन्दकुन्द ने सयुक्तिक आत्मा को ज्ञानमय बताकर उसे मोक्ष के साथ संयुक्त कर दिया। आप्तमीमांसा में ज्ञानों की तरतमता के आधार पर युगपद् सर्वावभासक ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा, कमभावी ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा अथवा हेय एवं उपादेय बुद्धि बताकर सामान्य रूप से सभी ज्ञानों के प्रमाण का फल अपने विषय में अज्ञान का नाश बताया गया है।[87]

प्रमाण फल के दो रूप

अकलंक ने प्रमाण के साक्षात् फल और परम्पराफल इन दो फलों को मानकर प्रमाणफल का विवेचन किया है। उन्होंने साक्षात्फल को प्रमाण से कथंचित् अभिन्न और परम्पराफल को प्रमाण से कथंचित् भिन्न माना है। युगपद् सर्वभासक प्रमाण का साक्षत्फल अज्ञान की निवृति है एवं परम्परागत उपेक्षा है। मति आदि ज्ञानों – कमभावी प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञान की निवृत्ति है तथा इनका परम्पराफल हान, उपादान और उपेक्षा है, परन्तु इनका परम्परागतफल प्रयोजन पर निर्भर करता है। यदि प्रयोजन इष्ट है तो उसका ग्रहण और प्रयोजन इष्ट नहीं है तो उसका त्याग किया जाता है, प्रयोजन के अभाव में उसकी उपेक्षा की जाती है।[88]

प्रमाणफल : भिन्नत्व या अभिन्नत्व

अकलंक के अनुसार प्रमाण (करण) से फल (किया) कथंचित् भिन्न भी होती है और कथंचित् अभिन्न भी।[89] वस्तुतः प्रत्येक ज्ञान प्रमाण भी है और फल भी। कम से उत्पन्न होने वाले अवग्रह आदि ज्ञानों में से पूर्व पूर्व का ज्ञान प्रमाण और उसका उत्तर उत्तर का ज्ञान फल होता है।[90] प्रमाण फल की यह व्यवस्था जैनदर्शन के प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। विद्यानन्द ने अज्ञान निवृत्ति रूप स्वार्थ व्यवसिति को प्रमाण फल की व्याख्या में और जोड़कर अपनी प्रखर तार्किक बुद्धि का परिचय दिया है।[91]

प्रमाणाभास

समन्तभद्र की दृष्टि से प्रमाण का स्वरूप जिसमें घटित न हो वह प्रमाणाभास है। उन्होंने इसकी चर्चा निम्न प्रकार की है –

1. ज्ञान के मिथ्या होने से प्रमाणाभास होता है। प्रमाण के विना प्रमाणाभास नहीं होता है।[92]
2. प्रमाणाभास के निह्नव होने पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने वाले सभी लोगों के कार्य की सिद्धि हो जाती है।[93]
3. भाव–ज्ञान को प्रमेय मानने की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। बाह्य अर्थ को प्रमेय मानने की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों होता है।[94]
4. प्रमा शब्द की तरह माया आदि भ्रान्ति की संज्ञायें भी अपने भ्रान्ति रूप अर्थ से युक्त हैं।[95]
5. प्रमाण के भ्रान्त होने पर बाह्य और अन्तरंग दोनों अर्थ भ्रान्त होते हैं।[96]

आप्तमीमांसा में नय

ज्ञान की दो वृत्तियां मानी गयी हैं – 1. प्रमाण और 2. नय। प्रमाण सकलादेशी है और नय विकलादेशी। वस्तु की अनेकान्तात्मकता और विभिन्न मनुष्यों के दृष्टिकोण, नय के मूल कारण हैं। अपने पूर्वाचार्यों की तरह ही समन्तभद्र ने अनेकान्त की सिद्धि के लिए प्रमाण और नय इन दो साधनों का प्रतिपादन किया है।[97]

आप्तमीमांसा में नय का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है[98]–

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः।

अर्थात् जो स्याद्वाद द्वारा गृहीत अर्थ के विशेष नित्यत्व आदि धर्मों का जो अलग अलग कथन करता है, वह नय कहलाता है। धर्मों को विषय करने वाले नय प्रमाण के अंश हैं। प्रमाण स्याद्वाद रूप है। इसलिए नय विशारदों को एक अनेक आदि धर्मों में भी सात भंग वाली प्रकिया की नय के अनुसार योजना करना चाहिए[99] क्योंकि निरपेक्ष नय मिथ्या हैं।[100]

सापेक्ष नय और निरपेक्ष नय

नय परस्पर सापेक्ष होकर ही व्यवहार में साधक हो सकते हैं। जो अंश–नय परस्पर निरपेक्ष होते हैं, वे पुरुषार्थ के हेतु नहीं हो सकते हैं।[101] सापेक्ष और

निरपेक्ष नय के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि सम्यक् नय और मिथ्या नय के रूप में नय के दो भेद परवर्ती दार्शनिकों के लिए सुनय दुर्नय[102] आदि भेद करने के लिए पृष्ठभूमि रही।

प्रमाण सप्तभंगी : नय सप्तभंगी

आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने प्रमाण सप्तभंगी और नय सप्तभंगी का भी विवेचन किया है। जिसका बाद के आचार्यों ने अनुकरण किया है। वस्तु के अनन्त धर्मों को ध्यान में रखकर सप्तभंगी की प्रकिया बतायी गयी है। नय की अपेक्षा से वस्तु सत् आदि रूप है, सर्वथा नहीं।[103] अनन्त धर्म वाले धर्मी के प्रत्येक धर्म का अर्थ भिन्न भिन्न होता है। एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति गौण रूप से होती है। इसलिए समन्तभद्र ने भिन्न भिन्न अर्थ समझने के लिए एक अनेक आदि धर्मों में भी नय के अनुसार सप्तभंगी प्रकिया की योजना को आवश्यक बताया है।[104] इससे स्पष्ट है कि उन्होंने नय सप्तभंगी के साथ प्रमाण सप्तभंगी का नाम नहीं लेने पर भी दोनों का प्रतिपादन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आप्तमीमांसा में जैनदर्शन के उन समस्त तत्त्वों एवं सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, जो परवर्ती आचार्यों के चिन्तन में विकास को प्राप्त हुआ।

सन्दर्भ

1. षट्ख0पर्या0सू078
2. प्र0 सार 1. 48, 49
3. वहीं, 1. 9
4. वहीं, 1. 14
5. वहीं, 1. 15
6. वहीं, 1.16
7. नि0सा0 159
8. प्र0सा0 1.23
9. त0सूत्र 1.29 एवं 10.1
10. रत्न0 1
11. आप्त0 5
12. वहीं, 6
13. आप्त0 भाष्य 3
14. वहीं,
15. वहीं,
16. वहीं, 4
17. वहीं, 5
18. न्यायवि0 361,362,410,415,465
19. आप्त0 1
20. वहीं 2
21. वहीं, 3
22. वहीं, 5
23. पंचा0 काय, 8
24. वहीं, 11, 15
25. प्र0सार 2. 8

26. वहीं, 2. 9
27. वहीं, 2. 10
28. त0 सूत्र 5. 29—30, 5.38, 39
29. वहीं, 57, 58
30. देखे, प्रस्तुत अध्याय, प्र0परि0टि036
31. वहीं, 71, 72
32. वहीं, 22
33. देखे, अ0 पं0प्र0प0टिप्पण
34. स्वय0 103
35. आप्त0 34
36. वहीं, 102
37. वहीं, 34
38. वहीं, 57, 58
39. वहीं, 59, 60
40. वहीं, 109—111
41. वहीं, 103
42. आप्त0 भाष्य 103
43. अ0 स0 पृष्ठ 286
44. स्वय0 44, 45
45. वहीं, 44
46. देवा0 वृत्ति 103
47. आप्त0 104
48. आप्त0 भाष्य 104
49. स्वय0 टीका 138
50. आप्त0 105
51. अ0 स0 पृष्ठ 288
52. आप्त0 14, 16
53. स्वय0 118 एवं युक्त्य0 45
54. पंचा0 14 एवं प्र0 सार 2. 23
55. त0 वा0 1. 6. 5
56. स्वय0 118
57. अ0 स0 पृष्ठ 126
58. आप्त0 15
59. आप्त0 भाष्य 15
60. आप्त0 17—19
61. स0 सि0 पृष्ठ 69
62. वहीं, पृष्ठ 69
63. त0 वा0 1. 10
64. आप्त0 101
65. अ0 स0 पृष्ठ 276
66. वहीं, 275, 276
67. आप्त0 भाष्य 101
68. वहीं, 101
69. अ0 स0 पृ0 276
70. आप्त0 भाष्य 101
71. अ0 स0 पृष्ठ 276
72. आप्त0 भाष्य 101
73. वहीं, 101
74. वहीं, 101
75. अ0 स0 पृष्ठ 278
76. स्वय0 63
77. न्या0
78. वहीं, 2. 3
79. स0 सि0 पृष्ठ 68
80. अ0 स0 पृष्ठ 175 एवं लघी0 60
81. प्र0 प0 पृष्ठ 1
82. त0 श्लो0 1.10.77,78
83. प0 मु0 1.1
84. न्यायदी0 पृष्ठ 3 एवं प्र0 मी0 1.1.2
85. आप्त0 101
86. आप्त0 36 एवं युक्त्य0 7
87. आप्त0 102
88. आप्त0 भाष्य 102
89. वहीं,
90. लघी0 6
91. प्र0 प0 पृष्ठ 66
92. आप्त0 79
93. वहीं, 81
94. वहीं, 83
95. वहीं, 84
96. वहीं, 86
97. स्वय0 103 एवं युक्त्य0 6
98. आप्त0 106
99. वहीं, 22, 23
100. वहीं, 108
101. वहीं, 108
102. आप्त0 भाष्य 108
103. आप्त0 14
104. वहीं, 23

परिच्छेद तृतीय
आप्तमीमांसा एवं अन्य भारतीय दर्शन

आप्तमीमांसा में विभिन्न एकान्तवादों के माध्यम से भारतीय दर्शनों का समीक्षण किया गया है। इन एकान्तवादों के समीक्षण के दौरान् समन्तभद्र ने विभिन्न दार्शनिक मन्तव्यों को सम्प्रदायों के अनुसार वर्गीकृत नहीं किया और न ही षड्दर्शनों के रूप में विभाजन किया। उन्होंने एक भी स्थान पर किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के प्रणेता के नाम का भी उल्लेख नहीं किया। आप्तमीमांसा की यह विशेषता है कि एक दार्शनिक सिद्धान्त यदि अनेक सम्प्रदायों में मान्य है तो उसका समीक्षण सामान्य रूप से एक साथ एक स्थान पर किया गया है, जिससे एक साथ जैसे सभी सम्प्रदायों का समीक्षण हो जाता है। समन्तभद्र के व्याख्याकारों ने इन्हीं एकान्तवादों को विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त मानकर उनकी समीक्षा प्रस्तुत की है। आप्तमीमांसा में जिन एकान्तवादों का समीक्षण किया गया है, उनकी तालिका अधोलिखित है –

क.	1. भावैकान्त	2. अभावैकान्त
	3. भावाभावैकान्त	4. अवाच्यतैकान्त
ख.	5. अद्वैतैकान्त	6. द्वैतैकान्त
	7. द्वैताद्वैतैकान्त	8. अवाच्यतैकान्त
ग.	9. नित्यत्वैकान्त	10. अनित्यत्वैकान्त–क्षणिकैकान्त
	11. नित्यानित्यत्वैकान्त	12. अवाच्यतैकान्त
घ.	13. अन्यत्वैकान्त	14. अनन्यत्वैकान्त
	15. अन्यानन्यत्वैकान्त	16. अवाच्यतैकान्त
ङ	17 अपेक्षैकान्त	18. अनपेक्षैकान्त
	19. अपेक्षानपेक्षैकान्त	20. अवाच्यतैकान्त
च.	21. हेत्वैकान्त	22. आगमैकान्त
	23. हेत्वागमैकान्त	24. अवाच्यतैकान्त

छ. 25. अन्तरंगार्थतैकान्त
26. बहिरंगार्थतैकान्त
27. अन्तरंगबहिरंगार्थतैकान्त
28. अवाच्यतैकान्त

ज. 29. देवैकान्त
30. पौरुषैकान्त
31. देवपौरुषैकान्त
32. अवाच्यतैकान्त

झ. 33. परत्रसुखदु:खपुण्यपाप – बन्धैकान्त
34. स्वायतसुखदु:खपुण्यपापबन्धैकान्त
35. स्वपरसुखदु:खपुण्यपाप – बन्धैकान्त
36. अवाच्यतैकान्त

ट. 37. अज्ञानात् बन्धैकान्त
38. अल्पज्ञानात् मोक्षैकान्त
39. अज्ञानाल्पज्ञानबन्धमोक्षैकान्त
40. अवाच्यतैकान्त

आप्तमीमांसा में उपर्युक्त सभी एकान्तवादों का समीक्षण किया गया है।[1] इस समीक्षण में बताया गया है कि यदि कोई भी एकान्तवाद अपने विरोधि धर्म का निषेध नहीं करके उन्हें सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार किया जाता है तो वे अपनी मर्यादा के अन्तर्गत सत्य हैं। परन्तु निरपेक्ष रूप में असत्य हैं।

भारतीय दर्शनों में वैदिक अवैदिक षड् दर्शनों के रूप में जिस प्रकार विभाजन किया गया है, उस क्रम से, आप्तमीमांसा के अन्तर्गत उनका यहां समीक्षण प्रस्तुत है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक विचारधारा का समन्तभद्र द्वारा युक्त्यनुशासन में विस्तृत समीक्षण किया गया है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। आप्तमीमांसा में आये सम्बन्धित मन्तव्यों का समीक्षण टीकाकारों के आधार पर यहां प्रस्तुत है।

चार्वाक दर्शन में मात्र इन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रमाण माना गया है। इन्द्रियों से दृष्टिगोचर नहीं होने वाले आत्मा परमात्मा, पुण्य पाप, स्वर्ग नरक, बन्ध मोक्ष आदि किसी का भी अस्तित्व नहीं है।[2] उपर्युक्त मान्यता का आप्तमीमांसा की 'तीर्थकृत्समयानाम्[3]' कारिका की व्याख्या में बतायी गया

है कि मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण; सर्वज्ञ, अनुमान, तर्क, आगम आदि के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि उसमें अतिप्रसंग दोष आता है तथा उन विषयों में उस प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती। यदि प्रवृत्ति मानी जाती है तो वही प्रत्यक्ष पुरुषान्तर देशान्तर, कालान्तरवर्ती पुरुषों के अनुमान तर्क आदि का अभाव पृथ्वी आदि विषयों सहित ज्ञात करा देता, जिससे बृहस्पति आदि के प्रत्यक्ष के विषय का भी अभाव सिद्ध हो जायेगा।[4] चार्वाक के मत से संवाद और असंवाद रूप स्वभाव हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था वचन व्यापारादि कार्य हेतु से उत्पन्न हुए अनुमान के निमित्त से दूसरे के चित्त का अवबोध तथा अनुपलब्ध हेतु से जनित अनुमान हेतु से परलोकादि का प्रतिषेध आदि कहा गया कथन स्वसिद्धान्त के विरुद्ध है और प्रमाणान्तर अनुमान आदि की ही सिद्धि होती है।[5]

इन्द्रिय जनित प्रत्यक्ष में स्वप्रमा घटित नहीं होती क्योंकि उनके यहां उस ज्ञान को अस्वसंविदित माना गया है। इससे प्रत्यक्ष प्रमाण में स्वप्रमा (ज्ञान) की व्यावृत्ति सिद्ध ही है। प्रत्यक्ष से ही प्रमाण अप्रमाण रूप सामान्य की स्थिति नहीं बन सकती अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण में ज्ञान की व्यावृत्ति न मानने से ज्ञान में स्वार्थ व्यवसायात्मक सिद्ध हो ही जाता है। इस प्रकार स्याद्वाद का आश्रय लेने से एकान्तिकत्व का अभाव हो जाता है और एकान्त का अभाव होने पर अनेकान्त की सिद्धि हो जाती है।[6]

चार्वाक के दो और प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं – प्रथम भूतचैतन्यवाद–स्वभाववाद और अर्थकामाचारवाद। भूतचैतन्यवाद के अनुसार जिसप्रकार पिष्टोदक, गुड़, धातकी आदि मद्यांगों के संयोजन से मदशक्ति आविर्भूत होती है, उसी प्रकार पृथ्वी आदि चारों भूतों के मिलने से "ज्ञ" चेतन की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। आकाश पुष्प के अभाव की तरह गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त चैतन्य विशिष्ट शरीर धारण करने वाले पुरुष के जन्म से पूर्व और मरण के बाद भवान्तर नाम का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती।[7] परन्तु इस प्रकार चार्वाक के द्वारा भवान्तर की अनुपलब्धि में दिया गया अनुमान असिद्ध है, क्योंकि प्राणियों के आदि

का चैतन्य, चैतन्य रूप उपादान कारण से उत्पन्न होता है, इसका कारण यह है कि वह चैतन्य पर्याय है। जैसे पूर्ण चैतन्य को प्राप्त पर्याय परिवर्तित होकर मध्यवर्ती चैतन्य की पर्याय के लिए उपादान रूप है। इसी प्रकार अन्त्य चैतन्य का परिणाम करणावस्था रूप चैतन्य का कार्य रूप है। इस अनुमान से पूर्व और उत्तर पर्यायों में चैतन्य स्वभाव के मौजूद होने से संसार तत्त्व की सिद्धि हो जाती है।[8] उनका यह कथन भी असिद्ध है कि भूत और चैतन्य में सजातीयत्व है क्योंकि भूत और चैतन्य का अलग अलग लक्षण पाया जाता है। संसार प्रत्यक्ष का विषय न होने से प्रत्यक्ष से उसका खण्डन भी नहीं हो सकता। मोक्ष की सत्ता अनुमान और आगम आदि प्रमाणों से सिद्ध ही है। मोक्ष के कारणों में भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नहीं होती।[9] इसलिए चार्वाक की मान्यताएँ असिद्ध हैं।

बौद्धदर्शन का समीक्षण

आप्तमीमांसा में पृथक्त्वैकान्त, अनित्यत्वैकान्त, अन्यत्वैकान्त, अभावैकान्त, अन्तरंगार्थतैकान्त आदि विभिन्न एकान्तवादों के समीक्षण के अन्तर्गत बौद्ध सम्मत विभिन्न सिद्धान्तों – क्षणिकवाद, सन्तानवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि का समीक्षण किया गया है, जिसका विवेचन प्रस्तुत है।

क्षणिकवाद

क्षणिकवाद बौद्धदर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। इसका प्रारम्भिक रूप जगत की अनित्यता के रूप में होता है।[10] बाद में बुद्ध की अनित्यता को आधार मानकर उत्तरकाल में स्थिविरवादियों ने चित्–चैतसिकों की क्षणिकता को स्वीकार किया है। सर्वास्तिवादियों ने बाह्य जगत् को किंचित् क्षणिक माना तथा आगे चलकर सौत्रान्तिक पूर्ण रूप से क्षणिकवाद मानने लगे। इसके बाद असंग, बसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, कमलशील आदि दार्शनिकों ने इसे पूर्ण विकसित रूप प्रदान किया।[11] सामान्य रूप से क्षणिकवाद के सन्दर्भ में यह माना गया है कि जो सत् है वह क्षणिक है। एक चित्तक्षण दूसरे चित्तक्षण को उत्पन्न करता जाता है। इस प्रकार यह क्रम बराबर बना रहता है और एक दूसरे को उत्पन्न करता रहता है, इससे द्रष्टा को उनके सादृष्य के कारण एकत्व की प्रतीति होती है।

धारा के रूप में चल रही यह सन्तान परम्परा काल्पनिक मानी गयी है।[12] योगाचार में सत् की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति है, जो पदार्थ सत् है वह निश्चित रूप से क्षणिक है। अर्थक्रियाकारित्व भी इसी में माना गया है।[13] आप्तमीमांसा में बताया गया है कि क्षणिकवाद मानने पर अनेक आपत्तियां आती हैं। क्षणिकैकान्त में प्रेत्यभावादिक नहीं बन सकते क्योंकि प्रत्यभिज्ञादि के अभाव होने से जब कार्य का आरम्भ ही नहीं बनता तो उसका फल कैसे बन सकता है।[14]

सन्तानवाद : संघातवाद

बौद्धदर्शन के अनुसार चलचित्र की तरह सभी संस्कार क्षणमात्र अवस्थित रहकर विनष्ट हो जाते हैं एवं दूसरे दूसरे उत्पन्न होते चले जाते हैं। यही क्रम बराबर बना रहता है, इस सन्तति क्रम को सन्तानवाद कहा गया है।[15] इस दृष्टि से नित्य आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। वर्तमान में जो कुछ भी प्रतीत होता है वह नामरूपात्मक पंच स्कन्धों का संघात मात्र है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार ये पांच स्कन्ध हैं।[16] आप्तमीमांसा के अनुसार यह मान्यता समीचीन नहीं है। क्योंकि पृथक् धर्मों में या एकत्व के अभाव में सन्तान, समुदाय, साधर्म्य आदि निरंकुश रूप में नहीं बन सकते हैं। इनको संवृत्ति रूप मानने पर वे मिथ्या सिद्ध होते हैं, क्योंकि विना मुख्य अर्थ के संवृत्ति बन नहीं सकती और मुख्यार्थ संवृत्ति रूप हो नहीं सकता। स्कन्ध सन्ततियां संवृत्ति रूप होने से असंस्कृत हैं। इसलिए उनका खरविषाण की तरह स्थिति, उत्पत्ति और व्यय नहीं बन सकता है।[17]

कार्यकारण भाव आदि का अभाव

कार्योत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीयदर्शनों में तीन दृष्टियां दिखलायी पड़ती हैं। 1. सत्कार्यवादी 2. असत्कार्यवादी और 3. सतासत् कार्यवादी। बौद्धदर्शन में असत् से सत् की उत्पत्ति मानी गयी है एवं सत् का निश्चय विनाश। उनके अनुसार जिस स्थान पर जिस समय में जो वस्तु है वह उसी समय नष्ट हो जाती है, दो धर्मों का आपस में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है।[18] एक सिद्धान्त बौद्धदर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद भी है। जिसके अनुसार न कार्य

को कारण का परिणाम माना जाता है और न असत् से उत्पन्न। कारण न कार्य का उपादान है न आरम्भक, किन्तु कारण की सत्ता और कार्य की सत्ता में सापेक्षता है।[19]

आप्तमीमांसा में बताया गया है कि अनन्वयी क्षणों में हेतुफलभाव आदि नहीं बन सकता क्योंकि एक सन्तान दूसरी सन्तान से सर्वथा भिन्न होती है और सन्तान सन्तानी से भिन्न नहीं होता।[20] इसकी व्याख्या में अकलंक ने बताया है कि जिस प्रकार आकाश पुष्प के सर्वथा असत् होने से उसकी उत्पत्ति नहीं बन सकती तदवस्थ कार्य को असत् मानने पर उसकी भी उत्पत्ति नहीं बन सकती। जब कार्य सर्वथा असत् माना जायेगा तो बांझ पुत्र की तरह उसका कारण भी नहीं बन सकता है। कार्यकारण भाव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त में ही सम्भव है, क्योंकि उनमें अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है।[21] कार्यकारण भाव आदि बन जाने पर ही पूर्व पूर्व पर्याय उत्तर उत्तर पर्याय में परिणत हो जाती है। जैसे मृत्पिण्ड, स्थास, कोश, कुसूलादि में पूर्व पर्याय उत्तर उत्तर में परिणत होती जाती है। इसको समस्त लोक जानता है। आगे आगे सदृश पर्याय की उत्पत्ति के आधार पर उसमें उपादान का नियम मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार घट और पट में वैलक्षण्य है उसी प्रकार अन्वय व्यतिरेक के अभाव में मृत्पिण्ड और घट में भी पाया जाता है। अत्यन्त असत् से कार्य की उत्पत्ति मानने पर तन्तु से पट ही उत्पन्न होता है कुटादिक नहीं, ऐसा नियम भी कैसे बन सकता है। इसके लिए तो कारण का ऐसा स्वभाव मानना नितान्त आवश्यक है, जो पूर्वस्वभाव को त्याग कर उत्तर स्वभाव को ग्रहण करता हुआ द्रव्य रूप से स्थिर बना रहे। अन्यथा न तो उपादान का नियम सुघटित होता है और न कार्य की उत्पत्ति मं विश्वास। वस्तु की व्यवस्था तो कथंचित् सत् और कथंचित् असत् मानने पर ही बन सकती है। तन्तुओं में पट रूप से परिणत होने की विशेषता के कारण पट की उत्पत्ति होती है। अतः तन्तुओं की अपेक्षा से पट सत् है तथा अन्य घट आदि की अपेक्षा से वह असत् है।[22]

निर्हेतुक विनाश असम्भव

क्षणिकवादियों के मत में विनाश निर्हेतुक है। विनाश दो प्रकार का है -- 1. अनुभवात्मक विनाश और 2. अनुभवातीत विनाश। अनुभवात्मक विनाश प्रध्वंश कहलाता है तथा अनुभवातीत विनाश क्षणिक (अनित्य) होता है। स्वयं यथार्थ ही विनाश है जो परमार्थ सत् है। जिसकी सत्ता क्षणिक होती है, वह अहेतुक होता है।[23] आप्तमीमांसा के अनुसार[24] 1. यदि कार्य के आरम्भ के लिए हेतु का समागम किया जाता है तो अपृथक् के समान आश्रितों में परस्पर कोई भेद न होने से वह हेतु आश्रियों से भिन्न नहीं माना जा सकता है। 2. पदार्थ को प्रलय स्वरूप आकस्मिक मानने पर कृत कर्म का प्रणाश और अकृत कर्म के भोग का प्रसंग आता है। 3. कर्म असंचेतित--अविचारित ठहरते हैं। 4. हिंस्य हिंसक भाव नहीं बनता। 5. बन्ध और मुक्ति नहीं बनती। 6. चित्त सन्तति के नाश रूप अष्टांगहेतुक मोक्ष नहीं बनता।

ज्ञान और ज्ञेय के लोप होने की आपत्ति

पृथक्त्वैकान्त में सत् स्वरूप की अपेक्षा से यदि ज्ञान को ज्ञेय से पृथक् माना जाता है, तो ज्ञान और ज्ञेय दोनों असत् हो जायेगे। लेकिन एकान्तवादियों के यहां ज्ञान के अभाव में बहिरंग और अन्तरंग ज्ञेय कैसे हो सकता है।[25] अकलंक की दृष्टि में ज्ञान और ज्ञेय में सत्ता की अपेक्षा तादात्म्य सम्बन्ध है। यदि सत्ता की अपेक्षा से भी ज्ञान और ज्ञेय को पृथक् पृथक् माना जाता है तो वे असत् सिद्ध होते हैं। इसमें ज्ञान और ज्ञेय दोनो के लोप होने की आपत्ति आती है। इसलिए ज्ञान और ज्ञेय में कथंचित् स्वभाव भेद होने पर भी सत्ता की अपेक्षा से तादात्म्य मानना आवश्यक है।[26]

अवक्तव्य एकान्त निरर्थक

क्षणिकवादियों के यहां सभी धर्मों में चतुष्कोटि विकल्प के कथन का अयोग होने से सन्तान और सन्तानी को अवाच्य कहना युक्त नहीं है, क्योंकि चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है तो यह भी नहीं कहा जाना चाहिए। सभी धर्मों से रहित अवस्तु होती है, जिसमें विशेष्य विशेषण नहीं बन सकता

है, क्योंकि द्रव्यादि के अन्तर्भाव से सत् रूप संज्ञी का ही निषेध होता है। सर्वथा असत् के विधि निषेध का भाव नहीं बन सकता। सभी धर्मों से रहित होने के कारण अवस्तु ही अभिलाप्य कहलाती है तथा प्रकिया के विपर्यय होने से वस्तु ही अवस्तु हो जाती है। सभी धर्म अवक्तव्य हैं, इसको यदि संवृत्ति रूप कहा जाता है तो संवृत्ति परमार्थ से विपरीत होने के कारण मिथ्या ही है तथा सभी धर्म अवक्तव्य हैं, यह अशक्ति, अभाव या अबोध के कारण कहा गया है तो इनमें अशक्ति और अज्ञान कारण हो नहीं सकते। इसलिए पूर्वपक्षियों द्वारा मायाचारी करने से क्या लाभ, अभाव को ही कारण रूप में कहा जाना चाहिए।[27]

आप्तमीमांसाभाष्य में लिखा है कि चतुष्कोटि विकल्प के रूप में अवक्तव्यवाद की कल्पना निराधार है, क्योंकि यदि स्वलक्षण अवक्तव्य है तो चारों कोटियों को सर्वथा अवक्तव्य भी कैसे कहा जा सकता है। अन्यथा स्वलक्षण को भी कथंचित् वक्तव्य मानना पड़ेगा। क्योंकि वक्तव्य आदि सभी विकल्पों से रहित वस्तु अवस्तु हो जायेगी। जिससे सर्वथा असत् रूप वस्तु में विशेषण विशेष्य भाव भी नहीं बन सकेगा। संज्ञी सत् का ही इसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से प्रतिषेध किया जाता है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नहीं। असत् विधि निषेध रूप नहीं हो सकता। जो पदार्थ कथंचित् अभिलाप्य हैं उसी में उसके अभिलाप्यत्व का निषेध करके अनभिलाप्यत्व सिद्ध किया जाता है। इसी प्रकार विशेषण विशेष्य का भी समझना चाहिए। परस्पर विरुद्ध दिखने वाले अभिलाप्य और अनभिलाप्य एवं विशेष्य विशेषण और अविशेष्य अविशेषण के साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। बौद्धों के यहां भी स्वलक्षण को अनिर्देष्य मानकर अनिर्देष्य शब्द के द्वारा निर्देष्य माना गया है। अभाव को भी अनभिलाप्य नहीं कहना चाहिए क्योंकि जहां अभाव है वहीं भाव का भी अभिधान होता है।[28] अवक्तव्य आदि सभी धर्मों को वाग्गोचरातीत मानने पर भी उनका अभिलपन नहीं बन सकता है। संवृत्ति से मानने पर विकल्प की अनुपपत्ति आती है। स्वरूप से अभिलाप्य मानने पर अनभिलाप्य नहीं बनता। पररूप से मानने पर वह पररूप ही उनका स्वरूप हुआ। इसमें मात्र वचन का स्खलन ही

हुआ। उभय पक्ष में उभय दोष आते हैं। इसलिए तत्त्वतः अवक्तव्य कैसे हो सकता है।[29]

क्षणिकवाद कथंचित् सत्य

यदि पदार्थ को कथंचित् क्षणिक माना जाता है तो क्षणिकवाद भी सत्य हो सकता है, क्योंकि तत्त्व कथंचित् नित्य और क्षणिक दोनों है। तत्त्व कथंचित् नित्य इसलिए है कि वह प्रत्यभिज्ञान का विषय है, प्रत्यभिज्ञान का सद्भाव विना किसी कारण के नहीं होता है तथा अनेकान्त मत में काल भेद होने से कथंचित् क्षणिक भी है। सर्वथा नित्य तथा सर्वथा क्षणिक तत्त्व में बुद्धि का संचार नहीं हो सकता है।[30] किसी वस्तु का अस्तित्व उत्पाद, व्यय और धौव्य के एक साथ रहने में ही निहित है। वस्तु में उत्पाद आदि की व्यवस्था सामान्य और विशेष की अपेक्षा से बन जाती है। सामान्य की अपेक्षा वस्तु न तो उत्पन्न होती है और न ही नष्ट क्योंकि सभी पर्यायों में उसका अन्वय पाया जाता है। वस्तु नष्ट और उत्पन्न विशेष की अपेक्षा से ही होती है।[31] एक हेतु का नियम होने से हेतु के क्षय होने का नाम ही कार्य का उत्पाद है। लक्षण की अपेक्षा उत्पाद और विनाश पृथक् पृथक् हैं तथा जाति के अवस्थान के कारण उनमें कोई भेद नहीं है। परस्पर निरपेक्ष उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आकाशपुष्प की तरह अवस्तु रूप हैं।[32] इसको समन्तभद्र ने सुवर्ण के उदाहरण के माध्यम से समझाते हुए बताया है कि सुवर्ण के घट का, सुवर्ण के मुकुट का और मात्र सुवर्ण का इच्छुक व्यकित क्रमशः सुवर्ण के घट के नाश होने पर शोक को, सुवर्ण के मुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष को तथा दोनों ही स्थितियों में सुवर्ण की स्थिति विद्यमान रहने से माध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है। ये सभी अपने कारण सहित ही होता है। अपनी बात को और अधिक पुष्ट करने के लिए समन्तभद्र ने एक अन्य लोकोत्तर उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस व्यक्ति के दूध पीने का व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिस व्यक्ति के दधि खाने का व्रत है, वह दूध नहीं पीता है और जिस व्यक्ति के गोरस लेने का व्रत है, वह दोनों नही लेता। इसलिए तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक सिद्ध होता है।[33]

विज्ञानवाद समीक्षा

विज्ञानवाद को योगाचार भी कहते हैं। यह बौद्धों का विकसित दार्शनिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की समस्त वस्तुएं स्वप्न, भ्रम आदि की तरह असत् हैं। बाह्यपदार्थों की कोई सत्ता नहीं, केवल अन्तरंग पदार्थ विज्ञान मात्र की ही सत्ता है। बाह्य जगत् में जो कुछ भी दिखाई पड़ता है वे हमारे चित्त के ही प्रतिविम्ब हैं।[34] वसुबन्धु ने चित्त, मन और विज्ञप्ति को विज्ञान का ही पर्याय माना है। उनके अनुसार दृष्य जगत् मिथ्या है और उसकी सभी वस्तुएं मिथ्या–प्रतिभास हैं। इसलिए एकमात्र विज्ञप्तिमात्र ही परम सत्य है।[35] तथता भी इसी को कहते हैं।[36] लंकावतारसूत्र में इसे आलयविज्ञान कहा गया है।[37] दिग्नाग ने विज्ञप्ति को शाश्वत न कहकर उसको विज्ञानों का प्रतिक्षण परिवर्तनशील सन्तति माना है।[38]

आप्तमीमांसा में अन्तरंगार्थतैकान्त या विज्ञप्तिमात्रता में अधोलिखित आपत्तियां बतायी गयी हैं।

1. बुद्धि और वाक्य मिथ्या सिद्ध होते हैं।
2. बुद्धि और वाक्य के मिथ्या होने से प्रमाणाभास कहलायेंगे और प्रमाणाभास विना प्रमाण के असम्भव है।[39]
3. साध्य साधन और दृष्टान्त नहीं बनते क्योंकि उसमें प्रतिज्ञा और हेतु दोष आते हैं।
4. साध्य साधन की बुद्धि को निरर्थक मानने पर विज्ञानमात्र की सिद्धि में हेतु का अभाव आता है।[40]

योगिगम्य स्वसंवेद्य विज्ञानाद्वैत तत्त्व मानने पर भी अनेक आपत्तियां आती हैं। समन्तभद्र के अनुसार इसको भी निम्न प्रकार से व्यवस्थित रूप दिया जा सकता है। इसके लिए उन्होंने निम्न तर्क दिये हैं।[41]

1. भाव प्रमाण की अपेक्षा से सभी ज्ञान प्रमाण हैं।
2. बाह्यप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाणाभास दोंनो सिद्ध हो जाते हैं।

3. संज्ञापना होने से प्रत्येक वस्तु अपने अर्थ को लिए हुए है।
4. जीव शब्द भी बाह्यार्थ सहित है।
5. मायादि भ्रान्त संज्ञाएं भी अपने अर्थ को लिए हुए हैं।
6. बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा के क्रमशः बुद्धि शब्द और अर्थ का बोध अपने संज्ञापने के कारण समान रूप से होता है।
7. बोध, वाक्य और प्रमाण ये तीनों पृथक् पृथक् हैं।
8. प्रमाण के भ्रान्त होने पर अन्तर्बाह्य ज्ञेय भी भ्रान्त होते हैं।
9. बुद्धि और वाक्य की प्रमाणता बाह्य अर्थ पर निर्भर है।
10. सत्य और असत्य की व्यवस्था भी बाह्य अर्थ पर अवलम्बित है।

प्रमेय की अपेक्षा से कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं होता, अपितु सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं तथा बाह्यप्रमेय की अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोंनो होते हैं। अकलंक की दृष्टि में जैनदर्शन की यह व्यवस्था प्रकारान्तर से बौद्धों को भी मान्य है क्योंकि वे सभी चित्त चैतसिकों को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष मानते हैं परन्तु उनका निर्विकल्पक रूप से मानना अयुक्त है क्योंकि स्वार्थ व्यवसायात्मक होने पर ही प्रत्यक्ष प्रमाण हो सकता है।[42] बौद्ध यद्यपि संवेदन प्रत्यक्ष मानते हैं लेकिन वह संवेद्य प्रतिक्षण निरंश रूप होने से उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिक्षण निरंश रूप संवेदन का प्रत्यक्ष अनुभव में दिखाई नहीं देता। अनुभव में जैसा दिखाई देता है वैसा बौद्ध मानते नहीं हैं। स्थिर आत्मा में ही सुखदुःख आदि बुद्धि रूप हर्ष विषादि का अनुभव होता है। यदि इस अनुभव को सर्वदा भ्रान्त माना जाता है तो वह अप्रत्यक्ष हीं रहेगा तथा कथंचित् भ्रान्त मानने पर उनका स्वयं का सिद्धान्त भी स्थिर नहीं होगा।[43]

निर्विकल्प प्रत्यक्ष में ही केवल अप्रत्यक्षत्व की समानता नहीं है वल्कि सविकल्पक ज्ञान में भी है। इसलिए स्वसंवेदन की अपेक्षा से कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाण नहीं है तथा बाह्य अर्थ की अपेक्षा से तो प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों की व्यवस्था बन जाती है। जैसे आकाश में जो केश

मशकादि का ज्ञान होता है, वह क्वचित् स्वरूप की अपेक्षा से संवादक और विसंवादक होने से प्रमाण तथा अप्रमाण है।[44] विद्यानन्द ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि आकाश में केशादि का ज्ञान बाह्य में विसंवादक होने से प्रमाणाभास है तथा स्वरूप में संवादक होने से प्रमाण है। इसलिए एक ही ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास के होने में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण के ऊपर की कालिमा आदि हटने के बाद उत्कृष्ट, जघन्य परिणाम बनते हैं। उसी प्रकार एक जीव के आवरण आदि हटने के पश्चात् सत्य और असत्य आभास रूप संवेदन परिणाम सिद्ध होता है।[45]

संज्ञा अभिप्राय मात्र को सूचित करती है, बाह्य पदार्थ के अर्थ को नहीं, बौद्धों की यह मान्यता उचित नहीं क्योंकि संज्ञात्व होने से हेतु शब्द की तरह जीव शब्द बाह्यार्थ सहित है।[46] इसको स्पष्ट करते हुए अकलंक ने लिखा है कि[47] –

1. संज्ञा को अभिप्राय मात्र मानने पर अर्थक्रिया में नियम का योग नहीं बनता।
2. जिस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ का ज्ञान होने पर अर्थक्रिया में विसंवाद नहीं होता, उसी प्रकार बाह्य अर्थ सहित पुरुष की अर्थक्रिया में विसंवाद नहीं होती।
3. साधन और साधनाभास में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। यदि यह कहा जाये कि परम्परा से अर्थानुभव पूर्वक वासना और वासना पूर्वक शब्द एक सत्य अर्थ में वाच्य होता है।
4. शब्द के विषय में कहीं व्यभिचार देखकर सभी जगह व्यभिचार की कल्पना अयुक्त है। अन्यथा चक्षुरादि इन्द्रियों में भी व्यभिचार मानना पड़ेगा।
5. इसी प्रकार कार्य कारण भाव में भी व्यभिचार हो जायेगा, जिससे धूम से अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकेगा।
6. कहीं पर कार्य कारण में व्यभिचार भी देखा जाता है। काष्ठादि से जिस प्रकार अग्नि का जन्म होता है उसी प्रकार सूर्यकान्तमणि आदि से भी अग्नि का जन्म होता है।

7. अभिप्राय की विचित्रता से अभिधान में व्यभिचार देखा जाता है। प्रत्यक्ष और अनुमान में भी कारण सामग्री की विचित्रता से व्यभिचार देखा जाता है। इसलिए कहीं प्रत्यक्ष और अनुमान को अर्थ के प्रतिपादक रूप में और शब्द को अभिप्राय मात्र सूचक रूप में कथन करना युक्त नहीं है।

सत्य और असत्य की व्यवस्था

आप्तमीमांसा के अनुसार बुद्धि और शब्द की प्रमाणता बाह्य अर्थ के होने पर होती है। सत्य और असत्य की व्यवस्था कमशः अर्थ की प्राप्ति अप्राप्ति पर निर्भर है।[48] अकलंक ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि स्व और पर के बोध के लिए कमशः बुद्धि और शब्दसाधन हैं। स्वसंवृत्ति मात्र माने जाने पर दूसरों को बोध नहीं हो सकता है। बाह्य अर्थ के सद्भाव होने पर तथा बुद्धि और शब्द द्वारा ज्ञेय अर्थ और उसकी प्राप्ति होने पर ही उसमें प्रमाणता सिद्ध होती है। बाह्य अर्थ के सद्भाव एवं अर्थ की प्राप्ति नहीं होने पर प्रमाणाभास सिद्ध होता है। बाह्य अर्थ के माने विना न तो कोई अपने पक्ष की सिद्धि कर सकता है और न ही दूसरे के पक्ष का खण्डन। अन्यथा स्वप्न और जागरण में भी कोई विशेषता नहीं देखी जायेगी और विना बाह्य अर्थ के किसमें क्या साधन दूषण दिया जायेगा, इसका भी निश्चय नहीं हो सकेगा।[49]

शून्यवाद की समीक्षा

बुद्ध के मध्यममार्ग का अनुगमन करने के कारण शून्यवाद को माध्यमिक भी कहते हैं। शून्यवाद को प्रतीत्यसमुत्पादवाद की व्याख्या का फलितवाद कहा गया है। इस सिद्धान्त में वस्तुतः सभी पदार्थ शून्य माने गये हैं। उनकी शून्यता के प्रतिपादक शब्द भी शून्य माने गये हैं। यह शून्यता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण है। प्रतीत्यसमुत्पाद, शून्यता, उपादायप्रज्ञप्ति और मध्यमाप्रतिपदा ये शून्य के ही नामान्तर हैं।[50] इस मत में तत्व न सत् रूप है, न असत् रूप, न सतासत उभय रूप और न अनुभय रूप है, अपितु इन चार कोटियों से रहित है।[51]

समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा या अपने किसी ग्रन्थ में शून्यवाद या माध्यमिकों का नामोल्लेख नहीं किया है, किन्तु अभावैकान्त के अन्तर्गत उनके व्याख्याकारों ने शून्यवाद की समीक्षा की है। प्रतीत होता है कि चतुष्काटि से रहित शून्यवाद के प्रतिष्ठापक आचार्य नागार्जुन पर आचार्य समन्तभद्र कृत आप्तमीमांसा के चार एकान्तों के समीक्षण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

आप्तमीमांसा में अभावैकान्त के समीक्षण के माध्यम से बताया गया है कि भाव को नहीं मानने पर सर्वथा अभावैकान्त पक्ष में बोध प्रमाण और वाक्य प्रमाण नहीं बन सकते। जिसके कारण न कोई मत सिद्ध किया जा सकता है और न उसमें दूषण दिया जा सकता है।[52] स्वमत सिद्धि और परमत में दूषण देने के लिए अन्तरंग और बहिरंग की वास्तविक सत्ता मानना नितान्त आवश्यक है। साधन और दूषण के लिए पक्ष, सपक्ष और विपक्ष व्यावृत्ति रूप जो हेतु की कल्पना की गयी है वह भी मूल अर्थ के समाप्त होने पर सुघटित नहीं हो सकती। साध्य और साधन की व्यवस्था संवृत्ति से मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि साधन के काल्पनिक होने से साध्य भी काल्पनिक होगा। जब शून्य अपरिमार्थिक है तब सद्‌भाव का निराकरण कैसे किया जा सकता है। इसलिए अन्तरंग और बहिरंग की सत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। संवृत्ति का अर्थ विचारानुपपत्ति करना भी ठीक नहीं है क्योंकि जब शून्यवादियों के यहां विचार का ही अस्तित्व नहीं है तब विचार नहीं किया जा सकता। अकलंक तर्क प्रहार करते हुए लिखते हैं कि उपर्युक्त स्थिति में शून्यवादियों के यहीं दूसरों को समझाने के लिए जो शास्त्र और उपदेशक माने गये हैं वे उन्मत्त प्रलाप के समान हैं तथा उपदेश करने वाले शुद्धोधन का प्रज्ञा के प्रति अपराध है, जिन्होंने लोकमार्ग का उल्लंघन कर इस प्रकार उपदेश दिया।[52] वस्तुतः भाव की तरह अभाव भी वस्तु धर्म है। अभाव में दोष उसको निरपेक्ष मानने में हैं। अभाव को यदि सापेक्ष माना जाता है तो वस्तु की व्यवस्था में कोई हानि नहीं पहुंचती। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सभी पदार्थ सत् (भाव) रूप हैं एवं परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से सभी पदार्थ असत् (अभाव) रूप हैं।[53]

न्यायवैशेषिक दर्शन समीक्षा

न्यायदर्शन में निःश्रेयश की प्राप्ति के लिए सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक बताया गया है।[54] इस दर्शन का मुख्य प्रयोजन प्रमाणों के द्वारा प्रमेय का विस्तृत निरूपण करना है। वैशेषिकदर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय[55] और अभाव[56] पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति की सम्भावना की गयी है। ये दोनो दर्शन ईश्वरवादी हैं।

आप्तमीमांसा में पृथक्त्वैकान्त, कार्यकारणभेदैकान्त, अणुओं के अनन्यतैकान्त, अनपेक्षैकान्त और बन्धमोक्षैकान्त के अन्तर्गत न्यायवैशेषिक दर्शनों का समीक्षण किया गया है[57], जो निम्न प्रकार है–

1. कार्यकारण, गुणगुणी, सामान्य सामान्यवान्, में सर्वथा भेद मानना असंगत है।
2. एक की अनेक में वृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके भाग नहीं होते।
3. यदि एक के अनेक भाग हैं, तब भागवाला होने के कारण वह एक नहीं हो सकता।
4. कार्यकारण, गुणगुणी, आदि को पृथक् पृथक् मानने पर उनको पृथक् सिद्ध पदार्थों की तरह भिन्न देश और भिन्न काल में उनकी वृत्ति मानना पड़ेगी क्योंकि मूर्त कारण और कार्य में समानदेशता नहीं बन सकती।
5. स्वयं असम्बद्ध दूसरे के साथ सम्बन्ध को प्राप्त नहीं हो सकता।
6. सामान्य और समवाय के अपने अपने आश्रय में रहने पर, नष्ट और उत्पन्न होने वाले पदार्थों में उनके रहने की व्यवस्था नहीं बन सकती।
7. सामान्य और समवाय में परस्पर में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है और न इनका पदार्थों के साथ सम्बन्ध है। इसलिए सामान्य समवाय और पदार्थ तीनों अवस्तु हैं।
8. परमाणुओं का अनन्यतैकान्त मानने पर उनका संघात होने पर भी विभाग के समान अन्यत्व ही रहेगा। इस स्थिति में भूतचतुष्क भ्रान्त होंगे।

9. कार्य के भ्रान्त होने पर अणु भी भ्रान्त होंगे, क्योंकि कार्य के द्वारा कारण का ज्ञान किया जाता है।
10. कार्य और कारण दोनों के अभाव में, उनमें रहने वाले गुण, जाति आदि का भी अभाव हो जायेगा।
11. द्रव्य गुण आदि पृथकत्व गुण से अपृथक है तो स्वमत विरोध होता है।
12. द्रव्य गुण आदि पृथकत्व गुण से पृथक हैं तो वह पृथकत्व गुण ही नहीं हो सकता, क्योंकि पृथकत्व गुण अनेक पदार्थों में रहता है।[58]
13. ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा पृथक् नहीं रह सकते अन्यथा असत् की आपत्ति आती है।[59]
14. सर्वथा अनपेक्षिक सिद्धि मानने पर सामान्य विशेष भाव नहीं बन सकते।[60]

स्वयं असम्बद्ध दूसरे का सम्बन्ध कराने में असमर्थ होता है। इस दृष्टि से प्रश्न उपस्थित होता है कि न्याय वैशेषिक समवाय को अपने समवायियों में अन्य समवाय से रहना मानते हैं अथवा स्वतः। यदि समवाय अपने समवायियों में समवायान्तर से रहता है तो उस समवाय का सम्बन्ध भी समवायियों के साथ तीसरे समवाय से मानना पड़ेगा, जिसमें अनवस्था दोष आता है और यदि समवायियों में समवाय स्वतः रहता है तो अवयवी भी अपने अवयवों में विना समवाय की अपेक्षा के स्वतः ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाता है कि समवाय का कोई आश्रय नहीं है इसलिए उसे कोई सम्बन्ध की जरूरत नहीं है, तब वह असम्बद्ध है क्योंकि जो स्वयं असम्बद्ध है उसका अवयव अवयवी के साथ सम्बन्ध कैसे बन सकता है। इस प्रकार समवाय का समवायियों के साथ सम्बन्ध नहीं बन सकता है।[61]

जब सामान्य और समवाय अपने अपने आश्रयों में पूर्ण रूप से रहते हैं तो ये भी सुनिश्चित् है कि आश्रय के विना वे नहीं रह सकते। इस स्थिति में जब पदार्थ नष्ट से उत्पन्न होता हें उस समय सामान्य और समवाय के रहने की व्यवस्था कैसे बन सकती है। आश्रय के नहीं रहने से उनको

पहले से विद्यमान थी, नहीं माना जा सकता। यह भी अयुक्त है कि सामान्य और समवाय का एक अंश पूर्व में रहे और अंश उत्पन्न होने वाले पदार्थ में, क्योंकि उनके निरंश नित्य होने से पदार्थ के उत्पन्न होने पर सामान्य और समवाय उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। पदार्थ के नष्ट होने के उपरान्त उनके रहने का स्थान भी कहां रहेगा .अर्थात् वे निराश्रित हो जायेंगे।[62]

परमाणुवाद की समीक्षा

न्यायवैशेषिकदर्शन का परमाणुवाद सिद्धान्त भी उनकी मान्यता से नहीं बनता। अगर कार्य भ्रान्त होगा तो कारण भी भ्रान्त होगा। परमाणुओं को दो तरह से जाना जा सकता है – प्रत्यक्ष से तो शक्य नहीं है, क्योंकि उससे तो स्थूलाकार स्कन्ध की ही प्रतीति होती है, परमाणुओं की नहीं। कार्य के आधार पर अनुमान नहीं किया जा सकता, कयोंकि कार्य तो भ्रान्त है। इसलिए कार्य भ्रान्त होने से कारण रूप परमाणु भी भ्रान्त होंगे। कार्य कारण दोंनो के भ्रान्त होने से उनका अभाव ही माना जायेगा। दोनों के अभाव होने से उनमें रहने वाली जाति गुण किया आदि का भी अभाव हो जायेगाा।[63]

समन्तभद्र ने बताया है कि पृथक्त्वैकान्त, कार्यकरण भेदैकान्त आदि की व्यवस्था कथंचित् दृष्टिकोण से सम्भव है। उन्होंने बताया है कि सत्ता सामान्य की अपेक्षा से सभी पदार्थ एक हैं और द्रव्य आदि के भेद से अनेक हैं।[64] द्रव्य और पर्याय में कथंचित् ऐक्य है क्योंकि उन दोंनो में अव्यतिरेक पाया जाता है और द्रव्य और पर्याय कथंपित् नाना भी हैं, क्योंकि उनमें परिणाम आदि का भेद पाया जाता है।[65] कोई वस्तु न सर्वथा अनपेक्ष है और न सर्वथा सापेक्ष। धर्म और धर्मी का अविनाभाव ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है, उनका स्वरूप नहीं। वह तो कारक और ज्ञापक के अंगों की तरह स्वतः सिद्ध है।[66] इसलिए पृथक्त्वैकान्त अनपेक्षैकान्त आदि को कथंचित् रूप से मानने में कोई हानि नहीं है।

सांख्ययोगदर्शन समीक्षा

सांख्ययोग दर्शन का सांख्य सैद्धान्तिक रूप है और योग व्यावहारिक। इस दर्शन का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति करना है। इसके लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।[67] सांख्यदर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गये हैं। इनमें मूल प्रकृति है, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच महाभूत और मन विकृति रूप हैं। पांच तन्मात्राएं, बुद्धि और अहंकार प्रभृति विकृति रूप हैं। पुरुष प्रकृति और विकृति दोनों से रहित है।[68] उनके परिणामवाद, सत्कार्यवाद आदि प्रमुख सिद्धान्त हैं।

आप्तमीमांसा में भावैकान्त और नित्यत्वैकान्त के अन्तर्गत सांख्ययोग दर्शन का समीक्षण किया गया है। उसमें बताया गया है कि भावैकान्त मानने पर पदार्थों के प्राग्भाव आदि अभावों के कारण सभी पदार्थ अनादि, अनन्त, अस्वरूप और सब रूप हो जाने का प्रसंग उपस्थित होता है।[69]

1. अभाव के चार भेद बताये गये हैं – 1. प्राग्भाव 2. प्रध्वंसाभाव 3. अन्योन्याभाव और 4. अत्यन्ताभाव[70] । भावैकान्त में ये चारों अभाव घटित नहीं होते। प्राग्भाव के निराकरण करने पर घट आदि कार्य द्रव्य को अनादि मानना होगा। प्रध्वंसाभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य को अनन्त स्वीकार करना होगा। अन्योन्याभाव न मानने पर एक इष्ट तत्त्व सर्वात्मक हो जायेगा तथा अत्यन्ताभाव के अस्वीकार करने पर किसी भी इष्ट तत्त्व का किसी भी प्रकार से कथन नहीं हो सकेगा।[71]
2. सांख्यदर्शन में सभी पदार्थ प्रधान के परिणाम होने से घट भी प्रधान का परिणाम है। विचार करने पर उनका यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि क्रम रहित प्रधान से घट आदि परिणामों को अभिन्न मानने पर घट आदि परिणामों को भी क्रम रहित होना चाहिए। घट आदि परिणामों को घट से भिन्न मानने पर, घट आदि प्रधान के हैं, ऐसा कथन भी नहीं बन सकता। सांख्य सभी तत्त्वों को अपने मूल कारण में ही तिरोहित होना मानते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके मत में प्राग्भाव को ही तिरोभाव के रूप में माना गया है, अन्तर नाम मात्र का है।[72]

3. सांख्यदर्शन में पुरुष कूटस्थ नित्य है तथा वह स्वयं निष्क्रिय, अकर्ता और द्रष्टा है। परन्तु इसमे विक्रिया उत्पन्न न होने एवं पूर्व से कारकत्व का अभाव होने के कारण प्रमाण, प्रमाण का फल, प्रेत्यभाव, परलोकादि सुखादि फल तथा बन्ध मोक्ष आदि भी नहीं बन सकते।[73]

4. सांख्यों के अनुसार आत्मा की अर्थक्रिया चैतन्य रूप होने से कार्य की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति को उसकी अर्थक्रिया नहीं माना गया है। चैतन्य पुरुष का स्वभाव है इसलिए चैतन्य भी नित्य है।[74] वस्तु का लक्षण अस्तित्व है, अर्थक्रिया करना नहीं। जिस प्रकार अर्थक्रिया स्वयं अर्थक्रिया स्वभाव वाली होने से वस्तु स्वरूप है, उसी प्रकार चैतन्य रूप अर्थक्रिया आत्मा का स्वभाव होने से उसमें भी वस्तुत्व की सिद्धि हो जाती है। इसलिए विक्रिया के अभाव में भी नित्य आत्मा के सिद्ध होने में कोई आपत्ति नहीं है।[75] परन्तु जैनदर्शन के अनुसार नित्य पुरुष में चैतन्य रूप अर्थक्रिया किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। पूर्व स्वभाव का परिहार और उत्तर स्वभाव के ग्रहण का नाम अर्थक्रिया है। वह कूटस्थ नित्य में किसी भी तरह सम्भव नहीं है। पुरुष की चैतन्य रूप अर्थक्रिया उत्पत्ति रूप और ज्ञप्ति रूप न होने के कारण उसमें कारक और ज्ञापक का व्यापार भी नहीं बनता।[76]

5. इन्द्रियों के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति के समान यदि प्रमाण और कारकों के द्वारा अव्यक्त को व्यक्त माना जाता है तो सांख्यों के यहां प्रमाण और कारक दोंनो नित्य होने से वस्तु विकार्य नहीं हो सकती।[77] वस्तुतः प्रमाण और कारकों से अभिव्यक्त होने वाले महदादि को भी नित्य मानना न्याय संगत नहीं है, क्योंकि जो अनभिव्यक्त आकार को त्यागकर अभिव्यक्त आकार को ग्रहण करता है उसमें अनित्यत्व की प्राप्ति अवश्य होगी। प्रमाण और कारकों के व्यापार होने के पश्चात् भी यदि व्यक्त अपने अनभिव्यक्त आकार का त्याग नहीं करता तो उसको अभिव्यक्त हुआ नहीं कह सकते। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के द्वारा किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर वह अभिव्यक्त कहा जाता है। विना परिवर्तन के पदार्थ का ज्ञान होना असम्भव है।[78]

6. सांख्यदर्शन में कार्य को सत् माना गया है।[79] आप्तमीमांसा के अनुसार कार्य को सर्वथा सत् मानने पर पुरुष के समान उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। उत्पत्ति न मानकर कार्य को परिणाम मानने पर नित्यत्वैकान्त नहीं बन सकता। कार्य कारण को सर्वथा एक मानने पर एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव हो जाता है क्योंकि उनका परस्पर में अविनाभाव है।[80] सांख्य चैतन्य को कार्य नहीं मानते अन्यथा चैतन्य स्वरूप पुरुष को भी कार्य मानना होगा। असत् से कार्य को मानना स्वयं साख्य सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त व्यक्त महदादि तत्त्व जो कि नित्य नहीं हैं, का प्रधान में तिरोभाव होने के बाद भी उनके विनाश का प्रतिषेध होने से, उनका अस्तित्व विवर्त रूप मानते हैं तो उसको अनेकान्त ही कहा जायेगा, क्योंकि पूर्व आकार के त्याग और उत्तर आकार की उत्पत्ति का नाम ही परिणाम विवर्त है। इसलिए यह मात्र अन्धसर्पविलप्रवेशन्याय का ही अनुकरण कहा जायेगा।[81]

7. समन्तभद्र के अनुसार अज्ञान से बन्ध मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि इससे ज्ञेयों की अनन्तता के कारण कोई भी केवली नहीं हो सकता हैं[82] प्रकृति पुरुष के अल्प भेदविज्ञान की अपेक्षा अनन्त पदार्थों का अज्ञान अधिक है। इसलिए अधिक अज्ञान के कारण प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होने पर भी बन्ध का अभाव नहीं हो सकता है।[83] यह कथन सत्य है कि अल्पज्ञान से मोक्ष मानने पर बहुत अज्ञान से बन्ध की भी प्राप्ति होगी।[84] इसलिए यह मानना कि अल्पज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बन्ध होता है, उचित नहीं ।

इस प्रकार समन्तभद्र द्वारा भावैकान्त–नित्यत्वैकान्त और उनके द्वारा मान्य बन्ध मोक्ष की मान्यताओं में आपत्तियां बतायी गयी हैं, वे चाहे किसी भी सम्प्रदाय में मान्य हों। इसलिए सुगम मार्ग वही है, जिसमें किसी भी प्रमाण से किसी भी प्रकार बाधा न आये और वह मार्ग स्याद्वाद है। इसका आश्रय लेने से विधि और निषेध रूप दोनों प्रकार के अभिमत सुगठित हो जाते हैं। वस्तु कथंचित् भाव रूप है और कथंचित् अभाव रूप। इसी प्रकार

वस्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य। स्वरूप चतुष्टय की अपेक्षा से भाव या नित्य रूप है एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा से अभाव या अनित्य रूप है।[85] बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में भी समन्तभद्र का स्पष्ट अभिमत है कि बन्ध, मोह सहित अज्ञान से होता है, मोह रहित अज्ञान से नही तथा मोक्ष, मोह रहित अल्पज्ञान से भी सम्भव है, किन्तु मोह सहित अल्प ज्ञान से मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है।[86]

मीमांसादर्शन समीक्षा

वैदिक कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले मीमांसक हैं। इस दर्शन में वैदिक वाक्यों को पूर्णतः प्रमाण माना गया है। वेदों को अपौरुषेय और शब्द को प्रमाण आदि मानने के कारण यह दर्शन प्रसिद्ध है।

आप्तमीमांसा के आप्तसिद्धि एवं भावैकान्त, आगमैकान्त आदि एकान्तों के समीक्षण की व्याख्या में अकलंक और विद्यानन्द ने मीमांसकों के सिद्धान्तों की विस्तृत समीक्षा की है।

तीर्थकृत् समयानां च परस्परविरोधतः आप्तमीमांसा की इस कारिका में आये 'तीर्थकृत्' का अर्थ बताते हुए विद्यानन्द ने अष्टसहस्री में लिखा है कि 'तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः' अर्थात् तीर्थ का नाश करने वाले तीर्थकृत कहलाते हैं। सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम का निराकरण करने के कारण मीमांसक तीर्थकृत हैं। इस प्रसंग में उन्होंने मीमांसक विद्वानों भाट्ट और प्रभाकर के मतों का खण्डन किया है।[87] परोक्षवर्ती पदार्थों का अभाव मानने वाले जैमिनीय का खण्डन करते हुए विद्यानन्द ने दोष को आत्मा का स्वभाव मानने वाले मीमांसकों का निरसन करके अन्यथानुपपत्ति से आत्मा को ज्ञानादि गुणों से युक्त स्वभाव वाला सिद्ध किया है। धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप आदि में अनुमान को नहीं मानने वाले मीमांसकों की मान्यता में अनुमान हेतु को सिद्ध कर, प्रमेयत्व, अस्तित्व और वस्तुत्व रूप हेतुओं से सर्वज्ञ की असिद्धि मानने वाले उनकी इन्हीं तीन हेतुओं से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध किया है।[88]

भावैकान्त के प्रसंग में समन्तभद्र ने कथंचित् अभाव को मानने की आवश्यकता पर बल दिया है।[89] इसके व्याख्याकारों ने इस प्रसंग में मीमांसक मान्य शब्दनित्यत्ववाद का समीक्षण किया है।[90]

आगम से सभी की सिद्धि मानने पर परस्पर विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक मतों की भी सिद्धि हो जाती है। इसलिए कथंचित् आगम से सिद्धि मानकर कथंचित् हेतु से भी सिद्धि मानना आवश्यक है। इससे आगम के रूप में वेद को अपौरुषेय मानने वालों का समीक्षण हो जाता है।[91]

मीमांसक बुद्धि संज्ञा, शब्द संज्ञा और अर्थ संज्ञा में से जीव अर्थ वाचक जीव शब्द का ही बाह्यार्थ मानते हैं। शब्द और बुद्धि वाचक जीव शब्द का नहीं। परन्तु जीव शब्द संज्ञा शब्द होने से हेतु शब्द की तरह बाह्यार्थ सहित है तथा मायादि भ्रान्ति की संज्ञाओं में भी अपना भ्रान्ति रूप अर्थ पाया जाता है। बुद्धि, शब्द और अर्थ संज्ञाएं क्रमशः बुद्धि, शब्द और अर्थ की समान रूप से वाचक हैं। उन संज्ञाओं के प्रतिविम्ब स्वरूप बुद्धि आदि का बोध भी समान रूप से होता है।[91]

अद्वैतवेदान्त दर्शन समीक्षा

अद्वैतवेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से एक मात्र ब्रह्म की ही सत्ता मानी गयी है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ, जितनी, जिस रूप में या द्वैतबुद्धियों की प्रतीति होती है, वह सब मायिक या अविद्यात्मक है। इस अद्वैतवेदान्त की, आप्तमीमांसा में प्रतिपादित अद्वैतैकान्त के अन्तर्गत उनके व्याख्याकारों ने समीक्षा की है। आप्तमीमांसा में बताया गया है कि –

अद्वैतैकान्त में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले कारकों और क्रियाओं के भेद में विरोध आता है, क्योंकि एक वस्तु स्वयं अपने से उत्पन्न नहीं हो सकती।[92] आचार्य विद्यानन्द ने अद्वैतवादियों के सामने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्रिया या कारक किसी से उत्पन्न होता है कि नहीं। यदि वह किसी से उत्पन्न नही होता तो वह नित्य ही कहा जायेगा, परन्तु कारक क्रिया की कभी कभी प्रतीति होने के कारण उसको नित्य नहीं माना जा सकता। यदि क्रिया कारक के भेद को अनित्य माना जाता है तो उसकी

उत्पत्ति की समस्या आती है। इनकी उत्पत्ति अद्वैतमात्र से मानने पर पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि अद्वैत और उसके कार्य में भेद या अभेद। भेद पक्ष में द्वैत की सिद्धि होती है और अभेद पक्ष में स्व की उत्पत्ति स्व से ही कही जायेगी। अद्वैत तत्व यदि अपने कार्य से अभिन्न है तो वह नित्य कैसे कहा जा सकता है। क्रिया कारक आदि भेद की उत्पत्ति अन्य पदार्थ से मानने पर अद्वैत और पर के भेद से द्वैत की ही सिद्धि होती है।[93] भेद को अनादि अविद्या से उत्पन्न मानना भी अयुक्त है, क्योंकि अविद्या न वस्तु रूप सिद्ध होती है और न अवस्तुरूप। उसको अवस्तु रूप मानने पर कार्यकारण भाव नहीं बनता एवं वस्तु रूप मानने पर द्वैत की आपत्ति आती है। इस तरह अद्वैतवाद में क्रिया और कारक का भेद न स्वतः हो सकता है और न परतः।[94]

सर्वथा अद्वैतवाद में कर्म फल, विद्या अविद्या, बन्ध मोक्ष, पुण्य पाप, सुख दुःख, इहलोक परलोक आदि कोई भी द्वैत नहीं बन सकते।[95]

हेतु के द्वारा अद्वैत की सिद्धि मानने पर हेतु और साध्य के सद्भाव में द्वैत की सिद्धि हो जाती है तथा हेतु के विना अद्वैत की सिद्धि करने पर वचनमात्र से द्वैत की सिद्धि का भी प्रसंग उपस्थित होता है। द्वैत के विना अद्वैत इसलिए भी नहीं हो सकता क्योंकि कहीं भी प्रतिषेध्य के विना संज्ञी का निषेध नहीं देखा जाता।[96]

आप्तमीमांसा की 3, 6, 9, 76 आदि कारिकाओं की व्याख्याओं में अकलंक और विद्यानन्द ने अद्वैतवादियों के विभिन्न सिद्धान्तों का समीक्षण किया है।

समन्तभद्र ने उपर्युक्त का समाधान देते हुए लिखा है कि वस्तु अद्वैत रूप भी है और द्वैत रूप भी। जिस प्रकार साधन के एक होने पर भी वह अपने भेदों के द्वारा अनेक भी है। एकान्तिक दृष्टि से एकत्व या पृथकत्व रूप में उनको स्वीकार करने पर दोनों दो हेतुओं से अवस्तु रूप सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि पृथकत्व एकत्व निरपेक्ष है और एकत्व पृथकत्व निरपेक्ष है। वस्तुतः प्रत्येक धर्म परस्पर सापेक्ष होकर ही सत्य है। सत्ता सामान्य की

अपेक्षा से सब पदार्थ एक हैं और द्रव्य आदि के भेद से अनेक हैं। एक और अनेक, भेद और अभेद सभी प्रमाण के विषय हैं। गौण और प्रधान की विवक्षा से एक ही वस्तु के दोंनो रूप होने में कोई बाधा नहीं है।[95]

सन्दर्भ

1. दृष्टव्य, जैन, न0कु0स0अ0पृष्ठ 195
2. आप्त0भाष्य 3 एवं स0सं0पृष्ठ 13–17
3. आप्त0 3
4. आप्त0भाष्य 3, अ0स0पृष्ठ 36–37
5. अ0स0 पृष्ठ 43
6. वहीं, 44
7. दृष्टव्य, अध्याय पंचम
8. अ0स0पृ0 63
9. वहीं, 62, 63
10. उपाध्याय, भ0सिंह,बौ0द0भा0द0भाग 1,पृ0705
11. आचार्य, न0देव, बौद्धधर्म दर्शन, पृ0 238
12. हेतुविन्दु पृ0 54
13. वहीं, 2. 146
14. आप्त0 29, 41
15. तत्त्वसंग्रह, पृ0 138, 139
16. विशुद्धिमग्ग, 14.
17. वहीं, 29, 44, 45
18. प्र0 वा0 2.149
19. पाण्डेय,गो0च0बौद्धधर्म के विकास का इतिहास पृष्ठ 82
20. आप्त0 42
21. आप्त0भाष्य, 42
22. वहीं
23. Th Stherbatsky B. L. 94
24. आप्त0 51–53
25. वहीं, 30
26. आप्त0 भाष्य, 30
27. वहीं, 45–50
28. आप्त0 भाष्य, 47
29. वहीं, 49
30. वहीं, 56
31. वहीं, 57
32. वहीं, 58
33. वहीं, 59, 60
34. भट्टाचार्य, वि0शे0दि सेण्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृ033
35. विंशतिका, 1
36. त्रिंशिका, 25
37. लंकावतारसूत्र, 10. 102
38. भारतीयदर्शन,सं0देवराज पृ0223
39. आप्त0 79
40. वहीं, 80
41. वहीं, 83–87
42. अ0 स0 पृष्ठ 246
43. आप्त0भाष्य 83
44. वहीं, 83
45. अ0स0पृष्ठ 248
46. आप्त0 84
47. आप्त0भाष्य, 84
48. आप्त0 87
49. आप्त0भाष्य 87
50. मध्यमकशास्त्र, 24.8
51. अद्वयवज्रसंग्रह, पृष्ठ 19
52. आप्त0 13

53. आप्त0 15
54. न्यायसूत्र, 1.1
55. वैशेषिकसूत्र, 1.4
56. वहीं, 9.1.1–5
57. आप्त0 61–68
58. वहीं, 28
59. वहीं, 30
60. वहीं, 75
61. आप्त0भाष्य, 64
62. वहीं, 65
63. वहीं, 68
64. वहीं, 34
65. वहीं, 71, 72
66. वहीं, 75
67. सांख्यकारिका, 1
68. वहीं, 3
69. आप्त0 9
70. मिश्र, वाचस्पति, न्यायवार्तिक, ता0टी0 2.2.12
71. आप्त0 10, 11
72. वहीं, 10
73. वहीं, 37, 40
74. योगशास्त्र, 1. 9
75. अ0स0 37.178, 179
76. आप्त0भाष्य, 37
77. आप्त0 38
78. आप्त0भाष्य 38
79. सांख्यकारिका, 9
80. आप्त0 39, 69
81. आप्त0भाष्य 39
82. आप्त0 96
83. अ0स0 96.262
84. आप्त0 96
85. वहीं, 14, 15, 56
86. वहीं, 98
87. अ0स03.5
88. वहीं, अ0स0 4
89. आप्त0 9–11
90. आप्त0भाष्य,10, अ0स010.104–109
91. आप्त078,84,85 आप्त0भाष्य 76,78, अ0स0 पृष्ठ 235, 237
92. आप्त0 24
93. अ0स0 पृष्ठ 157
94. आप्त0भाष्य 157
95. आप्त0 25
96. वहीं, 26, 27

❑❑❑

पंचम अध्याय

युक्त्यनुशासन परिशीलन

परिच्छेद प्रथम

युक्त्यनुशासन परिचय एवं दार्शनिक विवेचन

युक्त्यनुशासन आचार्य समन्तभद्रकृत एक लघुकाय भक्तिपरक दार्शनिक स्तोत्र है। दार्शनिक दृष्टि से जितना महत्त्व आप्तमीमांसा का है, उतना ही महत्त्व प्रस्तुत स्तोत्र का है। आप्तमीमांसा में समन्तभद्र ने आप्त की मीमांसा परीक्षा न्यायिक और तार्किक ढंग से की है। युक्त्यनुशासन में उन्होंने आप्त के शासन का प्रतिपादन किया है। इसके अन्तर्गत स्याद्वाद, अनेकान्त, स्यात् एवं एवकार आदि शब्दों का तार्किक विश्लेषण करके उनका व्यवहारिक जगत् में प्रयोग को युक्तियों पूर्वक विवेचित किया है। इस दृष्टि से सम्भवतः जैन दार्शनिक साहित्य में युक्त्यनुशासन जैनदर्शन का प्रथम स्तुति ग्रन्थ है। इस परिच्छेद में हम सर्व प्रथम इस स्तुति ग्रन्थ का बहिरंग परिचय देकर पश्चात् उसकी विषयवस्तु की चर्चा करेंगे।[1]

ग्रन्थ का नाम

युक्त्यनुशासन के स्तुति, वीरस्तोत्र, परमेष्ठिस्तोत्र[2] और परमात्मस्तोत्र आदि नाम भी उपलब्ध होते हैं।[3] 'युक्त्यनुशासन' यह नाम स्वयं ग्रन्थकार का दिया हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु उक्त नाम की सूचना इस ग्रन्थ के 48 वें पद्य से अवश्य अनुमानित होती है।[4] क्योंकि परवर्ती टीकाकारों[5] एवं ग्रन्थकारों[6] ने मुख्य रूप से इस ग्रन्थ को 'युक्त्यनुशासन' के नाम से ही अभिहित किया है। पाण्डुलिपियों में युक्त्यनुशासन नाम के साथ परमेष्ठिस्तोत्र नाम भी पाया जाता है।[7] इस ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में यह अनुमान भी किया जाता है कि जिस प्रकार समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों के दो दो नाम पाये जाते हैं उसी प्रकार इस ग्रन्थ के भी युक्त्यनुशासन और वीरजिनस्तोत्र ये दो नाम हैं।[8] इस सम्बन्ध में यह प्रतीत होता है कि

अपने ग्रन्थों का कोई भी नाम देना समन्तभद्र को अभीष्ट नहीं रहा होगा। परवर्ती पाण्डुलिपिकारों, टीकाकारों समीक्षक विद्वानों ने ही उनकी कृतियों की विषयवस्तु को देखकर उसी के आधार पर एक या उसके अनेक नामों की कल्पना करली होगी। क्योंकि प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ऐसा कहीं भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता जिससे कि यह कहा जा सके कि समन्तभद्र ने अपने अमुक ग्रन्थ की रचना अमुक नाम से की है। प्रतीत होता है कि समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा करने के बाद क्रमशः विना किसी ग्रन्थ के नामोल्लेख के उनके अनुशासन का युक्तियों से प्रतिपादन किया हो, तत्पश्चात् चौबीस तीर्थंकरों की उनके द्वारा अलग अलग तीर्थंकर की स्तुति की गयी हो। बाद में वही ग्रन्थ क्रमशः आप्तमीमांसा या देवागम, युक्त्यनुशासन या वीरजिनस्तोत्र और स्वयम्भूस्तोत्र या समन्तभद्र स्तोत्र कहलाये।[9] डॉ. दरबारी लाल कोठिया ने युक्त्यनुशासन प्रस्तावना में ग्रन्थ में उपलब्ध तत्त्वों के आधार पर तार्किक ढंग से यह सिद्ध किया है कि प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित तथा प्रमाण और नय से निर्णीत अर्थप्ररूपण वीरशासन में ही उपलब्ध होता है और उसी प्रकार का अर्थप्ररूपण समन्तभद्र ने प्रस्तुत युक्त्यनुशासन ग्रन्थ में किया है। अतः प्रत्यक्ष और आगमाविरुद्ध अर्थ (तत्त्व) का प्रत्यक्ष होने से वीरशासन युक्त्यनुशासन है और वीरशासन का ही इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष होने से इसे युक्त्यनुशासन नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है।[10] समन्तभद्र की अन्य कृतियों से यह सूचना उपलब्ध होती है कि ग्रन्थ का नाम ग्रन्थ के प्रारम्भ में या अन्त में रहा है। परन्तु विषापहार आदि स्तोत्रों की तरह युक्त्यनुशासन इस नाम की सूचना मध्य श्लोक से प्राप्त होती है।[11]

युक्त्यनुशासन में कुल चौसठ पद्य प्राप्त होते हैं। आदि के बासठ पद्य उपजाति एवं दो पद्य शिखरिणी छन्द में हैं। डॉ. कोठिया ने **भवत्यभद्रोपि समन्तभद्रः** नामक बासठवें पद्य में ग्रन्थकार का नामाल्लेख होने से यहीं ग्रन्थ की परिसमाप्ति का अनुमान किया है तथा बताया है कि अन्तिम दो पद्य ग्रन्थकारोक्त ज्ञात नहीं होते।[12]

मूलग्रन्थ कीं पाण्डुलिपियों में 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ का प्रस्तावों में विभाजन नहीं है। विद्यानन्द ने उन्तालीसवें पद्य की व्याख्या के बाद प्रथम प्रस्ताव लिखा है। यद्यपि आगे या अन्त में अन्य प्रस्तावों का उल्लेख नहीं है।[14] फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यानन्द को ग्रन्थ को दो प्रस्तावों में वर्गीकृत करना अभीष्ट रहा है।[15]

युक्त्यनुशासन की रचना का आधार

समीक्षक विद्वान्[16] यह अनुमान करते हैं कि समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा ग्रन्थ में आप्त की मीमांसा करने के पश्चात् आप्त के शासन का युक्तियों से युक्त्यनुशासन में प्रतिपादन किया है। सर्व विदित है कि समय समय पर विभिन्न दर्शनों का प्रचार करने की दृष्टि से दार्शनिकों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचनाएं की हैं। संख्या के नाम पर भी रचनाएं की गयी हैं, जैसे बौद्धदर्शन के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन ने इक्सठ पद्यों वाली 'युक्तिषष्ठिका' की रचना की थी। हो सकता है आचार्य समन्तभद्र ने उन्हीं से प्रभावित होकर चौसठ पद्यों से युक्त युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ की रचना की हो। जिस तरह युक्तिषष्ठिका में नागार्जुन ने भाव अभाव आदि रूप से तत्त्व का निराश करके शून्याद्वैत की सम्पुष्टि की है उसी तरह समन्तभद्र ने भी भाव अभाव आदि अनेकान्तात्मक वस्तु की स्याद्वाद द्वारा व्यवस्था दी है। अतः यह सिद्ध है कि युक्त्यनुशासन नागार्जुन की युक्तिषष्ठिका के उत्तर में लिखा गया प्रतीत होता है। युक्ति शब्द से आरम्भ कर रचे जाने वाले ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा उत्तरवर्ती दार्शनिकों में भी रही है। फलस्वरूप युक्तिदीपिका–सांख्यकारिका जैसे ग्रन्थ उत्तरकाल में रचे गये हैं।17 लंकावतारसूत्र के पद्यकार ने बुद्ध के सिद्धान्त को शब्दों द्वारा 'युक्तिदेशना' प्रतिपादित किया है और समन्तभद्र ने वर्द्धमान वीर के सिद्धान्त को युक्त्यनुशासन कहा है। अतः असम्भव नहीं है कि युक्त्यनुशासन युक्तिदेशना का जवाव हो क्योंकि दोंनो का अर्थ प्रायः एक ही है। अन्तर इतना मात्र है कि लंकावतार सूत्रपद्यकार बुद्ध के उपदेश को 'युक्तिपुरस्सर उपदेश' कहते हैं और समन्तभद्र वीर के उपदेश को। इतना विशेष है कि समन्तभद्र उस युक्तिपुरस्सर उपदेश को प्रत्यक्ष और आगम से अबाधित होना आवश्यक मानते हैं, मात्र युक्ति बल पर टिका हुआ नहीं।[18]

युक्त्यनुशासन की विषयवस्तु का परिचय

समन्तभद्र के टीकाकारों के आधार पर, समन्तभद्र के मूल विचारों का मूल्यांकन करने वाले विद्वानों के समक्ष उक्त अन्तर स्पष्ट रहे, जिससे भविष्य में भ्रममूलक निष्कर्ष न निकाले जा सकें इस दृष्टि से युक्त्यनुशासन की विषयवस्तु यहां मूल रूप में प्रस्तुत है।

युक्त्यनुशासन के प्रथम पद्य में वर्द्धमान जिन की स्तुति करते हुए उन्हें सभी दोषाशयों से रहित और निश्चित रूप में प्रवृद्धमान बताकर स्तुति के योग्य बताया गया है। आगे की पांच कारिकाओं में स्तोता और स्तुत्य का नाम, स्तोता की सीमा, स्तुत्य के गुणों की सीमा एवं उनके महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसमें बताया गया है कि लोक में यथार्थता का उल्लंघन करके गुणों के उदय–उत्कर्ष की व्याख्या करने को स्तुति कहते हैं, परन्तु ग्रन्थकार स्तुति के इस लक्षण के अनुरूप स्तुति करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है। तत्पश्चात् स्तोता अपनी शक्ति के अनुसार इष्ट प्रयोजन की सिद्धि की तरह स्तुति करने की प्रवृत्ति को सूचित करते हुए वर्द्धमान का महत्त्व बतलाया है। इसमें कहा गया है कि वीरजिन शुद्धि और शक्ति में अनुपमेय, शान्तिरूप ब्रह्मपथ के नेता और महान् हैं। इनके शासन में एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी का स्वामी होने की शक्ति है, लेकिन वह दृष्टि गोचर नहीं होती क्योंकि इसके कलिकाल, प्रवक्ता का वचनानय और श्रोता का कलुषित आशय–ये तीन कारण हैं।[19]

जिन के शासन की चार विशेषताऐं बबलायी गयी हैं–

1. जिनका शासन दया, दम, त्याग और समाधि का प्रश्रयदाता है।
2. नयों और प्रमाणों से सम्यक् वस्तुतत्त्व को विल्कुल स्पष्ट करने वाला।
3. दूसरे सभी प्रवादों से अबाध्य एवं
4. अद्वितीय है।[20]

जिन के शासन में सभी विशेषताएं इसलिए घटित हो जाती हैं, क्योंकि अर्थ तत्त्व अभेदभेदात्मक है। सर्वथा भेदात्मक, सर्वथा अभेदात्मक और

निरपेक्ष उभयात्मक तत्त्व खपुष्प की तरह असत् होता है। समवायवृत्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह अवृत्तिमती होने से संसर्ग की हानि होती है और संसर्ग की हानि होने से सभी पदार्थों के लोप होने का प्रसंग उपस्थित होता है।[21]

पद्य आठ से चौतीस तक विभिन्न एकान्तवादों की समीक्षा की गयी है। जिसमें बताया गया है कि अर्थतत्त्व अभेदभेदात्मक है, परन्तु इससे भिन्न अर्थतत्त्व मानने में अनेक आपत्तियां आती हैं।

भावैकान्त में किसी भी प्रकार की विक्रिया नहीं बन सकती, जिससे कारक, कार्य और युक्ति नहीं बन पाते हैं। युक्ति के अभाव में बन्ध, मोक्ष और उनका विमोक्ष भी नहीं बन सकता है। इसके अतिरिक्त उसे अहेतु अथवा स्वभाव से मानने पर भी क्रिया कारक का अभाव और वादान्तर होने का दोष आता है।– 8, 9

अवक्तव्यवाद और क्षणिकवाद में भी प्रकारान्तर से वही दोष दिखाये गये हैं, जो भावैकान्त में बताये गये हैं। फिर भी इतना विशेष है कि क्षणिकात्मवाद की सिद्धि में हेतु, सन्तानवाद, कारणकार्यभाव, असत्कार्यवाद, कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, मार्ग, बन्ध मुक्ति, संवृत्ति सत्य आदि क्षणिकवाद के आधारभूत इन सिद्धान्तों की सिद्धि नहीं हो सकती।– 10–17

विज्ञानाद्वैतवाद के समीक्षण के अन्तर्गत उसमें साध्य साधन, स्वसंवेदनत्त्व और निर्विकल्पकत्व की असमर्थता बताकर उनके ही शास्ता और शिष्य तथा श्रायस आदि के बन सकने में आपत्तियां बतायीं गयीं हैं।– 18–24

परमार्थवृत्ति से अभावमात्र को सत्य मानने वालों के समीक्षण में परमार्थ वृत्ति का उनके यहां मान्य संवृत्तिवृत्ति से निरसन किया गया है। इसी के अन्तर्गत सभी सामान्य और विशेषों से शून्य रूप अनभिलाप्यता का खण्डन करते हुए सत्यैकान्त, अनृतैकान्त में दोषों का प्रतिपादन कर उसकी सापेक्ष दृष्टि से व्यवस्था बताते हुए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और कालान्तर स्थायित्ववाद की समीक्षा की गयी है।– 25–34

भौतिकवादियों के भूतचैतन्यवाद, अर्थकामाचारवाद और स्वभाववाद की समीक्षा की तरह दीक्षासममुक्ति वादियों के कर्मकाण्ड और हिंसाभ्युदयवाद में भी दोषों का प्रतिपादन किया गया है।– 35–39

एकान्तवादों के समीक्षण के उपरान्त अर्थतत्त्व का वास्तविक विवेचन और एकान्तवादों की व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। इसमें बताया गया है कि जितने भी विविध हैं वे सभी सामान्यनिष्ठ हैं। प्रत्येक पद अपने विवक्षित स्वभाव की अपेक्षा विशेष को कहता है तथा अविवक्षित कथंचित् अभिन्न विशेषों और उनके आधारभूत सामान्य को भी सूचित करता है। विशेष की अपेक्षा के विना सामान्य की और सामान्य की अपेक्षा विना विशेष की प्रतीति न होने के कारण वह अवस्तु रूप है। इसलिए समन्तभद्र की दृष्टि में प्रत्येक पद एवकार तथा स्यात् पद से युक्त है, जिसका प्रयोग वक्ता सात प्रकार से करता है। जो निम्न प्रकार है– विधि, निषेध, अनभिलाप्यता, निषेध अनभिलाप्यता और विधि निषेध अनभिलाप्यता।– 40–45 इस प्रकार एवकार स्यात्कार और सप्तभंगी को स्पष्ट करते हुए स्यात् पद में एकान्त और अनेकान्त को घटाकर तत्त्व को अनेकान्तात्मक बताया गया है। तत्पश्चात् अनेकान्त को भी अनेकान्त रूप बताकर तत्त्व के भावार्थवान् एवं व्यवहारवान् ये दो भेद किये गये हैं।– 46

तत्त्व की व्यवस्था के आधार स्वरूप द्रव्य और पर्याय का विवेचन तथा इसका दृष्ट और आगम रूप युक्त्यनुशासन एवं उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप उदाहरणों से समर्थन किया गया है। इसके बाद नाना और एक की व्यवस्था बतायी गयी है तथा सापेक्षता को पुरुषार्थ का हेतु बताकर सापेक्ष नयों के द्वारा अर्थकिया का समर्थन किया गया है।– 47–50इस विवेचन के पश्चात् वाच्य और वाचक का विचार किया गया है। इसमें बताया गया है कि आत्मान्तराभाव रूप जो समानता है वह वागास्पद नहीं है और न सामान्य एवं विशेष की एकरूपता ही युक्त है जो अमेय और अश्लिष्ट है वह सामान्य अमेय है। भेद होने पर सामान्य प्रमेय नहीं हो सकता और न नाना सत् पदार्थों के समाश्रयभूत सामान्य ही ठीक है। सामान्य को अवस्तु और सभी विकल्पों से शून्य मानने में भी आपत्ति है। इसके अतिरिक्त

व्यापृति (व्यतिरेक) हीन अन्वय, अन्वयहीन व्यापृति तथा अन्वय और व्यापृति दोनों से हीन अद्वितीय रूप हेतु से साध्य सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार अतद्व्युदासाभिनिवेशवाद भी युक्त नहीं है। जो लोग अनात्म साधन के द्वारा अनात्म साध्य की सिद्धि करते हैं, वह भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार सामान्यवाद की इस चर्चा का समीक्षण करते हुए समन्तभद्र ने उन्हें कुसृति प्रणेता और वैतण्डिक पुकारकर उपसंहार किया है।– 53–58

अर्हन्त के मत में अभाव भी वस्तुधर्म है। यदि अभाव धर्मी का होता, तब वह भावान्तर होता है क्योंकि वह प्रमाण से जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है और वस्तु व्यवस्था के अंग रूप में निर्दिष्ट किया जाता है। अभाव तत्त्व वस्तु व्यवस्था का अंग नहीं है। वह अमेय (अप्रमेय) रूप है। वाक्य विशेष और सामान्य दोंनो से युक्त है। भेद, विधि और प्रतिषेध दोंनो का विधायक होता है। अर्हत् के मत में अभेदबुद्धि से अविशिष्टता और व्यावृत्तिबुद्धि से विशिष्टता की प्राप्ति होती है।– 59–60

ग्रन्थ की अन्तिम चार कारिकाएं उपसंहार रूप में हैं, जिनमें वीरशासन की विशेषताओं, स्तोत्र का उद्देश्य, वीर और महावीर नाम की सार्थकता के कथन पूर्वक अन्त में मोक्षमार्ग की याचना की गयी है। इसमें बताया गया है कि वीर का तीर्थ सर्वान्तवान्, गौण और मुख्य की कल्पना से युक्त, सभी आपदाओं का अन्त करने वाला, निरन्त और सर्वोदय आदि विशेषताओं से युक्त है। उनके शासन में मिथ्यादृष्टि भी यदि समदृष्टि रखता है तो वह समन्तभद्र अर्थात् सब ओर से भद्ररूप बन जाता है।– 60–62

यह स्तोत्र किसी के रागद्वेष वश नहीं रचा गया है अपितु वीर की गुण कथा के साथ इसका सृजन न्याय और अन्याय को पहचानने एवं पदार्थों के गुण दोषों को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए हितान्वेषण के उपायस्वरूप रचा गया है। वीर जिन, दुरित पर की सेना को पूर्ण रूप से पराजित करने के कारण वीर और निःश्रेयश पद को प्राप्त करने के कारण महावीर हैं। देवों और मुनियों के द्वारा स्तुति किये जाने के कारण स्तुत्य हैं

और प्रतिनिधि रहित हैं। इस प्रकार गुणों से युक्त वीर और उनके शासन को देखकर अन्त में ग्रन्थकार ने उनमें ही भक्ति को स्थिर करने की कामना की है।– 63, 64

युक्त्यनुशासन : दार्शनिक विवेचन

अपने नाम के अनुरूप युक्त्यनुशासन स्तुति ग्रन्थ में विभिन्न युक्तियों के माध्यम से जिन के शासन का प्रतिपादन किया गया है। इसमें अनेकान्तात्मक जिन शासन के विरुद्ध मतों के समीक्षण पूर्वक उनका समाधान अनेकान्त दृष्टि से किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विवरण प्रस्तुत है।

जिन : आप्त

अवगत हो कि प्रस्तुत ग्रन्थ में आप्त के स्वरूप का प्रतिपादन करना मुख्य लक्ष्य नहीं है, क्योंकि आप्तमीमांसा ग्रन्थ में समन्तभद्र द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्रमाणों का आश्रय लेकर आप्त की मीमांसा की गयी है, फिर भी संक्षिप्त आप्त का स्वरूप और उनकी विशेषताओं का इसमें वर्णन है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में आप्त के स्थान पर अन्तिम तीर्थंकर के लिए वीर–वर्द्धमान शब्द का प्रयोग करके उन्हें दोषों और दोषाशयों के पाश बन्धन से विमुक्त बताया गया है[22] तथा उनको वर्द्धमान, ऋद्धमान, वीर,[23] भूरिगुणोदधि,[24] शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा तुलाव्यतीत, शक्तिरूप, ब्रह्मपथ के नेता, महान्, ईश, जिन,[25] ऋषि,[26] जिननाग,[27] मुनि[28] आदि नामों और विशेषणों से अभिहित किया गया है।

प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ के प्ररूपण को आप्त का युक्त्यनुशासन कहा गया है।[29] इससे आप्त–सर्वज्ञ के स्वरूप का तार्किक ज्ञान हो जाता है, क्योंकि जिसका वचन प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध होता है, वह निर्दोष होता है। जो निर्दोष होता है वह ही सर्वज्ञ–आप्त होता है। आप्तमीमांसा में भी ऐसा ही आप्त का स्वरूप स्थिर किया गया है।[30] आप्त के इस लक्षण में किसी भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नहीं होती।[31] इस प्रकार युक्त्यनुशासन में आप्तमीमांसा की तरह ही जिन का स्वरूप दोष

और दोशाषयों के पाशबन्धन (आवरण) से विमुक्त प्रत्यक्ष तथा आगम से अविरुद्ध अर्थ के प्ररूपक के रूप में किया गया है।

युक्त्यनुशासन की व्याख्या में विद्यानन्द ने उक्त मन्तव्यों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अज्ञान राग और द्वेष आदि द्वेष हैं। पूर्ण दोष जिसके बल से आत्मा में जागरूक या अपनी सत्ता में रहते हैं, उसे आशय–संस्कार कहा जाता है। तात्पर्य यह कि अज्ञानादि दोषों से उद्भूत संस्कार का नाम ही आशय है।[32] दोष और आशय दो प्रकार के होते है–भावकर्म रूप और द्रव्यकर्म रूप। अज्ञान आदि भावकर्म रूप दोष आशय हैं और ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों का विशेष उदय स्वरूप होने से दोष आशय द्रव्यकर्म रूप होता है। इन दोंनो दोष आशयों से रहित सर्वज्ञ होता है। उनके वचन युक्तिशास्त्राविरोधि होते हैं।[33] इसलिए वे जिन, सर्वज्ञ और वर्द्धमान होने से स्तुतिगोचर हैं। वर्द्धमान की व्युत्पत्ति करते हुए बताया है कि **ऋद्धमानमिति प्रबृद्धमाणत्वादित्यर्थः ऋद्धं प्रबृद्धं मानं प्रमाणं यस्य एव वर्द्धमान इत्युच्यते**।[34] प्रमाण तत्त्वज्ञान ही है, जो स्याद्वाद और नय से संस्कृत है।[35] तत्त्वज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक है[36] और वह केवलज्ञान ही हो सकता है,[37] जिसका सद्भाव सर्वज्ञ में पाया जाता है।

प्रस्तुत श्लोक में स्तुतिकार ने अनुमान के प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अंगों का ही कथन किया है। जैसे– वीरः स्तुतिगोचरः ऋद्धमानत्वात् वीरः ऋद्धमानः विशीर्णदोषाशयपाशबन्धत्वात् वीरः विशीर्णदोषाशयपाशबन्धः कीर्त्यामहत्याभुविवर्द्धमानत्वात्[38], यहां पर हेतुहेतुमद्भाव से ऋद्धमानत्वादिक हेतुओं की सिद्धि की गयी है। यद्यपि स्तुतिकार ने यहां इन समस्त प्रयोगों में, यत्र यत्र प्रवृद्धमानता तत्र तत्र स्तुतिगोचरता, इत्यादिक से अन्वय व्याप्ति प्रकट करने में कोई अन्वय व्याप्ति प्रदर्शक दृष्टान्त प्रकट नहीं किया है, फिर भी टीकाकार ने केवलव्यतिरेक हेतु[39] का प्रदर्शक दृष्टान्त का प्रयोग कर इस बात की पुष्टि की है कि विपक्ष में बाधक प्रमाण के मिलने से ही साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध हो जाती है।[40]

इस प्रकार 'विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध' वर्द्धमान और कीर्त्यामहत्या भुवि वर्द्धमानम् , इन तीन अन्ययोग व्यवच्छेदात्मक विशेषणों द्वारा ऋद्धमानता से

वीर में स्तुतिगोचरता, विशीर्णदोषाशयपाशबन्ध से ऋद्धमानता और कीर्त्यामहत्याभुविवर्द्धमानता से उनमें दोषाशयपाशबन्ध की सिद्धि करके जिन सर्वज्ञ में प्रसिद्ध, वीतरागत्व, सर्वज्ञत्व और हितापदेशकत्व का समर्थन प्रकट किया गया है।[41] जिन अनन्त गुणों के भण्डार होने से 'भूरिगुणोदधि'[42] कहलाते हैं। वे शुद्धि और शक्ति के उदय की काष्ठा को प्राप्त होकर अनुमेय शान्ति स्वरूप, ब्रह्मपथ के नेता महान् और ईश हैं।[43]

विद्यानन्द ने शुद्धि और शक्ति के उदय की पराकाष्ठा तथा शान्ति का कारण बताते हुए लिखा है कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के सर्वथा अभाव होने से आविर्भूत ज्ञान और केवलदर्शन रूप शुद्धि उनमें है। वे अन्तराय कर्म के पूर्ण रूप से क्षय होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले अनन्त बल रूप शक्ति से युक्त हैं। सर्वथा मोहनीय कर्म के विनाश से प्राप्त अव्याबाध सुखरूप शान्ति उनमें है। अनुमेय इसलिए हैं कि उनके समान ब्रह्मपथ मोक्षमार्ग का प्रणेता अन्य कोई नहीं है। इसलिए जिन ब्रह्मपथ के नेता परमात्मा महान् हैं।[44]

जिनशासन का महत्त्व

शासन का अर्थ मत– अनेकान्तात्मक विचार, किया जाता है।[45] युक्त्यनुशासन में कहा गया है कि जिन का शासन अद्वितीय है। यदि कलिकाल, प्रवक्ता का वचनानय और श्रोता का कलुषित आशय के रूप में कारण विद्यमान नहीं हो तो जिन के शासन अनेकान्तात्मक मत में एकाधिपति स्वरूप लक्ष्मी का स्वामी होने की शक्ति है।[46] उनका शासन दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा तत्परता से युक्त है।[47] वह नयों और प्रमाणों के द्वारा सम्यक् वस्तुतत्त्व को विल्कुल स्पष्ट करने वाला है और सभी प्रवादों से अबाध्य है।[48]

इस प्रकार युक्त्यनुशासन में समन्तभद्र ने उसे ही स्तुति का गोचर बनाया है जो वीतराग, सर्वज्ञ और आगमेशि हो। अपने अन्य ग्रन्थों– स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार, स्तुतिविद्या और आप्तमीमांसा में भी समन्तभद्र ने जिन में इन्हीं तीनों गुणों की सिद्धि की है।

जिनशासन में वस्तु का स्वरूप

जिनशासन में वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक माना गया है। जैनधर्म और दर्शन में प्रारम्भ से अद्यावधि वस्तु स्वरूप का अनेकान्तात्मक दृष्टि से ही प्रतिपादन होता रहा है। युक्त्यनुशासन में इसके स्वरूप का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया गया है।

अर्थतत्त्व अभेदभेदात्मक[49] होने से वह अनेकान्तात्मक है और वह दो रूपों में व्यवस्थित है[50]– 1. भावार्थवान् 2. व्यवहारवान्। तत्त्व न तो सत् मात्र है और न असत् मात्र क्योंकि निरपेक्ष सतत्त्व और अतत्त्व दिखलाई नहीं देता। सतासत् रूप में मिला हुआ परस्परापेक्ष रूप तत्त्व की उपाधि के भेद से ही उपलब्धि होती है।[51] जितने भी विविध विशेष हैं, वे सभी सामान्यनिष्ठ हैं। वस्तु या सत्ता का स्वभाव द्रव्य और पर्यायात्मक है। द्रव्य रूप से वस्तु एक रूप है, वह नानात्मकता का त्याग नहीं करती। पर्याय रूप से वस्तु नानात्मक है, परन्तु वह एकात्मकता को नहीं छोड़ती। द्रव्य की यह व्यवस्था अंग अंगी भाव के कारण कम से दृष्टिगोचर होती है।[52] सर्वथा द्रव्य की अलग से कोई व्यवस्था नहीं बनती। उसी प्रकार सर्वथा पर्याय की भी अलग से कोई व्यवस्था नहीं बनती तथा पृथग्भूत द्रव्य और पर्याय दोंनो की कोई व्यवस्था स्थिर नहीं होती। प्रत्येक धर्मी और धर्म असर्वथा रूप से तीन प्रकार के माने गये हैं, जिनमें कहीं भी विरोध नहीं हैं।[53] दृष्ट और आगम अर्थ के प्ररूपण में जहां विरोध उपस्थित नहीं होता है, वह युक्तियों का अनुशासन कहलाता है। जैसे– स्थिति, उत्पाद और व्ययात्मक अर्थ होता है। अर्थ सत् है। सत् स्थिति, उत्पाद और व्ययात्मक है।[54]

अनन्त धर्मों से युक्त वस्तु का स्वरूप होता है और वे धर्म परस्पर सापेक्ष होते हैं, निरपेक्ष नहीं। निरपेक्ष होने पर वे पुरुषार्थ के हेतु नहीं बन सकते हैं, क्योंकि कभी भी अंशी अंशों से पृथक् नहीं होता है।[55] मन का समत्व अनेकान्त दृष्टि से ही सम्भव है। जीवों की अहंकृकत से उत्पन्न राग द्वेषादिक एकान्तधर्माभिनिवेश मूलक होते हैं। जहां एकान्त नहीं होता वहां आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने वाला अनेकान्त होता है।

इसलिए अनेकान्त वास्तविक दृष्टि– मन के समत्व का हेतु है।[56] वस्तुतः प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, नानात्मक रूप से उसका निश्चय ही सर्वथा एकान्त का प्रयोजन है।[57] विशेष और सामान्य वाक्यों के भेद विधि और निषेध दोंनो के विधायक होते हैं।[58] जिन का शासन गौण और मुख्य की कल्पना से युक्त है।[59] समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों में अनेकान्त के सम्बन्ध में इसी प्रकार अनेक तर्क दिये गये हैं।[60]

स्याद्वाद

पूर्व के अध्याय में स्याद्वाद के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। युक्त्यनुशासन में स्याद्वाद विषयक समन्तभद्र के विचार निम्नलिखित हैं।

1. स्यात् शब्द निपात् है।
2. वाक्य में गौण रूप से यह विरोधी धर्म का द्योतक होता है।
3. वह वस्तु का अंग है।
4. वह विपक्ष की सन्धि स्वरूप होता है।[61]
5. सकल अर्थ के भेद स्यात् शब्द से नेय है।[62]
6. स्यात् गुण और मुख्य रूप स्वभावों द्वारा कल्पित एकान्त वाला हो जाता है, क्योंकि वह यथोपाधि विशेष का द्योतक होता है।[63]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि स्यात् शब्द निपात् है और अपने विरोधी धर्म का द्योतक होता है। स्यात् शब्द यद्यपि किसी विशेष धर्म का द्योतक नहीं होता है, फिर भी जब उसका अस्ति शब्द के साथ प्रयोग किया जायेगा तो वह पद अपने अर्थ के अस्तित्व को मुख्य रूप से प्रकाशित करता है और नास्तित्व को गौण रूप से। यह पद अस्तित्व के समय नास्तित्व को और नास्तित्व के समय अस्तित्व को जोड़े रहता है।[64]

स्यात् शब्द का प्रयोग

अनेकान्त अर्थ के द्योतन के लिए स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्य में स्वधर्म मुख्य होता है और अन्य गौण होते

हैं। इसी मुख्य गौण विवक्षा का सूचन स्यात् शब्द करता है। इसलिए विना स्यात् शब्द के अनेकान्त का प्रकाशन सम्भव नहीं है। यहां यह कहा जा सकता है कि शास्त्र या लोक में सर्वत्र स्यात् पद का प्रयोग नहीं पाया जाता। इसलिए वहां कैसे अनेकान्त का प्रकाशन सम्भव है, इसका समाधान समन्तभद्र द्वारा यह दिया गया है कि[65] **'तथा प्रतिज्ञाशयतो प्रयोगः सामर्थ्यतो या प्रतिषेधयुक्तिः'** अर्थात् जहां पर स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है, उसके दो कारण हैं, जिससे 'स्यात्' शब्द के प्रयोग के विना भी विवक्षित अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है। वे कारण हैं--

1. प्रतिज्ञाशय और 2. सामर्थ्य

जिस वाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता, उसका कारण स्यात्पदात्मक प्रकार का आशय है जो प्रतिपादन करने वाले की प्रतिज्ञा में सन्निहित है। जिस प्रकार सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः इत्यादि वाक्यों में कहीं पर भी स्यात् या एव शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, फिर भी वह यहां जाना जाता है, क्योंकि शास्त्रकार का वैसा वहां प्रतिज्ञाशय का सद्भाव है।[66] स्यात् पद के विना भी अनेकान्त के द्योतन की युक्ति बन जाती है। उसका कारण सामर्थ्य है। क्योंकि स्यात् शब्द के प्रयोग के विना कोई भी स्याद्वादी नहीं कहला सकता और न अनेकान्तवाद ही सुघटित हो सकता है। जिस प्रकार सम्यक् एकान्त एवकार के विना नहीं बन सकता, उसी प्रकार स्याद्वादी भी विना स्यात् के प्रयोग के नहीं बन सकता है। स्याद्वादी होना ही इस बात का सूचक है कि प्रतिपाद्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग अवश्य है, भले ही उसमें स्यात्शब्द का प्रयोग नहीं किया गया हो, यही उसके पद प्रयोग की सामर्थ्य कहलाती है।[67]

अकलंक ने स्यात् शब्द के अप्रयोग से भी अनेकान्त अर्थ की प्रतीति की सम्भावना में कारण एवं पुरुष का कुशल होना बताया है। उनका मन्तव्य है कि वक्ता या श्रोता वस्तु स्वरूप के विवेचन में कुशल है तो स्यात् शब्द का कोई नियम नहीं है। इसके प्रयोग के विना भी विधिपरक, निषेधपरक तथा अन्य प्रकार के वाक्यों में स्यात्कार आदि की प्रतीति अपने

आप हो जाती है।[68] इस प्रकार स्यात् शब्द का अर्थ अनेकान्त का द्योतन करना है, जिसके कथंचित् अर्थ और अनेकान्त पर्याय के रूप में जाने जाते हैं। स्यात् शब्द का अर्थ जैनदर्शन में शायद, सम्भव, अनिश्चय आदि नहीं होता है।[69]

स्यात् के साथ एवकार का प्रयोग

युक्त्यनुशासन में बताया है कि पद या वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग भी आवश्यक है। पद या वाक्य को न तो एवकार से विशिष्ट होना चाहिए और न ही एवकार से रहित अन्यथा दोंनो अवस्थाओं में वस्तु व्यवस्था नहीं बन सकती।[70]

जो पद एवकार से उपहित–विशिष्ट होता है उसमें निम्न दोष आते हैं–

1. वह अस्वार्थ से स्वार्थ को अलग करता है।
2. सब स्वार्थ पर्यायों को अलग करता है।
3. सभी स्वार्थ सामान्यों को अलग करता है।
4. सभी स्वार्थ विशेषों को अलग करता है।

उपर्युक्त को व्याख्याकार ने 'जीव एव' का उदाहरण देकर बताया है कि उक्त पद 'एव' नाम के निपात से विशिष्ट है। जो जीव–स्वार्थ को अजीवत्व–अस्वार्थ से अलग करता है। जिस प्रकार जीव एव' अजीवत्व का व्यवच्छेदक है उसी प्रकार सभी स्वार्थ पर्यायों आदि का भी व्यवच्छेदक है अन्यथा उस एक पद से ही उनका भी बोध हो जाना चाहिए, उनके लिए, मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन हूँ आदि पदों का अलग अलग प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। इससे उन क्रमभावी धर्मों– सामान्यों तथा अनभिधेय धर्मों अर्थ पर्यायों का व्यवच्छेद– अभाव होने पर जीव पद के अभिधेय रूप जीवत्व की, अजीवत्व के समान हानि होती है, क्योंकि स्वपर्यायों आदि के अभाव में जीवादि कोई भी वस्तु सम्भव नहीं हो सकती।[71] जो पद एवकार से रहित होता है, वह न कहे हुए के समान है क्योंकि उसमें निम्न आपत्तियां आती हैं।[72]

1. नियमद्वय (अस्ति नास्ति) के इष्ट होने पर भी व्यावृत्ति का अभाव होता है अर्थात् निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जाने के कारण प्रतिपक्ष की निवृत्ति नहीं बन सकती।
2. पदों में परस्पर पर्यायभाव ठहरता है।
3. पर्यायभाव के होने पर परस्पर प्रतियोगी पदों में से कोई, किसी का भी प्रयोग कर सकता है।
4. चाहे जिस पद का प्रयोग होने पर सम्पूर्ण अभिधेयभूत वस्तु जाति को अन्य से अलग कर देती है।
5. जो प्रतियोगी से रहित होता है, वह आत्महीन होता है।

एक अन्य उदाहरण 'अस्ति जीवः' के माध्यम से बताया गया है कि इसमें 'अस्ति' और जीवः ये दोंनो पद एवकार से रहित हैं। 'अस्ति' पद के साथ एवकार के न होने से नास्तित्व का व्यवच्छेद नहीं होता है और नास्तित्व का व्यवच्छेद न होने से 'अस्ति' पद के द्वारा नास्तित्व का भी कथन होता है। इसलिए 'अस्ति' पद का प्रयोग न कहे हुए के समान हो जाता है। इसी तरह 'जीव' पद के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग न होने से अजीवत्व का व्यवच्छेद नहीं होता और अजीवत्व का व्यवच्छेद न होने से जीव पद के द्वारा अजीव का भी कथन होता है। इसलिए जीव पद का प्रयोग न किये हुए के समान हो जाता है। अस्ति पद के द्वारा नास्तित्व का भी और नास्ति पद के द्वारा अस्तित्व का भी कथन होने से तथा जीव पद के द्वारा अजीव अर्थ का भी और अजीव पद के द्वारा जीव अर्थ का भी कथन होने से अस्ति नास्ति पदों में तथा जीव अजीव पदों में घट और कलश शब्दों की तरह एकार्थकता सिद्ध होती है। एकार्थक होने से घट और कलश शब्दों की तरह अस्ति और नास्ति में से तथा जीव और अजीव शब्दों में से चाहे जिस किसी एक शब्द का प्रयोग किया जा सकता है और चाहे जिस का प्रयोग होने पर सम्पूर्ण वस्तु मात्र अपने प्रतियोगी से रहित हो जाती है अर्थात् अस्तित्व नास्तित्व से सर्वथा रहित हो जाता है। ऐसा होने से सत्ताद्वैत का प्रसंग आता है। नास्तित्व का सर्वथा अभाव होने से

सत्ताद्वैत आत्महीन हो जाता है, क्योंकि पररूप के त्याग के अभाव में स्वरूप का ग्रहण नहीं बनता। जैसे घट रूप का त्याग किये बिना पट का स्वरूप प्रतिष्ठित नहीं होता। इसी तरह अभाव भी भाव के विना नहीं बनता क्योंकि वस्तु का वस्तुत्व स्वरूप के ग्रहण और पररूप के त्याग पर ही निर्भर है। वस्तु ही पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अवस्तु हो जाती है। समस्त स्वरूप से शून्य कोई पृथक्वस्तु सम्भव ही नहीं है।[73]

इस प्रकार समन्तभद्र ने प्रत्येक पद या वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग आवश्यक बताया है। इनके उत्तरवर्ती कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में स्यात्कार और एवकार के प्रयोग के विषय में मतभेद पाया जाता है। उनमें अकलंक, जयसेन तथा अभयदेवसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय है। अकलंक प्रमाण वाक्य और नय वाक्य दोंनो में स्यात्पद और एवकार का प्रयोग आवश्यक मानते हैं। जयसेन और अभयदेव केवल नयवाक्य में ही एवकार का प्रयोग आवश्यक मानते हैं।

अकलंक के अनुसार यदि जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म द्रव्य आदि वस्तुवाचक शब्दों के साथ स्यात्कार या एवकार शब्द का प्रयोग किया जाता है तो वह प्रमाण वाक्य है और यदि अस्ति, नास्ति, एक अनेक आदि धर्मवाचक शब्दों के साथ उनका प्रयोग किया जाता है तो वह नय वाक्य है। इसके विपरीत जयसेन और अभयदेव के मत से किसी भी शब्द के साथ, वह शब्द धर्मवाचक हो या धर्मी वाचक हो, यदि एवकार का प्रयोग किया जाता है तो वह नयवाक्य है और यदि एवकार का प्रयोग नहीं किया गया है, केवल स्यात् शब्द का प्रयोग किया गया है तो वह प्रमाण वाक्य है।[74]

सप्तभंगी

युक्त्यनुशासन में सात भंगों का स्पष्ट विवेचन किया गया है। जो इस प्रकार है।[75] 1. स्यात् विधि 2. स्यात् निषेध 3. स्यात् अनभिलाप्यता 4. स्यात् विधि निषेध 5. स्यात् विधि अनभिलाप्यता 6. स्यात् निषेध अनभिलाप्यता और 7. स्यात् विधि निषेध अनभिलाप्यता। युक्त्यनुशासन के अतिरिक्त

समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों[76] में भी सात भंगों का स्पष्ट विवेचन किया गया है। समन्तभद्र को सप्तभंगी का यह चिन्तन परम्परा से प्राप्त था।[77] सातभंगों का तुलनात्मक विवरण अधोलिखित है।

सप्तभंग तालिका

	कुन्दकुन्द		समन्तभद्र		
	पंचास्तिकाय	प्रवचनसार	आप्तमीमांसा	स्वयम्भूस्तोत्र	युक्त्यनुशासन
1.	स्यात् अस्ति	स्यात् अस्ति	कथंचित् सत्	विधेय	स्यात् विधि
2.	स्यात् नास्ति	स्यात् नास्ति	कथंचित् असत्	वार्य	स्यात् निशेध
3.	स्यात् उभय	स्यात् अवक्तव्य	कथंचित् उभयात्मक	उभय	स्यात् अनभि लाप्यता
4.	स्यात् अवक्तव्य	स्यात् उभय	कथंचित् अवाच्य	अनुभय	स्यात् विधिनिषेध
5.	स्यात् अस्ति अवक्तव्य	स्यात् अस्ति अवक्तव्य	कथंचित् सत् अवाच्य	विधेय अनुभय	स्यात् विधि अनभिलाप्यता
6.	स्यात् नास्ति अवक्तव्य	स्यात् नास्ति अवक्तव्य	कथंचित् असत् अवाच्य	वार्य अनुभय	स्यात् निषेध अनभिलाप्यता
7.	स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य	स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य	कथंचित् सतासत् अवाच्य	उभयानुभय	स्यात् वि0नि0 अनभिलाप्यता

तीन मूल भंग

युक्त्यनुशासन में स्यात् विधि, स्यात् निषेध और स्यात् अनभिलाप्यता इन तीन मूल भंगों का उल्लेख किया गया है। अन्य चार भंग द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी हैं। स्यात् विधि निषेध, स्यात् विधि अनभिलाप्यता, स्यात् निषेध अनभिलाप्यता ये तीन भंग द्विसंयोगी हैं और स्यात् विधि निषेध अनभिलाप्यता यह एक भंग त्रिसंयोगी है।[78] समन्तभद्र के उत्तरवर्ती दार्शनिकों ने उनके दोंनो कमों का अनुसरण किया है क्योंकि उनके तीसरे या चौथे भंग में से किसी को भी आगे पीछे रखने पर अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता।

प्रथम दो भंग

समन्तभद्र कथंचित् सत् और कथंचित् असत् इन दो भंगों का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि –

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।। – आप्त0 15
न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमान्तर सर्वनिषेधगम्यम्।[79]

अर्थात् स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ सत् हैं तथा पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सभी पदार्थ असत् हैं।

अन्य पांच भंग

कथंचित् सत् और कथंचित् असत् इन दो भंगों के निरूपण के पश्चात् शेष पांच भंगों का निरूपण समन्तभद्र ने निम्न प्रकार किया है[80]–

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाः स्वहेतुतः।।

कथंचित् सत् और असत् की कम से विवक्षा होने से वस्तु उभयात्मक है तथा एक साथ विवक्षा होने से कथन की असामर्थ्य के कारण अवाच्य है। इसी प्रकार 'स्यादस्ति अवक्तव्य' आदि तीन भंग भी अपने कारण से बन जाते हैं।

सात भंग ही क्यों

समन्तभद्र ने बताया है कि जितने भी विकल्प अर्थ भेद हो सकते है वे सभी उपर्युक्त स्यात् शब्द से नेय सात विकल्पों में सन्निहित हैं। उनके इस कथन से सात भंग के अतिरिक्त भंगों के नहीं मानने का समाधान हो जाता है।[81]

इस प्रकार समन्तभद्र ने अनेकान्तात्मक व्यापक विचार पद्धति को अभिव्यक्त करने के लिए 'स्यात्' पद से विवक्षित अस्ति, नास्ति रूप सात वचन प्रकारों का तार्किक विश्लेषण किया है।

प्रमाण

युक्त्यनुशासन में प्रमाण से सम्बन्धित चर्चा निम्नलिखित कारिकाओं में हुई है –

1. युक्त्यनुशासन में 'वर्द्धमान' पद की व्याख्या में बताया गया है कि **'ऋद्धं प्रवृद्धं मानं प्रमाणं यस्य स एव वर्द्धमान इत्युच्यते'**[82] **प्रमाणं प्रवृद्धमिति चेत् तत्त्वज्ञानमेव तत्त्वज्ञानं प्रमाणं स्यादिति वचनात् तस्यैव प्रवृद्धोपपत्तेः स्याद्वाद नयसंस्कृतत्वात्'**[83] तात्पर्य यह कि प्रवृद्ध प्रमाण तत्त्वज्ञान ही है और वह स्याद्वादनय से संस्कृत होने पर प्रवृद्धता को प्राप्त होता है। अन्य नैयायिक आदि दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत सन्निकर्ष आदि में प्रवृद्ध प्रमाणता नहीं आ सकती है[84] क्योंकि उनका ज्ञान स्वपर व्यवसायात्मक नहीं होता। वस्तुतः स्वपर व्यवसायात्मक तत्त्वज्ञान ही प्रवृद्ध प्रमाण है।[85]
2. **'नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्'** की व्याख्या में विद्याननद ने बताया है कि द्रव्य पर्याय रूप जीवादि तत्त्वों का सुनिश्चित असम्भवद्बाधक रूप से निर्णय करने वाले नय और प्रमाण हैं। नय और प्रमाण परस्पर सापेक्ष हैं। नय निरपेक्ष प्रमाण के द्वारा सुनिश्चित असम्भवद्साधकप्रमाण रूप में वस्तुतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती। एकान्त रूप से प्रमाण द्वारा वस्तु की सिद्धि मानने पर, संकर, व्यतिकर आदि दोष आते हैं। इसलिए निरपेक्ष नय और नय निरपेक्ष प्रमाण असंभव हैं। वस्तु की सिद्धि सापेक्ष नय और नय सापेक्ष प्रमाणों द्वारा ही सम्भव हो सकती है।[87]
3. अवस्तुरूप– अन्यापोहरूप सामान्य को अन्यत्व और अनन्यत्व रूप विकल्पों से रिक्त कहने पर उसकी इस अभेद रूप अवस्था में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।[88]
4. अभाव प्रमाण से जाना जाता है एवं व्यपदिष्ट किया जाता है; समन्तभद्र के इस कथन की व्याख्या में विद्यानन्द ने बतलाया है कि भव की तरह अभव वस्तु व्यवस्था का अंग होने से वस्तु का धर्म है। यहां यह

आशंका की गयी है कि अभाव को प्रमाण की तरह नहीं माना जा सकता। इसका समाधान यह दिया गया है कि प्रमाण में ही प्रमेयत्व धर्म का अविरोध है, क्योंकि अविसंवादक ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण जिस समय करण साधन में व्युत्पादित होता है तब आत्मा भी प्रमाण के द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार प्रमेय आत्मा में प्रमेयत्व धर्म की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'प्रमितिः प्रमाणम्' इस भावसाधन व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाण में आत्मा रूप अर्थ की धर्मता सिद्ध होती है। इसी तरह घटादि भाव में भी अभाव का धर्मत्व में विरोध नहीं पड़ता है।91

5. 'दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थं' से प्रमाण के प्रत्यक्ष और आगम के भेदों की ओर संकेत किया गया है।

नय – **युक्त्यनुशासन की कारिका नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्** में नय के महत्त्व का पता चलता है।[92] अन्यत्र ग्रन्थ में सर्वत्र वस्तु विवेचन में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का आश्रय लिया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि युकत्यनुशासन सूत्रात्मक शैली में लिखा गया न्याय और दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्तुति ग्रन्थ है। जिसमें वीर की स्तुति के माध्यम से जैनदर्शन का सार समाहित कर दिया गया है। आप्तमीमांसा की तरह इसमें भी आप्त का स्वरूप दोष और दोषाशयों के पाश बन्धन से विमुक्त, प्रत्यक्ष तथा आगम से अविरुद्ध अर्थ के प्ररूपक के रूप में किया गया है। वस्तुतत्त्व के प्रतिपादन, अनेकान्त, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों के विवेचन एवं विभिन्न एकान्तवादों के समीक्षण आदि में सर्वत्र अनुमान वाक्य, व्याप्ति, केवल व्यतिरेकि आदि युक्ति वाक्यों का आश्रय लिया गया है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य, जैन, न0कु0 समन्तभद्र अवदान पृ052
2. युक्त्य0टीका, 39
3. वहीं, 39
4. युक्त्य0 48
5. युक्त्य0टीका, 39, 63
6. हरिवंशपुराण, 1. 30
7. मूडवद्री,जैनमठ, पाण्डु0 674, 120
8. मुख्तार, जु0कि0युक्त्य0प्रस्तावना, पृ0 13, 14
9. मुख्तार, जु0कि0स्वय0प्रस्तावना, पृ0 2
10. कोठिया, द0लाल,युक्त्य0प्रस्ता0 पृ0 3

11. वहीं, पृ0 3, 4
12. वहीं, पृ0 21
13. मूडवद्री, जैनमठ पाण्डु0 674, 120
14. काशी, स्या0महा विद्या0 पाण्डु0 89 दि0सं0 2 पूना, भा0ओ0रि0इ0 पाण्डु0 1201/1881–95
15. उद्धृत, जैन, न0कु0 समन्तभद्र अवदान पृ052
16. मुख्तार,जु0कि0स्वय0 प्रस्तावना, पृ0 2
17. कोठिया,द0लाल, युक्त्यनुशासन और समन्तभद्र, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ0167
18. वहीं, पृ0 167, 168
19. युक्त्य0 2–5
20. वहीं, 6
21. वहीं, 7
22. वहीं, 1
23. वहीं, 1
24. वहीं, 2
25. वहीं, 4
26. वहीं, 32, 39
27. वहीं, 44
28. वहीं, 58
29. वहीं, 48
30. आप्त0 4
31. वहीं, 6
32. युक्त्य0टीका, 1
33. वहीं, 1
34. वहीं, 1
35. आप्त0 101
36. युक्त्य0टीका, 1
37. वहीं, 1, पृष्ठ 11
38. वहीं, 1, पृष्ठ 13
39. वहीं, 1, पृष्ठ 13
40. मूलचन्द, युक्त्य0हिन्दी विवेवन,पूर्वार्द्ध,पृ054
41. युक्त्य0 टीका, 3
42. युक्त्य0 2
43. वहीं, 4
44. युक्त्य0टीका, 4, पृष्ठ 15
45. वहीं, 5, 6
46. युक्त्य0 5
47. वहीं, 6
48. वहीं, 6
49. वहीं, 7
50. वहीं, 46
51. वहीं, 32
52. वहीं, 49
53. वहीं, 47
54. वहीं, 48
55. वहीं, 50
56. वहीं, 51
57. वहीं, 52
58. वहीं, 60
59. वहीं, 61
60. आप्त0 34
61. युक्त्य0 43
62. वहीं, 45
63. वहीं, 46
64. वहीं, 43
65. युक्त्य0 44
66. युक्त्य0 टीका, 45
67. वहीं, 44
68. लघीयस्त्रय, 3/63
69. द्रष्टव्य,चतुर्थ अध्याय, परि0द्वि0
70. युक्त्य0 41
71. युक्त्य0टीका 41
72. युक्त्य0 42
73. मुख्तार,जु0कि0युक्त्य0 पृ054,55
74. शास्त्री,कै0च0जैन न्याय,पृ0322
75. युक्त्य0 45

76. आप्त014, 16 एवं
स्वय0118
77. पंचा014 एवं प्र0सार 2.
22,,23
78. युक्त्य0 45
79. वहीं, 32
80. आप्त0 16
81. युक्त्य0 50
82. वहीं, 1
83. युक्त्य0टीका, पृष्ठ 2
84 वहीं, 2
85. वहीं, 10, 11
86. युक्त्य0 6
87. वहीं, पृष्ठ 17
88. युक्त्य0 56
89. वहीं, 60
90. युक्त्य0टीका, 60 पृ0152
91. वहीं, 6 पृष्ठ 153
92. वहीं, 17–21

□□□

परिच्छेद द्वितीय
युक्त्यनुशासन और अन्य भारतीय दर्शन

पूर्व में जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि समन्तभद्र ने अपनी कृतियों में किसी मत के प्रवर्तक का नाम लेकर समीक्षण नहीं किया है। टीकाकारों ने विभिन्न एकान्तवादों के नाम सहित विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाओं के मत मानकर उनका विस्तृत समीक्षण किया है। युक्त्यनुशासन की सामग्री का विद्यानन्द ने दो भागों में विभाजन किया है। एक में एकान्तवादों का समीक्षण है और दूसरे में वीरशासन अनेकान्तवाद का निरूपण है। समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में प्रतिपादित एकान्तवादों के समीक्षण में पाये जाने वाले एकान्तवाद और सम्भाव्य एकान्तवादों का समीक्षण प्रस्तुत किया है। एक दृष्टि से आप्तमीमांसा को छोड़कर समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थों, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र और जिनशतक में जिन एकान्तवादों का समीक्षण हुआ है, उनका समाधान आप्तमीमांसा के एकान्तवादों के समीक्षण में ही हो जाता है, फिर भी युक्त्यनुशासन में एकान्तवादों के समीक्षण करने की एक ही उपादेयता प्रतीत होती है कि जिससे वीर के शासन का स्पष्ट विवेचन हो जाये।

युक्त्यनुशासन में निम्नलिखित एकान्तवादों का समीक्षण किया गया है –

एकान्तवाद	श्लोक कमांक
भेदवाद	7
अभेदवाद	
सर्वथाभेदाभेद	
नित्यवाद (वैशेषिक नैयायिक सांख्य आदि)	8, 9, 10, 14
क्षणिकात्मवाद	11, 17, 5
विज्ञानवाद	18, 19, 16
संवेदनाद्वैतवाद	20, 24, 17

एकान्तवाद	श्लोक कमांक
अभाववाद (शून्यवाद)	25, 26, 18
व्यतीत सामान्य भाववाद	19
व्यतीत विशेष भाववाद	20
सर्वथा शून्यवाद	21
सर्वथा सत्वाद	27, 22
अनभिलाप्यतावाद	23, 28
अवाच्यवाद	24, 29

यहां तक भावमात्र, अभावमात्र, उभयमात्र और अवाच्यतामात्र की असत्यता निरूपित की गयी है। इससे सद्वाच्य, असद्वाच्य, उभयवाच्य, अनुभयवाच्य मिथ्यावादों का निरसन हो जाता है।

सर्वथा अनेकान्तवाद	25, 30
सत्यानृतवचन और अनृतानृत वचन	31
सत्वाद	26
असत्वाद	27
सत्, असत् आदि से रहित सर्वधर्मो के निषेध का विषयभूत कोई एक आत्मान्तर परब्रह्म	32
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष बौद्ध	29, 33
कालान्तर सम्बन्धी भाव	30, 34
चार्वाक	31, 35, 36
मीमांसक	32, 37, 38, 39

यहां युक्त्यनुशासन में समीक्षित एकान्तवादों का विवेचन भारतीय दर्शनों के कमानुसार प्रस्तुत है।

चार्वाक दर्शन समीक्षा

युक्त्यनुशासन के भूतचैतन्यवाद, स्वभाववाद और कामाचारवाद के समीक्षण में चार्वाक दर्शन का समीक्षण हो जाता है। भारतीय दर्शन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में चार्वाक, लोकायत, पुरन्दर, बार्हस्पत्य, आदि विभिन्न नामों

से अभिहित किये जाते हैं। इनके संस्थापक बृहस्पति माने जाते हैं। इनके प्रमुख सिद्धान्त प्रत्यक्षैकप्रमाणवाद, भूतचैतन्यवाद और अर्थकामाचारवाद आदि माने जाते हैं। युक्त्यनुशासन में समन्तभद्र ने लिखा है कि–

मद्यांगवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा मृदवः प्रलब्धाः।।
दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतो विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा प्रपातः ।।

जैसे मद्यांग– गुड़, महुआ, पिष्टोदक, धातकी आदि के मिलने से मदशक्ति की उत्पत्ति या आविर्भाव होता है, वैसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्त्वों के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। यह सब शक्ति विशेष की ही व्यक्ति है। कोई दैव सृष्टि नहीं। इस प्रकार शिश्न तथा उदर की ही पुष्टि में सन्तुष्ट रहने वाले निर्लज्जों तथा निर्भयों के द्वारा मूढ़ स्वभाव वाले मनुष्य ठगे जाते हैं, खेद है। जब उत्पन्न होने आदि का कारण विना विशेषता के देखा जाता है तो प्राणि प्राणि के प्रति विशेषता ही क्या रह जाती है। यदि इस वैशिष्ट्य की सिद्धि स्वभाव से ही मानी जाती है तो चारों भूतों के अतिरिक्त पांचवें आत्मतत्त्व की सिद्धि को भी स्वभाव से क्यों नहीं मान लेते। इस प्रकार तत्वान्तर सिद्धि को न मानने वालों का खेदजनक प्रपतन हुआ है।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं–

1. भौतिकवादी दार्शनिक पृथ्वी आदि भूतों, जड़तत्त्वों से ही चेतन तत्त्व की उत्पत्ति मानते हैं।
2. भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति स्वभाव से होती है।
3. भूतचैतन्य मानने के कारण परलोक, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप आदि की मान्यता का इस सिद्धान्त में अभाव प्रतीत होता है। इसलिए उसे आचार की दृष्टि से अर्थ और काम में संलग्न बताया है।

विद्यानन्द ने चार्वाकों के सिद्धान्त उत्पत्ति और अभिव्यक्ति पक्ष को लेकर उनके दो भेद किये हैं। प्रथम पृथ्वी आदि भूतचतुष्क से चैतन्य की

उत्पत्ति मानने वाले कार्यवादी अविद्धकर्मादिक और दूसरे पृथ्वी आदि भूतचतुष्क से चैतन्य की अभिव्यक्ति मानने वाले पुरंदरादिक। इनके अनुसार बताया गया है कि पृथ्वी आदि चार भूतों से सर्वप्रथम शरीर, इन्द्रिय, विषयसंज्ञा, उत्पन्न या आविर्भूत होते हैं, पश्चात् चैतन्य। चैतन्य की उत्पत्ति में पृथ्वी आदि चार भूत परम्परा कारण हैं और शरीर, इन्द्रिय, विषय, संज्ञा साक्षात् कारण हैं। अहं चक्षुषा रूपं जानामि, इस उदाहरण में ज्ञाता के अभाव में 'ज्ञ' की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान क्रिया का कर्ता है, करण और कर्म के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। यहां जो कर्ता है वह शरीर, संज्ञा, चैतन्य विशिष्ट ही है। इसके अतिरिक्त अन्य तत्त्व आत्मा आदि नहीं। दूसरे इसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण भी नहीं पाया जाता। चक्षु आदि इन्द्रिय संज्ञक चैतन्य करण माना गया है, क्योंकि चैतन्य विशिष्ट इन्द्रिय के अतिरिक्त करण कहीं पाया नहीं जाता। विषय संज्ञक तत्त्व कर्म हैं, जो ज्ञेय रूप में अवस्थित रहते हैं। यहां प्रश्न उठता है कि जब शरीर, इन्द्रिय और विषयसंज्ञा से ही चैतन्य उत्पन्न या आविर्भूत होता है तो मृत देह में शरीर इन्द्रियादिक विद्यमान रहने पर उसमें चैतन्य क्यों नहीं देखा जाता, चार्वाकों की ओर से यह उत्तर दिया जाता है कि चैतन्य विशिष्ट जीव के ही शरीर, इन्द्रिय और विषयसंज्ञा चैतन्य से उत्पन्न कर्ता के रूप में माने गये हैं, अचेतन जीव के नहीं। प्रतिनियत भूतों के मिलने पर ही शक्त्यन्तर रूप चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, अप्रतिनियत भूतों के मिलने पर नहीं। तीसरे शरीर, इन्द्रिय, विषय के आरम्भक भूतों के समुदाय से ही ये इस प्रकार की संज्ञा को प्राप्त होते हैं और यही चैतन्य की उत्पत्ति के कारण होते हैं। मृत देह में भूतों का समुदाय होते हुए भी वे शरीरादि के आरम्भक नही हैं, जिससे शरीर इन्द्रिय, विषय संज्ञा नहीं बन पाते। इसलिए चैतन्य की भी उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रकार मद्यांग पिष्टोदक आदि के समागम होने पर मद की कारण भूत शक्त्यन्तर की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों के समागम होने पर ज्ञान की कारण भूत शक्त्यन्तर की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार प्रतिनियत भूतों के समागम को ही शक्त्यन्तर रूप चैतन्य की व्यक्ति में कारण माना गया हैं। पृथ्वी आदि भूतों के मिलने पर जो शक्त्यन्तर रूप चैतन्य की व्यक्ति होती

है वह दैवनिमित्तक न होकर स्वाभाविक होती है अन्यथा उसमें दृष्टकारण व्यभिचार, अनवस्था और अन्यथानवस्था दोष आते हैं।[2]

भूतचैतन्यवाद समीक्षा

परमार्थ से अनादिनिधन उपयोग लक्षण वाली आत्मा प्रमाण से प्रसिद्ध है। इसलिए भूतसमागम होने पर चैतन्य की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति बिल्कुल असम्भव है। चार्वाकों से यदि यह प्रश्न किया जाये कि पृथ्वी आदि भूतों के समागम होने पर जो अविकल, अनुपहत शक्ति वाली चैतन्य शक्ति है, वह उत्पन्न या अभिव्यक्त होने के पहले सत् रूप है अथवा असत् रूप या सतासत् उभयरूप। सत्, असत् और उभय इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई विकल्प बन नहीं सकता।

चारों भूतों में चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति केवल सत् मानने पर सर्वत्र सत् की ही अभिव्यक्ति सिद्ध होने से उसमें अनादि और अनन्तत्व सिद्धि का प्रसंग उपस्थित होता है। **कथंचिन्नित्यचैतन्यशक्तिः सदकारणत्वात्पृथिव्यादि सामान्यवत्** – इस हेतु से पृथ्व्यादि सामान्य की तरह, उसमें सत् के अकारणत्व होने से चैतन्यशक्ति कथंचित् नित्य सिद्ध होती है। यह हेतु पृथ्वी आदि व्यक्ति विशेषों से व्यभिचरित नहीं हो सकता क्योंकि वे क़ारण सहित हैं। उनमें यद्यपि सत्व पाया जाता है, पर अकारणत्व नहीं। किसी भी हेतु को व्यभिचरित तभी कहा जा सकता है, जब वह हेतु त्रैरूप्य पक्ष, सपक्ष, विपक्षव्यावृत्ति में न घटे। परन्तु प्रस्तुत हेतु तीनों रूपों में घटित हो जाता है। यथा चैतन्य शक्ति है, यह पक्ष है। पृथिव्यादि सामान्य हैं, यह सपक्ष है। अनित्य में इस हेतु का सद्भाव नहीं पाये जाने से विपक्ष व्यावृत्ति रूप तीसरा हेतु भी सुघटित हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि पिष्टोदक आदि मद्यांगों से मद शक्ति की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति होती है इसलिए सत् पूर्व से ही विद्यमान था। अतः प्राक्सत् रूप और सत् के अकारणत्व रूप जो हेतु है, उसमें व्यभिचार दोष आ जाता है। यह आशंका भी असंगत है। क्योंकि चेतन द्रव्य में ही मद शक्ति का स्वभाव पाया जाता है। अतः मदशक्ति के भी क़थंचित् नित्यत्व

की सिद्धि हो जाती है। सर्वथा अचेतन द्रव्यों में मद शक्ति का पाया जाना असम्भव है।

चेतन द्रव्य में ही मद शक्ति का स्वभावपना मानने पर यदि प्रतिपक्षी कहे कि मुक्तात्माओं में भी मदशक्ति पायी जानी चाहिए, परन्तु उनका यह कथन असंगत है, क्योंकि मुक्तात्माओं के मदशक्ति को उत्पन्न करने वाले कारण का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इसलिए मदशक्ति की तो बात ही नहीं उठती। मदशक्ति को उत्पन्न करने वाले दो कारण हो सकते हैं– प्रथम बहिरंग और द्वितीय अन्तरंग। मद्यादि का सेवन, मदशक्ति की उत्पत्ति एवं अभिव्यक्ति का बहिरंग कारण है और मोहनीय कर्म का उदय अन्तरंग कारण है। मुक्तात्माओं में बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों कारण नहीं पाये जाने के कारण मदशक्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति नहीं होती। यह आशंका भी निराधार है कि मदशक्ति की अनभिव्यक्ति सिद्ध हो जाने पर हेतु व्यभिचरित नहीं होता, फिर भी मद जनन शक्ति की अपेक्षा से हेतु व्यभिचरित हो ही जाता है। क्योंकि मद्यांगों के समागम होने पर भी मद जनन शक्ति अभिव्यक्त होती है। इसलिए सत् के अकारणत्व विद्यमान होने पर भी नित्यता नहीं मानी जा सकती। चार्वाक की इस शंका का परिहार करते हुए बताया गया है कि मदजननशक्ति मद्यांगों से अभिव्यक्त होती है, यह कथन अयुक्त है क्योंकि वह तो सुरा के अंगों का कार्य है। दूसरे पिष्टोदक आदि में प्रत्येक में मदजननशक्ति के सद्भाव के आवेदकों के प्रमाण का अभाव भी देखा जाता है। इसी प्रकार मोहोदय के निमित्त से जो केवल आत्मा में मदशक्ति मानकर व्यभिचार दोष का उद्भावन करते हैं, उनकी मान्यता भी इसी कथन से निरस्त हो जाती है। क्योंकि आत्मा में मदशक्ति मोह के उदय का कार्य है। बिना कारण के कार्य असम्भव है। इसलिए मोह के क्षीण हो जाने पर मदशक्ति रूप कार्य अपने कारण के अभाव में बिल्कुल समाप्त हो जाता है। इस प्रकार निरवद्य हेतु के सत् कारण के होने पर चैतन्यशक्ति में नित्यता सध जाने से परलोक और परलोकी आदि सभी सिद्ध हो जाते हैं तथा परलोक आदि को न मानने वाले चार्वाकों की 'सति चैतन्यशक्तिरभिव्यंजते' मान्यता का भी परिहार हो

जाता है। चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति सत् रूप न बनने के कारण उसको असत् रूप भी मानना ठीक नहीं है क्योंकि वह प्रतीति विरुद्ध दृष्टिगोचर होती है। किसी भी जगह सर्वथा असत् रूप में कोई पदार्थ दिखाई नहीं देता। उसको सर्वथा सत् या असत् मानने के अपेक्षा यदि कथंचित् सत् और असत् माना जाता है, तब उसमें कोई हानि नहीं है। क्योंकि जैन मत में द्रव्यार्थिक दृष्टि से चैतन्य शक्ति में कथंचित् सत् और पर्यायार्थिक दृष्टि से कथंचित् असत् माना गया है। इस तरह से पुद्गलों द्वारा कायाकार परिणत् कथंचित् सत् असत् रूप चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[3]

स्वभाववाद का समीक्षण

भूतों की विशिष्टता स्वभाव से मानने पर चार भूतों के अलावा पांचवे आत्मतत्व की भी सिद्धि स्वभाव से ही मान लेना चाहिए। चैतन्य, कायाकार परिणत भूतों का कार्य होने से उसकी उत्पत्ति स्वभाव से मानने पर उनमें उपादान कारण, सहकारि कारण और अन्य कारण सुघटित नहीं होते। यहां यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि पृथ्वी आदि भूतचतुष्क उस चैतन्य के उपादान कारण हैं या सहकारि कारण। उपादान कारण मानने पर चैतन्य के भूतान्विति का प्रसंग उपस्थित होता है। जिस प्रकार स्वर्ण के उपादान रहने पर कवच कुण्डलादि में उसका अन्वय चलता है, पृथ्वी आदि के उपादान कारण रहने पर शरीर पृथ्वी आदि से अन्वित पाया जाता है। उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतचतुष्क को चैतन्य का उपादान कारण मानने पर चैतन्य के भी भूतान्वित होने का प्रसंग आता है। प्रतिपक्षी का यह तर्क भी व्यर्थ है कि कहीं कहीं विना उपादान के भी व्यभिचार देखा जाता है। जैसे उपादान भूत प्रदीप से उत्पन्न कज्जल में प्रदीप का अन्वय नहीं पाया जाता। इसलिए उसमें व्यभिचार देखा जाता है। क्योंकि प्रदीपज्वाला, प्रदीपज्वाला की ही उपादान कारण है, कज्जल की नहीं कज्जल का तैल और वर्ति उपादान कारण हैं। तैल, प्रदीपकलिका को सहकारिकारण के रूप में प्राप्तकर, कज्जल रूप में परिणमित होकर ऊपर जाता हुआ प्राप्त होता है। यदि कोई कहे कि कज्जल तैल से अन्वित रूप वाला नहीं

दिखाई देता तो उसके लिए कहा गया है कि एक पुद्गल द्रव्य तैलरूपता को त्यागकर कज्जल रूपता को धारण करता हुआ प्रदीप के सहकारि कारण विशेष के होने से रूपादि अन्वित प्रतीति की सिद्धि हो जाती है। भूतचतुष्क को चैतन्य की उत्पत्ति में सहकारिमात्र कारण मानने से उपादान कारण की सिद्धि नहीं बनती। इसलिए उपादान कारण के ही समान सहकारिकारण भी निरर्थक है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, जो पृथिव्यादि भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति को सिद्ध करे।[4]

अर्थकामाचारवाद

चार्वाक भूतचतुष्क से बनी हुयी देहविशिष्ट चैतन्य के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। चार पुरुषार्थों में ये धर्म और मोक्ष को स्वीकार नहीं करते। उनका सम्पूर्ण पुरुषार्थ मात्र अर्थ और काम तक ही सीमित है। समन्तभद्र ने शिश्न और उदर की पूर्ति में ही सन्तुष्ट रहने वाले मतावलम्बियों के प्रति खेद व्यक्त किया है।[5]

बौद्धदर्शन समीक्षा

युक्त्यनुशासन में विभिन्न एकान्तवादों के समीक्षण के अन्तर्गत क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि बौद्ध सिद्धान्तों का समीक्षण किया गया है। पूर्व के अध्याय में इन दार्शनिक सिद्धान्तों का परिचय दिया जा चुका है। इसलिए यहां उनका संक्षिप्त परिचय देकर युक्त्यनुशासन के अनुसार समीक्षण प्रस्तुत करेंगे।

क्षणिकवाद

अभेदभेदात्मकमर्थतत्वं तव स्वतन्त्रान्यतरत्खपुष्पम्[6] के द्वारा युक्त्यनुशासन में एकान्तवादों की निरर्थकता की भूमिका बांधी गयी है। इसमें सर्वथा भेदवादियों के अन्तर्गत क्षणिकात्मवादियों की भी समीक्षा अन्तर्निहित है। स्वतन्त्र रूप से भी श्लोक संख्या 11 से 17 तक क्षणिकवाद का समीक्षण किया गया है।

गत अध्याय में बौद्धदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त क्षणिकवाद का विवेचन किया गया था। यह सिद्धान्त के रूप में बुद्ध के उत्तरकालीन दार्शनिकों की देन है। इसका प्रारम्भिक रूप जगत की अनित्यता के रूप में होता है। बाद में बौद्ध नैयायिकों ने इसके स्वरूप को जटिल बना दिया। समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थों में जो इसका समीक्षण किया है, वह बौद्धदर्शन के प्रारम्भिक अवस्था का है। फिर भी उनके समीक्षण से सभी का समीक्षण हो जाता है। उनके द्वारा युक्त्यनुशासन में क्षणिकात्मवाद का समीक्षण निम्न प्रकार किया गया है।[7]

1. प्रथम क्षण में नष्ट हुआ चित्त दूसरे क्षण में विद्यमान नहीं रहता।
2. क्षणिकात्मवाद में न तो दृष्ट हेतु है और न अदृष्ट हेतु। इसलिए वह प्रमाण के अभाव में प्रलाप मात्र है।
3. भिन्न सन्तान में वासना नहीं बन सकती।
4. निरन्वय क्षणों में कारण और कार्यभाव नहीं बनता, जिससे किसी से समानता नहीं की जा सकती। यही तर्क देवागमें भी उपस्थित किये गये हैं।
5. कार्य को सर्वथा असत् मानने पर आकाशपुष्प की तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। कोई भी असत् पदार्थ दोनों वादी प्रतिवादी को असिद्ध है।
6. सत् और असत् में कोई हेतु विद्यमान नहीं है। सत् को हेतु मानने पर सर्व व्यापकता तथा असत् को हेतु मानने पर विना कारण के कार्योत्पत्ति मानना पड़ेगी।
7. विनाश और उत्पत्ति को एक ही क्षणों में मानना भी सदोष है, क्योंकि सन्तान में भिन्न क्षणों का अभाव है।
8. पदार्थ को प्रलय स्वभाव रूप आकस्मिक मानने पर कृतकर्म के भोग का विनाश और अकृत कर्म के फल को भोगने का प्रसंग आता है। इसके साथ ही जो कर्म हैं, वे असंचेतित ठहरते हैं। इस प्रकार प्रलय स्वभाव रूप क्षणिक अवस्था में कोई मार्ग नहीं बनता और बधक भी कोई नहीं रहता।

9. पदार्थ के प्रलय स्वभाव रूप आकस्मिक मानने पर क्षणिक एक चित्त में स्थित बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते।
10. मिथ्या स्वभाव वाली संवृत्ति से बन्ध और मोक्ष की स्थिति मानने पर वह क्षणिक एक चित्त में उनकी व्यवस्था करने में समर्थ नहीं हो सकती तथा गौणमुख्य विधि के विना द्रष्टव्य नहीं है।
11. पदार्थों को क्षणिक मानने पर किसी भी प्रकार के सम्बन्ध स्थिर नहीं होते।
    - क. कोई मातृघाती नहीं बनता।
    - ख. कोई किसी का स्वपति नहीं बन सकता।
    - ग. न कोई किसी की स्वपत्नि बन सकती।
    - घ. दिये हुए धन का पुनर्ग्रहण नहीं हो सकता।
    - ङ. अधिगत किये अर्थ की स्मृति नहीं रह सकती।
    - च. क्त्वा प्रत्यय का जो अर्थ है उसकी सत्यता भी नहीं बनती।
    - छ. न कोई कुल बनता है और न कोई जाति स्थिर होती है।
12. शास्ता और शिष्य की विधि व्यवस्था नहीं बनती।
13. सम्बन्धों को विकल्प बुद्धि का परिणाम मानना उचित नहीं।
14. विकल्पबुद्धि मिथ्या होने पर निर्विकल्पक बुद्धि भी नहीं बनेगी।

समन्तभद्र द्वारा किये गये इस क्षणिकवाद के समीक्षण के आधार पर उनके उत्तरवर्ती टीकाकारों – अकलंक, विद्यानन्द, वसुनन्दि आदि आचार्यों ने बौद्धदर्शन के विकसित सिद्धान्तों का अपने ग्रन्थों में विस्तार से समीक्षण किया है।

विज्ञानवाद : संवेदनाद्वैत

समन्तभद्र ने विज्ञानवाद संवेदनाद्वैत का समीक्षण युक्त्यनुशासन की कारिका 18 से 25 तक किया है। उन्होंने उसके समीक्षण में अधोलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

1. यदि साध्य साधन की बुद्धि की बुद्धि का कोई अर्थ नहीं है तो विज्ञान मात्र की सिद्धि के लिए जो हेतु उपस्थित किये जाते हैं, उससे उसकी

सिद्धि कैसे हो सकती है, क्योंकि जब हेतु ही असिद्ध है तो उससे विज्ञप्तिमात्र रूप साध्य की सिद्धि कैसे बन सकती है।

2. यदि साध्य साधन की बुद्धि अर्थवती है तो उसमें व्यभिचार दोष आता है।
3. विज्ञानमात्रत्व को योगिगम्य मानने पर वह परवादियों को मान्य नहीं हो सकता।
4. विज्ञानमात्र तत्त्व स्वसंवेद्य नहीं हो सकता।
5. विज्ञानमात्र तत्त्व अकथनीय होने से वह सुषुप्ति अवस्था के समान है।
6. विज्ञानमात्र गूंगे पुरुष के समान आत्मवेद्य होने से प्रलापमात्र है तथा अवाच्य होने से यह कभी भी वाच्य नहीं हो सकता।
7. शास्ता के वचनों से शिष्य के वचनों में विभिन्नता होने के कारण वह दूसरा दुर्गमतम अन्धकार है।
8. श्रायस पथ नहीं बन सकता।
9. प्रत्यक्ष बुद्धि द्वारा अगम्य है।
10. उसको लिंगगम्य मानने पर वह अर्थगम्य नहीं बनता।
11. विषय के साथ वचन का योग नहीं बनता ।
12. जिस प्रकार रागादिक अविद्यारूपी अग्नि का दीपन वाक्य परमार्थ से शून्य है उसी प्रकार विमोक्षविद्यारूपी अमृत का शासन वाक्य भी परमार्थ से शून्य है।
13. अविद्या से विज्ञानाद्वैत विद्या की उत्पत्ति मानना अनभिज्ञता का मोह है।

युक्त्यनुशासन के टीकाकार विद्यानन्द ने बताया है कि किसी भी सिद्धान्त को दूसरों को बतलाने के लिए अनुमान का आश्रय लिया जाता है क्योंकि उसका प्रतिपादन स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से असम्भव है। विज्ञनाद्वैतवादी **'यत्प्रतिभासते तद्विज्ञानमात्रमेव यथा विज्ञानस्वरूपं प्रतिभासते'** इस

प्रकार का अनुमान करते हैं। यहां पर अनुमान साधन और विज्ञानमात्र साध्य है। इस प्रकार यदि वे साध्य साधन की बुद्धि को अनर्थक मानते हैं तो विज्ञानमात्र तत्त्व की सिद्धि में जो हेतु दिया गया है वह असिद्ध हो जाता है। साध्य साधन की बुद्धि को सार्थक मानने पर व्यभिचार दोष आता है। किसी भी हेतु के न बन सकने की स्थिति में यदि उसकी सिद्धि योगिगम्य मानी जाती है तो वह भी असिद्ध है क्योंकि उनके यहां जो यह माना जाता है कि संवेदनाद्वैततत्त्व योगियों की समाधि अवस्था में स्वतः की गति से प्रतिभासित होता है, वह अपने गृह की तरह है, चाहे उसको सत्य माना जाये या असत्य माना जाये, परन्तु वह दूसरों को कैसे सत्य हो सकता है। इससे कार्यकारण, ग्राह्य ग्राहक, वास्यवासक, साध्यसाधन, वाच्यवाचक, बाध्यबाधक आदि भाव रूप विकल्प भी नहीं बन सकते।[8]

विज्ञानमात्र को स्वसंवेद्य मानने में भी विद्यानन्द ने अनेक दोष बताये हैं, जो विस्तार से युक्त्यनुशासन की टीका में द्रष्टव्य हैं।

शून्यवाद समीक्षा

युक्त्यनुशासन में अभावैकान्त के अन्तर्गत शून्यवाद का समीक्षण किया गया है। उसमें बताया गया है कि परमार्थवृत्ति से तत्त्व अभावमात्र है। परमार्थवृत्ति सभी विशेषों से शून्य होने के कारण संवृत्ति रूप है। हेतु स्वभाव से विधीयमान बन्ध और मोक्ष संवृत्ति के ही विधेय हैं। इसलिए उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है।[9]

इसकी व्याख्या में विद्यानन्द ने बताया है कि परमार्थवृत्ति संवृत्ति रूप है और वह सर्वविशेषों से शून्य है। इसलिए शून्य रूप संवृत्ति को तात्त्विकी मानने पर शून्यज्ञान का ही प्रतिषेध होता है। इसका कारण पदार्थ सद्भाववादियों ने जिन सभी विशेषों का सद्भाव स्वीकार किया है, उन सभी विशेषों से रहित संवृत्ति है, जो अविद्या रूप में प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से बन्ध और मोक्ष भी सकल तात्त्विक विशेषताओं से शून्य अविद्या रूप संवृत्ति के समान अविद्यात्मक होंगे। जैसे विशेष संवृत हैं वैसे ही बन्ध और मोक्ष भी संवृत रूप ही होंगे क्योंकि संवृत रूप हेतु स्वभाव है। आत्मा और

आत्मीय के अभिनिवेश से तथा नैरात्म्य भावना के आभास से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था में क्या कोई विरोध नहीं आना चाहिए, अवश्य आना चाहिए।[10]

समन्तभद्र ने अभाव को निम्न प्रकार से व्यवस्थापित किया है।[11]

1. अभाव भी वस्तुधर्म है।
2. अभाव भाव की तरह भावान्तर है।
3. अभाव प्रमाण से जाना जाता है।
4. अभाव प्रमाण से व्यपदिष्ट किया जाता है।
5. अभाव वस्तु के अंग रूप में अवस्थित है।

आचार्य विद्यानन्द ने इसका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि –

अभाव भी वस्तुधर्म

बाह्य और आभ्यन्तर वस्तु के असम्भव होने पर उनका अभाव रूप शून्यता लक्षण सम्भव हो जाता है, अभाववादियों के इस मन्तव्य का खण्डन करते हुए विद्यानन्द ने बताया है कि वस्तुधर्म की उपलब्धि होने से अभाववादियों का यह शून्यता लक्षण सम्भव नहीं है, क्योंकि–

1. स्वधर्म के असम्भव होने पर किसी भी धर्म की प्रतीति नहीं होती।
2. अभाव को स्वरूप से सिद्ध मानने पर वस्तु धर्म सिद्ध हो जाता है।
3. किसी भी धर्म के अभाव होने पर यह अभाव धर्मान्तर होता है। इसलिए सभी प्रकार से वस्तु धर्म सिद्ध होता है।
4. अभाव की स्वरूप से सिद्धि नहीं मानने पर वह अभाव नहीं कहा जा सकता । क्योंकि अभाव के अभाव होने पर भाव का विधान होता है।

अभाव भाव की तरह भावान्तर

जैसे घट का जो अभाव है वह पृथ्वी का भाग है। इसलिए वह भावान्तर ही कहा जायेगा। वैसे ही धर्मी के अभाव होने पर वह भाव के समान् भावान्तर सिद्ध होता है। उसको सकल शक्ति से रहित लक्षण रूप तुच्छ नहीं मानना चाहिए।

अभाव प्रमाण से जाना जाता है

धर्म और धर्मी का अभाव विना प्रमाण के नहीं जाना जा सकता है, अन्यथा अभाव अव्यवस्थित होता है। यदि अभाव को किसी प्रमाण से जाना जाता है तो वह धर्म का अभाव है। तब वह स्वभाव की तरह वस्तु धर्म है। यदि धर्मी का अभाव है तब वह भाव की तरह भावान्तर है। अभाव प्रमाण से व्यवतिष्ठ किया जाता है

अभाव व्यपदेश को प्राप्त होता है क्योंकि उसका प्रतिपादन किया जाता है। इसलिए उसका वस्तुधर्म अथवा वस्त्वन्तर सिद्ध होता है, नहीं तो व्यपदेश की अनुपपत्ति आती है।

अभाव वस्तु व्यवस्था का अंग रूप है

अभाव घटादि वस्तु व्यवस्था का अंग है। यदि वह वस्तु व्यवस्था में अंग रूप नहीं होता तो उसकी परिकल्पना से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। घट में पटादि का अभाव है, इस प्रकार पटादि के परिहार से अभाव को घट की व्यवस्था के कारण रूप में परिकल्पित किया जाता है अन्यथा वस्तु में संकरदोष का प्रसंग आता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अभाव वस्तु व्यवस्था का अंग रूप है। इसलिए भाव के समान अभाव भी वस्तुधर्म सिद्ध होता है।

अन्यापोह की समीक्षा

युक्त्यनुशासन में बताया गया है कि आत्मान्तर के अभाव रूप समानता– अन्यापोह रूप सामान्य– अपने आश्रय रूप भेदों से हीन है। इसलिए वह वचन का विषय नहीं होती है। दूसरे यह कि सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वचन का विषय होती है, केवल सामान्य या केवल विशेष नहीं। अन्यापोह केवल सामान्य रूप है। इसलिए वह वचनगोचर नहीं होता। सामान्य और विशेष की एकता में या तो सामान्य का अभाव हो जायेगा या विशेष का।[12] इसको गौ के उदाहरण से समझा जा सकता है। गौ इस शब्द से गाय इस अर्थ का बोध नहीं होता किन्तु गाय से भिन्न अश्व आदि से उसकी व्यावृत्ति का ही बोध होता है। इसी का नाम अन्यव्यावृत्ति– अन्यापोह है, जो

सामान्य होता है। यह अन्यापोह अपने आश्रय रूप भेदों– विशेषों से हीन है। सामान्य नियत देश, नियत काल और नियत आकार से रहित है एवं विशेषों से भी असम्बन्धित– रहित है। ऐसी अवस्था में वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। द्रव्यादिकों में सामान्य की वृत्ति का अभाव होनेसे स्वाश्रयों से उसका भेद मानने पर भी वह प्रमेय नहीं हो सकता। कृत्स्न रूप विकल्प से एवं अंश रूप विकल्प से देशकाल एवं आकार से भिन्न व्यक्तियों में सामान्य की वृत्ति नहीं बनती है। अनन्त व्यक्तियों का आश्रय एक महासत्ता रूप सामान्य है। इस विषय का ग्राहक कोई प्रमाण भी नहीं है। नाना सतों का एक आत्मा भिन्न भिन्न द्रव्य, गुण और कर्म जिसके आश्रय हैं, ऐसा सामान्य माना जाता है– अनन्त समाश्रय वाला महासत्ता स्वरूप सामान्य नहीं है– किन्तु अपर सत्ता स्वरूप सामान्य अपने अपने भिन्न भिन्न द्रव्य गुण और कर्म रूप आत्मा में आश्रित हैं तो यहां प्रश्न उठता है कि सामान्य अपने व्यक्तियों से भिन्न है या अभिन्न, अद्विष्ठ अन्यत्व सामान्य और उसके आश्रय रूप व्यक्ति इन दोंनो में अनात्मा रहने पर कहां रहेगा, यदि सामान्य को अवस्तु रूप अन्यापोह रूप माना जाये और उसे अन्यत्व और अनन्यत्व रूप विकल्पों से रिक्त कहा जाये तो उसके अमेय होने पर भी प्रवृत्ति नहीं हो सकंती।

असत् आदि की व्यावृत्ति से हीन अन्वयमात्र से अथवा अन्वयहीन व्यावृत्तिमात्र से एवं अद्वितय– इन दोनों प्रकारों से हीन सन्मात्र प्रतिभास सत्ता रूप सामान्य रूप साध्य की सिद्धि नहीं होती है। यदि साध्य साधन भाव को बनाने के लिए असाध्य व्यावृत्ति से साध्य एवं असाधन व्यावृत्ति से साधन रूप अतद्व्युदासाभिनिवेशवाद स्वीकार किया जाये तो इसमें पराभ्युपेतार्थ के विरोधवाद का प्रसंग आता है। संवेदनाद्वैतवादियों की शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि जब साधन निःस्वभाव– सांवृत स्वरूप है तो उसके द्वारा तथाविध साध्य की प्रतिपत्ति बनती ही नहीं है।[13] इस प्रकार युक्त्यनुशासन में बौद्धदर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों का समीक्षण किया गया है तथा उनके मतों का स्याद्वाद पद्धति से समाधान दिया गया है।

न्यायवैशेषिक दर्शन समीक्षा

न्यायवैशेषिक दर्शन का चिन्तन भारतीय दर्शनों की परम्परा में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दर्शन के अनुसार निःश्रेयश की प्राप्ति के लिए सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान आवश्यक माना गया है। वैशेषिक दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म आदि सात पदार्थों को आवश्यक मानता है। इसके अन्तर्गत प्रमाण और प्रमाण के लिए आवश्यक सन्निकर्ष, सन्निकर्ष के संयोग समवाय आदि के छह प्रकार अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त दर्शनों का आप्तमीमांसा में व्यवस्थित समीक्षण किया गया है। समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन में उनका निम्न प्रकार समीक्षण किया है।

अनेकान्त शासन में जीवादिक समस्त पदार्थ द्रव्य पर्याय, भाव अभाव स्वरूप हैं। इनसे अतिरिक्त स्वतन्त्र द्रव्यमात्र अथवा पर्यायमात्र एवं परस्पर निरपेक्ष एकत्र तदुभय द्रव्य पर्याय मात्र भाव अभाव मात्र पदार्थ द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य आदि भाव रूप और प्रागभाव आदि अभाव रूप आकाश कुसुम जैसे हैं। समवाय सम्बन्ध को, अपने समवायियों में अन्य समवाय आदि सम्बन्ध से असम्बन्धित होने के कारण सम्बन्ध की हानि होने से समस्त सत् असत् रूप से कल्पित पदार्थों की प्रक्रिया का अभाव हो जाता है।[14]

वैशेषिकों का यह सिद्धान्त है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह पदार्थ सत् स्वरूप ही हैं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभाव अभाव स्वरूप हैं। जैन दृष्टिकोण से निरपेक्ष रूप में किसी भी पदार्थ की सत्ता स्वीकृत नहीं है। नित्य, अनित्य, एक, अनेक और भाव अभाव ये सब परस्पर सापेक्ष धर्म हैं, निरपेक्ष नहीं।[15] वैशेषिक परस्पर निरपेक्ष द्रव्य, गुण आदि पांच पदार्थों को समवाय सम्बन्ध से परस्पर में सम्बन्धित मानता है। परन्तु यहां युक्त्यनुशासन के टीकाकार ने यह प्रश्न किया कि परस्पर सर्वथा स्वतंत्र अवयव अवयवी आदि को सम्बन्धित कराने वाला समवाय अपने सम्बन्धियों में किस सम्बन्ध से सम्बन्धित करता है, सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन प्रकार के होते हैं– 1. समवाय 2. संयोग 3.

विशेषण विशेष्य। यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि समवायियों में अपने आप को मिलाने के लिए समवाय दूसरे समवायान्तर की अपेक्षा रखता है तब भी सन्देह का निवारण नही होता क्योंकि उनके यहां एक ही समवाय माना गया है, जिससे अनेकता आने से स्वसिद्धान्त का हनन होता है। समवायान्तर मानने पर अनवस्था दोष आता है। संयोग सम्बन्ध से, समवाय अपने समवायियों से मिला नहीं सकता कयोंकि संयोग सम्बन्ध गुण हैं और गुण में दूसरे गुण रहते नहीं हैं। यदि सम्बन्ध करा देता है तो स्वयं समवाय को भी मिलना पड़ेगा, जिससे अन्य गुणों के साथ मिलने से गुणत्व का अभाव हो जायेगा। विशेषण विशेष्य भाव वैशेषिकों ने समवाय और समवायियों को ही माना है। इस अपेक्षा से समवाय सम्बन्ध, विशेषण विशेष्य समवायियों से सम्बन्धित रह सकता है, परन्तु जब भिन्न गुण गुणी को वह जैसे मिला देता है, उसी तरह वह भी वैसे ही मिला देगा, तब इसको मिलाने के लिए अन्य की जरुरत पड़ेगी जिससे यहां अनवस्था दोष उपस्थित होता है। इस दोष को दूर करने के लिए यह कहा जाये कि बिना किसी सम्बन्ध के स्वतः रहता है तब उसमें सभी की हानि होती है।[16] अतः पदार्थ किसी अपेक्षा से भाव स्वरूप और किसी अपेक्षा से अभाव स्वरूप है, परस्पर सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं।

सांख्ययोग दर्शन समीक्षा

युक्त्यनुशासन में भावैकान्त और नित्यत्वैकान्त के अन्तर्गत सांख्य और योग का समीक्षण किया गया है। जैसा कि विगत अध्याय में स्पष्ट किया गया था कि सांख्य और योग समान विद्या के प्रतिपादक दर्शन हैं। उनके अनुसार दुःखों की निवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है। इनके यहां तत्त्व पच्चीस माने गये हैं। प्रकृति जड़ है, चेतन पुरुष निष्क्रिय आदि रूप में तत्त्व केवल भावरूप हैं, अभाव का कोई अस्तित्व नहीं।

युक्त्यनुशासन के अनुसार पदार्थों को सर्वथा नित्य मानने पर उनमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं हो सकता है। विकार के अभाव में कर्ता आदि कारकों का व्यापार नहीं बन सकता, कारक व्यापार के अभाव में कार्य नहीं बन सकता और कार्य के अभाव में युक्ति घटित नहीं हो सकती।

युक्ति के अभाव में बन्ध तथा मोक्ष दोनों नहीं बन सकते और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है।[17] नित्य रूप से मान्य आत्मादि पदार्थों में यदि स्वभाव से ही विकार को माना जाता है अर्थात् निर्हेतुक माना जाता है तो वहां क्रिया और कारक को विभ्रम रूप स्वीकार करना पड़ेगा। इससे वादान्तर का प्रसंग उपस्थित होता है। परन्तु सर्वथा नित्यवादियों के यहां विभ्रमैकान्त रूप वादान्तर भी सिद्ध नहीं होता।[18]

उपर्युक्त की व्याख्या में विद्यानन्द ने बताया है कि सांख्य के निरतिशय अपरिणामी पुरुष के लिए प्रकृति का विक्रिया में प्रवृत्ति करना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि सर्वथा नित्य पक्ष में विक्रिया नहीं बन सकती। यहां प्रश्न उठता है कि सांख्य के प्रधान के विकार महदादि पुरुषार्थ को करते हुए पुरुष का उपकार करते हैं अथवा नहीं। यदि उपकार करते हैं तो वे पुरुष के अर्थान्तर रूप हैं, अतः यह तो उपकार किया ही माना जायेगा और यदि अनर्थान्तर रूप है तो प्रकृति के विकार द्वारा सम्पादित पुरुषार्थ पुरुष के लिए किया गया सिद्ध नहीं होता है। यदि प्रकृतिकृत विकार के उपकार से पुरुष का उपकार होना ही माना जाता है तो उपकारान्तर का प्रसंग आने से अनवस्था दोष आता है। यह कथन भी अयुक्त है कि पुरुष के उदासीन होने के कारण उसके द्वारा प्रकृति के महदादि विकारों का निरीक्षण मात्र ही उसका उपकार है, क्योंकि जब पुरुष उदासीन है तो पुरुष के भोक्तृत्व में विरोध आता है और उसका दृश्य भोग भी नहीं बनता।[19]

इस सम्बन्ध में समन्तभद्र का यह विचार द्रष्टव्य है कि पदार्थ के कालान्तरस्थायी होने पर चाहे वह अनित्य हो, भिन्न हो या अनिर्वचनीय हो, कर्ता और कार्य दोनो भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थ के सर्वथा क्षणिक अथवा ध्रुव होने पर नहीं बनते, क्योंकि तब विकार की निवृत्ति होती है।[20]

चितिशक्ति अपरिणामिनी नहीं

आत्मा में अदर्शित विषय का त्याग और दर्शित विषय होने से विषय का ग्रहण रूप क्रियायें पायीं जाती हैं। इसलिए आत्मा परिणमनशील है तथा उसकी स्वरूपतः स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

चितिशक्ति अप्रतिसंकमा नहीं

पुरुष के दर्शित विषय हो जाने पर उसमें प्रतिसंक्रमण हो जाता है। सांख्य का यह कहना अयुक्त है कि बुद्धि का ही संकम होता है, पुरुष का नहीं अन्यथा बुद्धि भी अप्रतिसंकमा हो जायेगी। बुद्धि का विषय के साथ प्रतिसंकम माना ही गया है। इस प्रकार सांख्ययोग बुद्धि के द्वारा अवसीयमान, निश्चीयमान विषय के प्रतिसंकम होने पर बुद्धि का अप्रतिसंकम नहीं मानते हैं तो बुद्धि के प्रति दर्शन के द्वारा बुद्धि के विषय को देखते हुए पुरुष भी कैसे अप्रतिसंकमण वाला कहा जा सकता है।

चितिशक्ति दर्शित विषय नहीं

पुरुष दर्शित विषय वाला भी नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार बुद्धि प्रत्येक विषय को देखती हुई संकमित होती है उसी प्रकार पुरुष भी बुद्धि को देखता हुआ संकमित होता है अन्यथा कम से पुरुष दर्शित विषय वाला कैसे हो सकता है।

चितिशक्ति को अनन्त ही मानना अयुक्त

पुरुष को शुद्ध, अप्रतिसंकमण स्वरूप के साथ अनन्त मानना भी अयुक्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रकृति के भी अनन्त होने के कारण वह व्यभिचरित हो जाता है। यदि सान्त माना जायेगा तो नित्यत्व से विरोध होता है। सांख्य का यह भी कहना असंगत है कि प्रकृति में महदादि विकार परिणाम पाये जाने से प्रकृति प्रतिसंकम स्वभाव वाली है तथा पुरुष में प्रकृति के समान परिणाम नहीं पाये जाने से वह अप्रतिसंकम स्वरूप वाला है, क्योंकि पुरुष के भी दृश्य के दर्शन रूप परिणाम सिद्ध होता है। इसलिए सांख्ययोग का यह हेतु 'चितिशक्तिः अप्रतिसंकमा परिणामरहितत्वे सति अनन्तत्वात्' असिद्ध हो जाता है। इसलिए तत्त्व अभेदभेदात्मक है।[21]

पूर्वमीमांसा समीक्षण

समन्तभद्र के द्वारा युक्त्यनुशासन में श्लोक संख्या 37 से 39 तक जो दीक्षासममुक्ति मानने वाले और हिंसाभ्युदयवादियों का समीक्षण किया गया

है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्हें मीमांसकों का समीक्षण करना अभीष्ट रहा है। विद्यानन्द ने इन पदों का अर्थ स्पष्ट रूप में मीमांसक किया है। इसके अतिरिक्त आप्तमीमांसा कारिका 3, 9, 76 के माध्यम से टीकाकारों ने अपने ग्रन्थों में पूर्वमीमांसा की विशद समीक्षा की है। युक्त्यनुशासन में लिखा है कि स्वभाव से ही जगत की स्वछन्दवृत्ति होने के कारण ऊंचे अनाचार मार्गों में कोई दोष नहीं है– इस प्रकार उद्घोषणा करते हुए जो दीक्षा के समकाल में ही मुक्ति को मानते हैं, वे अर्हन्त की दृष्टि से बाह्य होने के कारण भ्रमित हो रहे हैं।[22] जो व्यक्ति शम और तुष्टि से रिक्त हैं और प्रवृत्ति– हिंसा आदि पापों में संलग्न हैं, उनके द्वारा प्रवृत्ति को स्वयं ग्रहण करके, हिंसा अभ्युदय के हेतु की आधारभूत है और प्रवृत्ति से शान्ति होती है, इस प्रकार की उनकी मान्यतायें घोर अन्धकार के समान हैं।[23] जीवात्मा के दुःख के निमित्त भूत शीर्षोपहारादिक के द्वारा देवों की आराधना करके वही लोग सिद्ध होते हैं, जो दोषों के अपचय की अपेक्षा नहीं रखते और सुखाभिगृद्ध हैं।[24]

युक्त्यनुशासन में प्रतिपादित उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि इसमें प्रमुख रूप से कर्मकाण्ड के नाम पर हिंसा और दुष्प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वाले सम्प्रदाओं का खण्डन किया गया है। व्याख्याकारों ने इसे मीमांसकों का मत मानकर समीक्षण किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मीमांसकों के यज्ञ याज्ञादि का प्रत्यक्ष प्रायोगिक रूप सभी के सामने था। इसलिए मीमांसकों की इस मान्यता का, विशेषतः उनके द्वारा ग्रहण कर ली गयीं लोक विरुद्ध या प्राणियों के दुःख जनक प्रवृत्तियों का अवैदिक दर्शनों में घोर विरोध हुआ।

आचार्य विद्यानन्द ने 'दीक्षासममुक्तिमानाः' पद को दो अर्थों में ग्रहण किया है। प्रथम मन्त्रवादी, जो मन्त्र– दीक्षा के समकाल में ही अपने को मुक्त समझकर बड़े से बड़े अनाचार मार्ग को भी खराब नहीं समझते थे। दूसरे अर्थ में मीमांसकों को लिया गया है। जिसमें उन्होंने मीमांसक सम्मत कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मीमांसक अनन्त ज्ञानादि रूप मुक्ति का होना तथा यम नियमादि रूप दीक्षा को स्वीकार नहीं करते

हैं। इसलिए वे जगत को स्वछन्दवृत्ति वाला मानकर मांस भक्षण, मदिरा पान आदि अनाचार मार्गों में दोष नहीं देखते हुए वेद विहित पशु बधादि को भी निर्दोष बतलाते हैं तथा दूसरी ओर वेद बाह्य ब्रह्म इत्यादि को दोषपूर्ण भी कहते हैं। विद्यानन्द ने लिखा है कि हिंसा, मदिरापान आदि जितने भी अनाचार मार्ग हैं, वे चाहे आगम विहित हों या अनागम विहित, सभी खारपाटिकों की तरह सदोष हैं। बकरे आदि के शिर की बलि चढ़ाना, गुग्गुल धारण करना, मकर को भोजन कराना, पर्वत पर से गिरना आदि जो शीर्षोपहारादिक कृत्य जीवात्माओं के दुःख के निमित्तभूत हैं, उनके द्वारा यक्ष, महेश्वरादि की आराधना कर वही सिद्ध होते हैं, जिनको दोषों के विनाश की कोई अपेक्षा नहीं है।[25]

वेदान्तदर्शन समीक्षण

युक्त्यनुशासन में आप्तमीमांसा की तरह वेदान्त के सिद्धान्तों का नाम लेकर खण्डन तो नहीं किया गया है, पर सर्वथा अभेदवाद, सर्वथा नित्यवाद और विद्या अविद्या के प्रसंग में उनका समीक्षण स्वतः ही हो जाता है। ग्रन्थ के 'सर्वनिषेधगम्यम्' इस वाक्य से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को 'परब्रह्म' समीक्षण करना अभीष्ट रहा।

युक्त्यनुशासन में बताया गया है कि सत्व सर्वथा न सत् स्वरूप ही प्रतीत होता है और न असत् स्वरूप ही। परस्पर निरपेक्ष सत्, असत्, उभय, एक, अनेक आदि धर्मों के प्रतिषेध से गम्य आत्मान्तर रूप तत्व भी नहीं दिखाई देता। किन्तु उपाधि विवक्षा के भेद से अनेक धर्मों से मिश्रित हुआ तत्व ही प्रतीति का विषय देखा गया है। इसलिए अर्हन्त जिन से भिन्न एकान्तवादियों द्वारा स्वीकृत तत्व स्वप्न में भी प्रतीति का विषय नहीं होता है।[26]

ब्रह्माद्वैतवादियों के अनुसार न वस्तु सत् एक रूप है और न असत् एकान्त रूप है, किन्तु इन समस्त धर्मों से शून्य एक परब्रह्मस्वरूप है।

आप्तमीमांसा और अन्य भारतीय दर्शन के समीक्षण के अन्तर्गत पूर्व में विस्तृत रूप से यह स्पष्ट किया गया था कि सत्ताद्वैत तत्व का अस्तित्व

नहीं है, क्योंकि इसकी एकान्त मान्यता में सकल विशेषणों का अभाव हो जाता है। घट की सत्ता, पट की सत्ता आदि अवान्तर सत्ता रूप विशेषणों का अस्तित्व परमसत्ताद्वैत में बन नही सकता। यह भी प्रतीत नहीं होता कि परमसत्ताद्वैत रूप तत्व इन अपने विशेष रूप विशेषणों से रिक्त है। जिस प्रकार सर्वथा असत् तत्व दृष्टि गोचर नहीं होता है उसी प्रकार एकान्त रूप से मान्य सन्मात्र तत्व अथवा अतन्मात्र तत्व भी प्रमाण प्रतिपन्न नहीं होता है। तत्त्व का यह स्वभाव है कि वह स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से कथचित् सत् और परद्रव्यादि की अपेक्षा से कथंचित् असत् स्वरूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार कमार्पित उभय की विवक्षा में, उनमें परस्पर सापेक्ष सदासदात्मकता दृष्ट होती है।[27]

इस प्रकार युक्त्यनुशासन और अन्य भारतीय दर्शन नामक इस अध्याय में, संक्षेप में समन्तभद्र के एकान्तवादों के समीक्षण का अध्ययन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों की विचारधाराओं के अन्तर्गत किया गया है। इसमें यह ध्यान रखा गया है कि एकान्तवादों के समीक्षण में जो तर्क आप्तमीमांसा के दार्शनिक अनुशीलन के समय उपस्थित किये गये हैं, उनकी पुनरावृत्ति न हो, यदि कहीं पर पुनरावृत्ति भी हुई है तो वह अत्यन्त आवश्यक होने के कारण हुई है।

सन्दर्भ

1. युक्त्य0 35, 36
2. युक्त्य0 टीका, 35
3. वहीं, 35
4. वहीं, 36
5. युक्त्य0 35, 36
6. युक्त्य0 7
7. वहीं, 11–18
8. युक्त्य0 टीका, 18
9. वहीं, 25
10. वहीं, 25
11. वहीं, 59
12. युक्त्य0 54
13. युक्त्य0 टीका, 54–50
14. युक्त्य0 7
15. वहीं, 7
16. वहीं, 7
17. युक्त्य0 8
18. वहीं, 9
19. युक्त्य0 टीका, 8
20. युक्त्य0 34
21. युक्त्य0 टीका, 8
22. युक्त्य0 37
23. वहीं, 38
24. वहीं, 39
25. वहीं, 39
26. युक्त्य0 32
27. वहीं, 32

उपसंहार

आचार्य समन्तभद्र का व्यक्तित्व एवं कृतित्व, विषय पर प्रस्तुत किये गये विगत पांच अध्यायों से ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं कि समन्तभद्र एक अदम्य तार्किक, उच्चकोटि के दार्शनिक, ऋद्धिधारी, परमतपस्वी, सर्वोदयी, कविश्रेष्ठ और समन्वयवादी चिन्तक मनीषी थे। शिलालेख आदि विभिन्न सन्दर्भों में उनका नाम विशिष्ट गौरव के साथ लिया गया है। उन सन्दर्भों में उन्हें स्वामी, यति, देव, वनवासी, आद्यस्तुतिकार, मुनि, योगी, कविपरमेष्ठी, तार्किक, चकचूड़ामणि,वाग्मी, परमात्मा, महावादी, स्याद्वादमार्ग्राग्रणी आदि विशिष्ट पदों से विभूषित किया गया हैं। द्राविण आदि जिन गण संघों आदि की परम्परा में समन्तभद्र का होना बताया गया है, वे दक्षिण भारत में ही प्रचलित रहे हैं। नाम के साथ स्वामी शब्द का प्रयोग भी सामान्य रूप से दक्षिण भारत में ही पाया जाता है। इसलिए सभी साक्ष्यों से यह निःसन्देह रूप से पुष्टि होती है कि समन्तभद्र का जन्मस्थान दक्षिण भारत में ही कहीं रहा होगा। उनके स्तुति ग्रन्थ जिनशतक को छोड़कर अन्य कोई ऐसा सन्दर्भ दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जिससे समन्तभद्र का नाम शान्तिवर्मा सूचित हो। आप्तमीमांसा की पाण्डुलिपियों में प्राप्त होने वाले उरगपुर का सन्दर्भ विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें उनके जन्मस्थान और कुल की सूचना मिलती है, परन्तु इस सन्दर्भ की पुष्टि कथाओं से नहीं होती। कथाओं में उनका जन्मस्थान उत्वलिका ग्राम में होना बताया गया है। कथाओं में भस्मक व्याधि आदि होने के सन्दर्भों की पुष्टि भी अन्य किसी स्रोतों से नहीं होती। समन्तभद्र के समय के वारे में भले ही निश्चित कुछ न कहा जा सके, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे पूज्यपाद से पूर्व हुए थे तथा उन्होंने जैन चिन्तन को ही नहीं प्रत्युत समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित किया।

समन्तभद्र द्वारा रची गयीं ग्यारह कृतियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, पर वर्तमान में आप्तमीमांसा आदि पांच कृतियां ही उपलब्ध होती हैं, जिनके परिमाण आदि के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है।

भारतीय वाङ्मय में समस्त स्तोत्र साहित्य वैदिक और श्रमण इन दो रूपों में उपलब्ध होता है। श्रमण परम्परा के स्तोत्रों का उद्‌गम जैन आगम साहित्य में देखा जा सकता है। 'जयतिहुअण', 'तित्थयरशुद्धि' आदि शताधिक स्तोत्र विशेषकर दिगम्बर परम्परा में उपलब्ध होते हैं। जैन स्तोत्र रचना के प्रमुख आधार तीर्थंकर– वर्णन, स्तवन, धर्म, दर्शन, न्याय, सिद्धान्त, नीति, समाज, आचार आदि के निरूपण, भक्तिप्राधान्य और साहित्यिक विकाश आदि रहे हैं। स्तोत्रों की प्रमुख भाषा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश रही है। समन्तभद्र के स्तुति लक्षण के अनुसार रत्नकरण्डश्रावकाचार को छोड़कर उनकी सभी कृतियां स्तोत्र या स्तुतियां हैं। जिनमें स्वयम्भूस्तोत्र और स्तुतिविद्या भक्तिपरक साहित्यिक विशेशताओं से ओतप्रोत एवं काव्यमूल्यों की दृष्टि से पूर्ण स्तोत्र माने गये हैं।

स्वयम्भूस्तोत्र समन्तभद्र की एक अनुपम रचना है, जिसमें पुराण, इतिहास, दर्शन एवं न्याय के जटिल विषयों को स्तुति के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ के पौराणिक सन्दर्भ बाद के पुराणकारों के लिए आधार स्तभ बनें।

समन्तभद्र के काव्य भक्तिपरक होते हुए भी उनके काव्यों में काव्य वैभव स्पष्ट झलकता है। स्वयम्भूस्तोत्र में जहां शब्दालंकार और अर्थालंकार की छटा द्रष्टव्य है, वहीं स्तुतिविद्या में चित्रालंकार की योजना आचार्य की अप्रतिम काव्य कौशल का प्रतीक है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि संस्कृत साहित्य के इतिहास में समन्तभद्र चित्रालंकार के जनक थे। समन्तभद्र के इन काव्यों के मुक्तकों में उपमानों, शब्दपरिच्छित्तियों एवं शब्दसंकेतों द्वारा पौराणिक आख्यानों को उपस्थित कर प्रबन्धात्मकता का समावेश किया गया है।

विभिन्न साक्ष्यों और प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार समन्तभद्र कृत ही है तथा इसमें एक सौ पचास ही श्लोक हैं। इस ग्रन्थ में सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म का प्रतिपादन श्रावकों के लिए किया गया है। धर्म के इन तीनों अंगों का पौराणिक कथानकों के उदाहरणों और उनकी चारित्र मीमांसा के साथ

विवेचन किया गया है। इसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, मूलगुण, सल्लेखना, प्रतिमाओं आदि का जो प्रतिपादन किया गया है, वैसा ही अत्यल्प अन्तर के साथ परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है।

शोध प्रबन्ध का चौथा और पांचवां अध्याय आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन के दार्शनिक अनुशीलन से सम्बन्धित हैं। इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर के जो विचार समन्तभद्र से पूर्व आचार्यों ने निबद्ध किये थे, उनको समन्तभद्र ने प्रमाणशास्त्रीय व्यवस्था और प्रतिष्ठा देने का कार्य किया। इस कार्य के लिए उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रमाणशास्त्रीय पद्धति पर वर्गीकरण और विश्लेषण भी किया। उन्होंने अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभंगी, प्रमाण और नय की जो व्याख्या प्रतिष्ठापित की, वह परवर्ती दार्शनिकों के लिए पथप्रदर्शक बनी।

समन्तभद्र के सामने मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनी आदि की वह विचारधारा भी थी, जिसके आधार पर वे विद्वान् दूसरे दर्शनों के सिद्धान्तों का खण्डन और अपने सिद्धान्तों का मण्डन किया करते थे। तर्क और युक्तियों से सभी अपने ही उपास्य को आप्त या सर्वज्ञ सिद्ध करने में लगे हुए थे। उस समय तत्त्व की चर्चा सद्‌वाद असद्‌वाद, शाश्वतवाद अशाश्वत् वाद, अद्वैतवाद द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद वक्तव्यवाद इन चार विरोधी युगलों को लेकर हुआ करती थी। सभी किसी एक कोटि को ही अपने इष्ट मत के रूप में मानने का आग्रह करते थे। समन्तभद्र को जब यह अनुभव हुआ कि परीक्षा, तर्क और न्याय के विना आप्त का स्वरूप और तत्त्व का वास्तविक रूप स्थिर नहीं हो सकता, तब जैनदर्शन के इतिहास में उन्होंने सर्वप्रथम पूर्व परम्परा से चले आये निर्दोष, सर्वज्ञ और आगमेशि आप्त के स्वरूप का सर्व प्रथम अनुमान प्रयोग कर परीक्षण किया तथा बताया कि जिनके वचनों में किसी भी प्रकार का विरोध न पाया जाये, वह आप्त है। अनेकान्त मत में कहीं विरोध नहीं पाया जाता। इसलिए इस मत के प्रतिपादक आप्त हैं। इस समन्वयमूलक अनेकान्तात्मक भावना को केन्द्र विन्दु बनाकर समन्तभद्र ने इसके वास्तविक स्वरूप का दार्शनिक दृष्टि से प्रतिपादन किया है। उन्होंने बताया है कि तत्त्व चार कोटियों में ही पूर्ण नहीं

होता अपितु उसकी पूर्णता सात कोटियों में होती है और अनन्त धर्मों की अपेक्षा से प्रत्येक धर्म को लेकर अनन्त सप्तभंगियां बन सकती हैं। जितने भी विकल्प अर्थभेद हो सकते हैं, वे सभी स्यात् शब्द से नेय सात विकल्पों में सन्निहित हैं। वक्ता या ज्ञाता के अभिप्राय के अनुसार ही इनमें मुख्य और गौण की विवक्षा की जाती है। उनके इस प्रतिपादन से सप्तभंग के अतिरिक्त भंग के नहीं मानने का भी समाधान हो जाता है।

समन्तभद्र ने द्वैत अद्वैत आदि सांख्यिक, सत् असत् आदि देशिक, नित्य अनित्य आदि कालिक और दैवपुरुषार्थ, बन्ध मोक्ष आदि देशकालातीत कुल मिलाकर चालीस एकान्तों का प्रतिपादन कर उनमें आपत्तियां बतायीं और उनका अनेकान्त दृष्टि से समन्वयात्मक समाधान देकर एक नई व्यवस्था का प्रतिपादन किया तथा यह सिद्ध किया कि वस्तु अनन्तधर्म वाली होने से उसका स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है। एक वस्तु में अपेक्षा से दो विरोधि धर्म के रहने में आपत्ति नहीं है। वस्तु कथंचित् नित्य है, क्योंकि उसका प्रत्यभिज्ञान होता है तथा कथंचित् अनित्य भी है, क्योंकि उसमें कालभेद से परिणाम भेद पाया जाता है। इसी कथंचित्वाद या स्याद्वाद सिद्धान्त के आधार पर समन्तभद्र ने नय अथवा सप्तभंगी की समायोजना करके समग्र प्रमेयत्व, जीव अजीव, लोक परलोक, पुण्य पाप, दैवपुरुषार्थ आदि की व्यवस्था प्रदान की है।

तत्त्वज्ञान और स्वपरावभासी प्रमाण का लक्षण बताकर समन्तभद्र ने प्रमाण लक्षण की जो भूमिका बांध दी, उसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी जैनदार्शनिकों ने शब्दों के अल्प परिवर्तन के साथ ज्यों का त्यों अपनाया। उस समय समन्तभद्र के समक्ष जहां एक ओर ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में वर्गीकरण उपलब्ध था, वहीं दूसरी ओर अन्य परम्पराओं में प्रमाण के एक से लेकर अनेक प्रमाण मानने की परम्पराएं भी थीं। इस दोहरे दायित्व का उन्होंने अत्यन्त कुशलता से निर्वाह किया है। उन्होंने न तो प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में वर्गीकरण किया और न ही अनुमान आगम आदि के रूप में, प्रत्युत उन्होंने सर्वावभासक और क्रमभावी इस प्रकार के दो भेद करके उसमें सभी मान्यताओं का समावेश कर दिया। केवलज्ञान जिसे समन्तभद्र

ने युगपत् सर्वावभासक कहा उसे तो सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र माना किन्तु क्रमभावी ज्ञानों में तरतमता को स्वीकार किया।

आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन अनुशीलन के चतुर्थ एवं पंचम अध्याय के क्रमशः तृतीय परिच्छेद द्वितीय परिच्छेद में प्रस्तुत ग्रन्थों के सन्दर्भ में अन्य भारतीय दर्शनों का भी समीक्षण किया गया है। यद्यपि इन ग्रन्थों में भारतीय दर्शनों के विभाजन के अनुसार न तो षड्दर्शनों या अन्य प्रकार से विभाजन किया गया है और न हि किसी दार्शनिक सम्प्रदाय या प्रणेता का नाम लिया गया हैं, फिर भी उन्होंने एकान्त दृष्टियों के माध्यम से जिन सिद्धान्तों की समीक्षा की है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समन्तभद्र को विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के कौन कौन से सिद्धान्तों का समीक्षण करना अभीष्ट रहा है। इस पर्यालोचन में चार्वाक के भूतचैतन्यवाद, स्वभाववाद, कामाचारवाद, बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, न्यायवैशेषिक दर्शन के पृथक् पृथक् कार्य कारण, गुण गुणी, समवाय समवायी आदि सांख्ययोग के व्यक्ताव्यक्त तत्वों का सर्वथा नित्यवाद, पुरुष प्रकृति, सत्कार्यवाद आदि मीमांसादर्शन के कर्मकाण्ड आदि एवं वेदान्तदर्शन के अद्वैतवाद, ब्रह्म और माया आदि का समीक्षण किया गया है। इसमें बताया गया है कि नित्य अनित्य, द्वैत अद्वैत, भाव अभाव आदि एकान्तिक विचारधाराऐं अपनी एक सीमा तक ही सत्य हैं, सर्वथा नहीं, क्योंकि वस्तु का स्वरूप एकान्तिक न होकर अनेकान्तात्मक है। वस्तुतः परस्पर विरोधी धर्मों के एक साथ रहने में कोई आपत्ति नहीं। मात्र प्रयोजन के अनुसार उनमें मुख्य और गौण की व्यवस्था कर ली जाती है, जो स्याद्वाद और सप्तभंगी के द्वारा ही सम्भव है।

निःसन्देह समन्तभद्र को जैनन्याय का जन्मदाता माना जाना चाहिए, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम जैनन्याय से सम्बन्धित प्रमाण, नय, हेतु, अनुमान, आगम आदि की तार्किक व्याख्याएं करके संस्कृतभाषा में आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन जैसे सूत्रात्मक स्तुति ग्रन्थों का प्रणयन किया। अपने समूचे चिन्तन में उन्होंने कहीं पर भी तर्क के लिए तर्क अथवा छल, जाति, वितण्डा आदि के आधार पर वाद को पराजित करने का प्रयत्न नहीं किया।

उन्होंने सर्वत्र एकान्तिक मान्यताओं में त्रुटियां दिखाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र को भारतीय दर्शन का महान् समन्वयवादी दार्शनिक मनीषी स्वीकार किया जाना चाहिए।

रत्नत्रय

हर एक इन्सान को मालूम है
मिट्टी का जिस्म यह फानी है।
बनते, मिटते पुतलों की तरह
इसकी भी अजब कहानी है।

बाइल्म अमल बीनीई से
इसकी भी कीमत होती है।
सीपी की तरह इसमें रक्खा
जब 'रत्नत्रय' का मोती है।

शब्दसंकेत एवं सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक/ प्रकाशक और संस्करण
अ0ग्र0	अकलंकग्रन्थत्रयम्	अकलंक	म0कु0न्यायाचार्य, सिंघी जैनग्रन्थमाल अहमदाबाद, प्रथम संस्करण,सन्1939
–	अध्यर्द्धशतक	मातच्चेट	दि जर्नल ऑफ विहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च, सोसायटी, पटना, सन् 1939
अ0को0	अमरकोश	अमरसिंह	चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी सन् 1970
–	अमितगतिश्रावकाचार	पं0भागचन्द्र	श्री दि0 जैन पुस्तकालय सूरत, वी0नि0सं0 2484
अ0चि0	अलंकारचिन्तामणि	अजितसेन	अजितसेन, डॉ0नेमिचन्द्र जैन,भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1973
अ0पा0	अष्टपाहुड	कुन्दकुन्द	पन्नालाल,साहित्याचार्य,शा0दि0जैन सं0 श्रीशान्तिवीर नगर, वी0सं0 2494
अ0स0	अष्टसहस्री	विद्यानन्द	वंशीधर, ज्ञानचन्द्र नाथारंग, जी गांधी अकलूज, सोलापुर, 1915
–	अष्टसहस्रीतात्पर्यविव0	यशोविजय	जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद
आ0पु0	आदिपुराण	जिनसेन	पन्नालाल साहित्याचार्य,भारतीय ज्ञान-पीठ, काशी, 1963
आ0प0	आप्तपरीक्षा	विद्यानन्द	दरबारीलाल, कोठिया, वीरसेवा मन्दिर सरसावा, 1949
–	आप्तमीमांसा	तत्वदीपिका	उदयचन्द्र जैन, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी शोधसंस्थान, वाराणसी, 1975
आप्त0	आप्तमीमांसा (देवागम)	समन्तभद्र	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, 1967
–	आप्तमीमांसाभाष्य	अकलंक	समन्तभद्र ग्रन्थावली में संग्रहीत, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, 1989
आप्त0वृ0	आप्तमीमांसावृत्ति	वसुनन्दि	समन्तभद्र ग्रन्थावली में संग्रहीत, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1989
आ0सू0	आवश्यकसूत्र	मलयगिरि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई वि0सं01984
–	आराधनाकथाकोष	ब्रह्मनेमिदत्त	जैनमित्र कार्यालय बम्बई, सन् 1915
उपा0	उपासकाध्ययन	सोमदेवसूरि	कैलाशचन्द्रशास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1964
–	उपासगदसाओ	सुधर्माचार्य	छगनलाल शास्त्री, ब्यावर, 1980

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और संस्करण
क0को0	कथाकोश	प्रभाचन्द्र	आ0ने0 उपाध्ये, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, सन् 1974
–	कन्नड प्रान्तीय ग्रन्थसूची	ताड़पत्रीय	के0भुजवली शास्त्री, भारतीय ज्ञान–पीठ, काशी, 1948
क0का0	कल्याणकारक	उग्रदित्य	पं0वर्द्ध0पा0शास्त्री, शोलापुर, 1940
–	*कर्णाटककविचरिते*	*आर0एस0*	नरसिंहाचार्य, बंगलोर, सन् 1934
कार्ति0	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	कार्तिकेय	ए0एन0उपाध्ये, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
का0प्र0	काव्यप्रकाश	मम्मट	डॉ0सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1955
–	काव्यादर्श	दण्डी	कमलमणि ग्रन्थमाला, वानाणसी
किराता0	किरातार्जुनीयम्	भारवि	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, शाके1829
–	कुन्दकुन्दभारती	कुन्दकुन्द	पं0 पन्नालाल साहित्याचार्य श्रुत भं0 ग्रन्थ प्रका0समिति, फल्टन, 1970
ग0चि0	गद्यचिन्तामणि	वादीभसिंह	पं0 पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1968.
–	चतु:शतकम्	आर्यदेव	डॉ0 भागचन्द्र भाष्कर, आलोक प्रका0 नागपुर, 1971
चा0सा0	चारित्रसार	चामुण्डराय	मा0 दि0 जैन ग्रन्थ0 बम्बई.
–	चेइयवंदणमहाभासं	शान्तिसूरि	जैन आत्मानन्द महासभा, भावनगर वि0 सं0 1977
–	जिनसहस्रनाम	आशाधर	टी0श्रुतसागरसूरि भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1954
जिन0	जिनशतक	समन्तभद्र	नृसिंह व्याख्या सहित, स्याद्वाद, रत्नाकर कार्यालय, काशी,सन् 1912
–	जैनतर्कशास्त्र में अनुमान विचार	डॉ0द0ला0 कोठिया	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, 1969
–	जैनदर्शन	पं0म0कु0जैन	श्री गणेश वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी प्र0 सं0 1974
जै0सा0सिं0	जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहानलोन	पं0दलसुख मालवणिया	जैन सं0 सं0मण्डल बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, पत्रिका 21, सन् 1949
–	जैनधर्मदर्शन	डॉ0मो0मेहता	पा0वि0शोधसंस्थान,वाराणसी, 1973
–	जैनन्याय	पं0कै0च0शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन्1966
जैनप्र0प0	जैनदर्शन प्रमाणशास्त्र परिशीलन	डॉ0द0लाल कोठिया	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वारणसी सन् 1980

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक/ प्रकाशक और संस्करण
जैनसा0इ0	जैनसाहित्य का इतिहास(पूoपीo)	पं0कै0च0शास्त्री	श्री गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसी, वी0नि0सं0 2489
जैनशि0सं0	जैनशिलालेख संग्रह भाग– 1		हीरालाल जैन माणिकचन्द्र दि0जैन ग्रन्थ0हीराबाग, बम्बई सन् 1957
	जैनशिलालेख संग्रह भाग– 2		पं0विजयमूर्ति मा0ग्र0बम्बई, 1952
	जैनशिलालेख संग्रह भाग– 3		पं0विजयमूर्ति मा0ग्र0बम्बई, 1957
	जैनशिलालेख संग्रह भाग– 4		डॉ0वि0जोहरापुरकर, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, वी0 नि0 सं0 2491
	जैनशिलालेख संग्रह भाग– 5		डॉ0विद्याधर जोहरापुरकर, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1971
जै0महा0	जैनेन्द्रमहावृत्ति	अभयनन्दि	श0त्रिपाठी, भा0ज्ञानपीठ काशी 1956
जै0व्या0	जैनेन्द्र व्याकरण	देवनन्दि	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1956
–	ज्ञानविन्दु	यशोविजय	पं0सुखलाल, सिघीं ग्रन्थमाला अहमदाबाद, सन् 1942
–	ज्ञानार्णव	शुभचन्द	अनुवादक, पन्नालाल वाकलीवाल, श्रीमद् राजचन्द आश्रम, अगास, 1961
त0सूत्र	तत्त्वार्थसूत्र	गृद्धपिच्छ	पं0फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, श्रीगणेश वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी वीनि2476
त0वा0	तत्त्वार्थवार्तिक	अकलंक	पं0महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् 1953
त0श्लो0	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्द	पं0 म0ला0निर्णयसागर प्रेस,बम्बई1918
त0प0	तपागच्छपट्टावली	धर्मसागर	विजयनीति सू0 अहमदाबाद, 1940
ती0आ0प0	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्प	डॉ0नेमिचन्द	अ0भा0दि0विद्वत्परिषद, सागर 1974
द0चि0	दर्शन और चिन्तन	पं0सुखलाल	गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद 1957 –
–	दशभक्त्यादि संग्रह	–	पं0फूलचन्द्र शास्त्री, सेठ प्रेमचन्द्र सखाराव, वरामती(पुणे) वि0सं0 2462
दे0	देवागम (वृत्ति)	वसुनन्दि	पं0 गजाधर शास्त्री सनातन जैन ग्र0 वाराणसी, 1914
–	द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द	पं0मोहनलाल शास्त्री, सरल जैन ग्रन्थ माला, जबलपुर 1986
–	धर्मशर्माभ्युदय	हरिश्चन्द्र	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1888
नि0सार	नियमसार	कुन्दकुन्द	उग्रसेन, अजिताश्रम, लखनऊ 1931
न्यायदी0	न्यायदीपिका	अ0धर्मभूषण	वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, 1945
न्या0	न्यायावतार	सिद्धसेन	परमश्रुत प्र0 मण्डल, बम्बई, 1950

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक/ प्रकाशक और संस्करण
न्या०कु०	न्यायकुमुदचन्द	प्रभाचन्द	पं० महेन्द्रकुमार जैन, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् 1947
न्यायवि०	न्यायविनिश्चयटीका	वादिराजसूरि	पं०महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, 1949
–	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्द	पं० मनोहरलाल शास्त्री, परमश्रुत प्रभा० मण्डल, अगास, वि०सं02025
प०मु०	परीक्षामुख	माणिक्यनन्दि	पं०फूलचन्द बालचन्द्र शास्त्री, वाराणसी सन् 1928
प०पु०	पद्मपुराण	रविषेण	पं० पन्नालाल साहित्याचार्य भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1956
प०पं०	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	पद्मनन्दि	डॉ०ए०एन०उपाध्ये, हीरालाल जैन जीवराज ग्रन्थमाला,सोलापुर,1962
प०प्र०	परमात्प्रकाश	योगेन्दु	डॉ०ए०एन०उपाध्ये, परमश्रुत प्रभा० मण्डल, अगास, 1960
पण्डु०	पाण्डुलिपि	मूडविद्री, पूना,	श्रवणवेलगोल,कुम्भोज, आरा, आदि
पा०पु०	पाण्डवपुराण	शुभचन्द	पं०जि०पा०शास्त्री जैन संस्कृति सं० संघ, सोलापुर, सन् 1954
पा०च०	पार्श्वनाथचरित	वादिराजसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी,सन् 1949
पु०सि०	पुरुषार्थद्ध्युपाय	अमृतचन्द	परमश्रुत प्रभावक मण्डल,खाराकुंआ बम्बई चतुर्थ संस्करण, सन् 1953
प्र०प०	प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द	डॉ०दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, सन् 1977
प०मी०	प्रमाणमीमांसा	हेमचन्द	पं०सुखलाल संघवी, सिंघी जैन ग्र० अहमदाबाद, सन् 1939
प्र०वा०	प्रमाणवार्तिक	धर्मकीर्ति	बौद्धभारती, वाराणसी, सन् 1968
प्र०सार	प्रवचनसार	कुन्दकुन्द	डॉ०ए०एन०उपाध्ये, प०प्र०मण्डल श्रीमद् राजचन्द ग्रन्थ०,अगास,1964
–	प्रशस्तिसंग्रह	–	के०भुजवली शास्त्री, जैनसिद्धान्त भवन, आरा, सन् 1942
–	प्राकृतव्याकरण	हेमचन्द	पी०एल०वैद्य, मोतीलाल लाढ जी, पूना, सन् 1928
बौ०द०अ०	बौद्धदर्शन तथा अन्य	भरतसिंह	रायल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता
भा०द०	भारतीय दर्शन	उपाध्याय	संवत् 2011
–	बौद्धधर्म के विकास	गो०च०पाण्डेय	हिन्दी समिति, लखनऊ 1963
–	बौद्ध धर्म दर्शन	आ०नरेन्द्रदेव	विहार राष्ट्रभाषा प० पटना,1956

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक/ प्रकाशक और संस्करण
भा0द0	भारतीय दर्शन	ब0 उपाध्याय	चौखम्बा, वाराणसी, सन् 1976
–	भारतीय दर्शन	न0कि0देवराज	उ0प्र0हिन्दी अका0 लखनऊ1975
भा0सं0 जै0यो0	भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान	डॉ0हीरालाल जैन	मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् भोपाल, सन् 1962
म0शा0	मध्यमकशास्त्रम्	नागार्जुन	पी0एल0वैद्य मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, सन् 1960
–	मूलाचार	वट्टकेर	पं0गजाधरलाल माणिकचन्द्र दि0 जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् 1988
य0च0	यशस्तिलक चम्पू	सोमदेव	महावीर ग्रन्थमाला वाराणसी1960
युक्त्य0	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्र	पं0जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सन् 1951
–	युक्त्यनुशासन टीका	विद्यानन्द	पं0इन्द्रलाल वर्णीलाल, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, 1920
–	युक्त्यनुशासन हिन्दी अनुवाद	पं0मूलचन्द	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सांगानेर शास्त्री जयपुर, सन् 1967
–	योगशास्त्र	हेमचन्द	जैनधर्म प्र0संस्था भावनगर, 1926
रत्न0	रत्नकरण्डश्रावकाचार	समन्तभद्र	पं0जुगलकिशोर मुख्तार,माणिकचन्द दि0जैन ग्र0हीराबाग, बम्बई, 1925
र0क0	रत्नकरण्डश्रावकाचार	समन्तभद्र	पं0पन्नालाल साहित्याचार्य, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी, 1972
–	रघुवंश	कालिदास	चौखम्बा संस्कृत सी0वाराणसी1959
–	रसगंगाधर	पं0जगन्नाथ	पं0 मदन मोहन झा, चौखम्बा सी0 वाराणसी, 1970
रा0क0	राजावलिकथे	देवचन्द	मि0लेविस राईस के0इन्स0एट श्र0 इण्ट्रोडक्शन
लघी0	लघीयस्त्रय	अकलंक	डॉ0महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद 1939
ला0सं0	लाटीसंहिता	राजमल्ल	माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई 1984
व0च0	वरांगचरित	जटासिंहनन्दि	ए0एन0उपाध्ये माणिकचन्द दि0जैन ग्रन्थमाला बम्बई सन् 1938
–	वसुनन्दिश्रावकाचार	वसुनन्दि	पं0हीरालाल जैन भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् 1952
–	वाग्भटालंकार	वाग्भट्	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1916
वि0कौ0	विक्रान्तकौरव	हस्तिमल्ल	पं0पन्नालाल जैन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, सन् 1969

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और संस्करण
—	सांख्यकारिका	ईश्वरकृष्ण	डॉ0रमाशंकर त्रिपाठी, भदैनी वाराणसी, सन् 1970
वि0सि0	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि	वसुबन्धु	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1967
—	विंशिका-त्रिंशिका	वसुबन्धु	वा0सं0वि0विद्यालय वाराणसी
—	वैशेषिकसूत्र	कणाद	विद्या विलास प्रेस वाराणसी
स0प्र0	सन्मतिप्रकरण	सिद्धसेन	पं0सुखलाल संघवी,ज्ञानोदय ट्रस्ट अनेकान्त विहार अहमदाबाद 1963
स0अ0	समन्तभद्र अवदान	डॉ0एन0के0 जैन	स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, 3/359 न्यू विद्याधर नगर जयपुर सन्2001
स0सा0	समयसार	कुन्दकुन्द	अनु0मुनि विद्यानन्द, कुन्दकुन्द भारती राजपुर रोड दिल्ली
स0ध0	समीचीन धर्मशास्त्र	समन्तभद्र	पं0जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, ट्रस्ट, दिल्ली, सन् 1955
स0सं0	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1964
स0सि0	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	भारतीय ज्ञानपीठ काशी सन् 1935
सा0ध0	सागारधर्मामृत	आशाधर	अनु0पं0लालाराम जैन मू0कि0काप ड़िया, सूरत, वी0नि0सं0 2441
सा0द0	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ	निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1931
सि0सं0	सिद्धान्तसंग्रह	नरेन्द्रसेनाचार्य	पं0जिनदास फड़कुले,जैन संस्कृति संरक्षण संघ, सोलापुर सन् 1957
सि0वि0	सिद्धिविनिश्चय	अकलंक	अनन्तवीर्य टीका सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1959
—	सुभाषितरत्नसंदोह	अमितगति	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1959
स्तुति0	स्तुतिविद्या	समन्तभद्र	पं0पन्नालाल साहित्याचार्य, वीर सेवा मन्दिर सरसावा, 1951
स्वय0	स्वयम्भूस्तोत्र	समन्तभद्र	पं0 पन्नालाल साहित्याचार्य श्रीशा0 जैन संस्थान, महावीरजीवी0 2495
—	स्वामी समन्तभद्र	जु0कि0मुख्तार	जैन ग्रन्थ रत्नाकर हीराबाग, गिरगांव, बम्बई सन् 1925
शा0व्या0	शाकटायनव्याकरण	शाकटायन	भारतीय ज्ञानपीठ काशी,सन् 1971
—	शिशुपालवध	माघ	चौखम्बा सं0सी0 वाराणसी, 1985
शृं0च0	शृंगारार्णवचन्द्रिका	विजयवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ,कलकत्ता, 1969
ष0ख0	षट्खण्डागम	पुष्पदन्तभूतवली	ग्रन्थ प्रका0समिति, फलटन, 1965
ष0स0	षड्दर्शनसमुच्चय	हरिभद्रसूरि	भारतीय ज्ञानपीठ वराणसी, 1970

संकेताक्षर	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	सम्पादक / प्रकाशक और संस्करण
ह0पु0	हरिवंशपुराण	जिनसेन	पं0पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ काशी,1962
हे0वि0	हेतुविन्दु	भट्टा	
. र्चट	ओरियण्टल इन्स्टी0बड़ौदा,1949		

पत्रपत्रिकाएं

अनेकान्त : वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

जैन सन्देश : भा0 दि0 जैन संघ, मथुरा

जैन सिद्धान्त भास्कर : जैन सिद्धान्त भवन, आरा

जैन एण्टीक्वेरी : जैन सिद्धान्त भवन, आरा